UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186576

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 181.4 S24A Acc No. H 1890

Author : श्रेष्ठ माधवराव

Title : आत्म - विद्या

आत्म-विद्या

श्रीयुत हरि गणेश गोडबोले बी० ए० के
मराठी ग्रंथ का अनुवाद

अनुवादक,
श्रीयुत पं० माधवराव सप्रे बी० ए०

प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद

संस्करण] १९५१ [मूल्य ४)

प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद

Checked 1965

ECKED 1954

Checked 1959

मुद्रक
देवीप्रसाद
हिन्दी साहित्य प्रेस, इ

विषय-सूची

प्रथम भाग

विषय			पृष्ठ
१—वर्णाश्रम-प्रतिपालन	...	...	१
२—वेदान्त-शास्त्र का पुनरुज्जीवन और उपयोगिता		...	१०
३—पुनर्जन्म	...	...	२०
४—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण	...	...	३४

द्वितीय भाग

१—वैराग्य	...	...	६४
२—जगन्मिथ्यात्व	...	...	७६
३—मनोलय	...	...	६३
४—वासनोपशमन	...	...	१४२
५—आत्म-मनन	...	...	१४६
६—शुद्ध निरूपण	...	...	१५३
७—आत्मार्चन	...	...	१५६
८—आत्म-निरूपण	...	...	१६६
६—जीवन्मुक्ति	...	...	१७६
१०—निर्वाण	...	...	२१२

तृतीय भाग

१—ईश्वर-प्रणीत धर्मग्रन्थ	...	...	२४६
२—भारतीय आर्ष महाकाव्य	...	...	२७१
३—अमरत्व	...	...	२६६

आत्म-विद्या

प्रथम भाग

पहला प्रकरण

वर्णाश्रम-प्रतिपालन

एक साधु का वचन है "सांसारिक कार्य साध कर जो परमार्थ-लाभ करता है वह मनुष्य सचमुच ही प्रशंसनीय है" यह उक्ति हमारे परम पूज्य वैदिक धर्म-तत्त्वों के अनुकूल ही है। वैदिक धर्म ने जो वर्णाश्रम-व्यवस्था बतलाई है, उसके अनुसार चलते हुए अनेक सत्पुरुष सब सांसारिक कार्य करके अन्त में जीवन्मुक्त हो चुके हैं, आधुनिक काल में भी मुक्त होते हैं और भविष्य में भी होंगे। हाँ, इतना अवश्य है कि वैदिक धर्म पर असाधारण श्रद्धा रखकर उसके अनुसार शुद्ध आचरण रखना चाहिए। विधर्मी लोग सिर्फ ऊपर-ऊपर विचार करके बहुधा कहते रहते हैं कि वैदिक धर्म में एकरूपता (System) नहीं है; उसमें अनेक धर्म, नाना पंथ, नाना मत, सब की खिचड़ी हुई है। हममें से कितने ही अज्ञानी लोग भी अपने धर्म के विषय में कुछ भी खोज किये बिना, इन विधर्मियों का अनुसरण किया करते हैं; परंतु इसे सिवा अविचार के और क्या कह सकते हैं ? वैदिक धर्म पर यह आरोप कदापि नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि यह धर्म पूर्णता को पहुँच चुका है और आधुनिक संसार के सारे विचारों का लय अन्त में इसी धर्म में होगा। जब कोई प्रवासी हिमालय के समान अति उच्च और प्रचण्ड पर्वत पर अथवा किसी विस्तृत वन में संचार करता है, तब वह क्या देखता है कि वहाँ की सारी वस्तुएँ अनियमित और अव्यवस्थित रीति से फैली हुई हैं; और इसी कारण कदाचित् उस प्रवासी का मन वहाँ नहीं रमता है; परन्तु जब

कोई सुन्दर उपवन—जहाँ के पेड़-पौधे और लता-पल्लव आदि सुन्दर रीति से रक्खे जाते हैं और वनैली घास आदि निकाल कर स्वच्छता रक्खी जाती है—उसे देख पड़ता है, तब वहाँ उसका चित्त स्वस्थ हो जाता है और कुछ विश्रान्ति लेने की उसकी इच्छा होती है। उस मानवी प्राणी की ऐसी दशा होती है, केवल इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि उस विस्तृत वन अथवा घने वृक्षों से युक्त हिमाचल की अपेक्षा उस कृत्रिम उपवन की योग्यता अधिक है, क्योंकि उस वन अथवा पर्वत पर जो वनस्पतियाँ और वृक्ष होते हैं, उनमें कितनी ही दिव्य औषधियाँ और अनेक महान् उपयोगी वृक्ष होते हैं और उनकी उपयोगिता केवल बाहर से क्षणिक दृष्टि-सुख देनेवाले उस कृत्रिम उपवन के सुन्दर वृक्षों की अपेक्षा सौगुनी अधिक होती है। बात सिर्फ इतनी ही है कि उनकी उपयोगिता और योग्यता जाननेवाला मर्मज्ञ मिलना चाहिए। यही उदाहरण वैदिक धर्म और अन्य धर्मों की तुलना में भी लग सकता है और उस तुलना में बहुत बड़ा अन्तर देख पड़ने के बाद वैदिक धर्म का महत्त्व स्थापित हो जाता है। हमारा यह भारतवर्ष हजारों वर्ष पहले से वैभव-सम्पन्न हो चुका है। इसमें नाना प्रकार के लोग, अनेक तरह के पंथ और मत निर्माण हो जाने के कारण यह एक प्रकार का स्वतंत्र महाद्वीप ही बन गया है। इतने बड़े विस्तीर्ण महाद्वीप में जगत् के अन्य महाद्वीपों के देशों की तरह यदि भिन्न-भिन्न धर्म-पन्थ हो गये तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं और इस कथन में कोई तथ्यांश भी नहीं कि यह धर्म अनेक धर्म-पन्थों की खिचड़ी है, और इसी लिए इसमें कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। भारतवर्ष में जो अनेक धर्म-शाखाएँ हैं, उन सब में कुछ-न-कुछ सर्वमान्य भाग, तत्त्ववेत्ताओं को देख पड़ा है और मनन-पूर्वक उनके विचारों का अवगाहन करने से वैदिक धर्म का बड़प्पन देख पड़ेगा। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक धर्म-शाखा के गुण पहचानने की योग्यता मनुष्य में होनी चाहिए।

उपर्युक्त सिद्धान्त बिलकुल सत्य है और जो वैदिक धर्म के अनुसार चलनेवाला मुमुक्षु और श्रद्धावान् है, वह आधुनिक काल में भी चाहे

जितना सांसारिक कर्त्तव्य करके परमार्थ-साधन कर सकता है। यह बात स्पष्ट रीति से दिखलाने के लिए भावनगर-राज्य के स्वर्गीय दीवान गौरीशंकर उदयशंकर के निर्मल जीवन-चरित का आदर्श मानो एक बिल्लौरी दर्पण ही है। अतएव इस सम्बन्ध में पहले थोड़ा सा विचार करके फिर मुख्य विषय की ओर बढ़ेंगे।

गौरीशंकर एक बिलकुल गरीब ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने गृहस्थाश्रम में रहकर मनमाने सांसारिक कार्य किये। वे कार्य भी हमारे समान चार-पाँच मनुष्यों के अल्प कुटुम्ब अथवा एक ही गृहस्थी भर के नहीं थे; किन्तु लक्षावधि प्रजा और सारे भावनगर राज्य का सांसारिक पसारा—भव-प्रपंच—उन्होंने उठाया था और वहाँ के महाराजाओं की चार पीढ़ियों तक उन्होंने वह प्रपंच चलाया। सन् १८२१ में जब पेशवाओं की जगह अँगरेजों की सत्ता स्थापित हुई और गुजरात तथा काठियावाड़ के राजाओं से सुलह करने का मौका आया, तब उन सबमें गौरीशंकर का प्रधान अंग था। उनमें इतनी असामान्य राजनीतिज्ञता और इतना व्यवहार-चातुर्य भरा था कि माट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन, सर जान कालकम और सर बार्टल फ्रियर के समान सर्व-मान्य गवर्नर, राज्य के बड़े बड़े मामलों में भी पहले श्रीयुत गौरीशंकर की सलाह लिया करते थे। हैदराबाद के सर सालारजंग, ट्रावनकोर के सर टी० माधवराव, ग्वालियर के सर दिनकरराव के समान प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों में इनकी गणना थी। यही नहीं, किन्तु प्रोफेसर मेक्समूलर ने तो यहाँ तक कहा है कि ये इंग्लैण्ड के विख्यात राजनीतिज्ञ मि० ग्लैडस्टन अथवा जर्मनी के प्रिंस बिस्मार्क के ही जोड़ के राजनीतिज्ञ थे। यद्यपि यह सच है कि ग्लैडस्टन आदि ने बड़े-बड़े राष्ट्रों का भार उठाया था और इन्होंने एक छोटे से ही राज्य का प्रबन्ध किया था; तथापि राज्य-कार्य की जो कुशलता और जो व्यवहार-निपुणता ग्लैडस्टन और बिस्मार्क में थी, वही गौरीशंकर में भी थी। जो फर्क बड़ी घड़ी और छोटी जेबघड़ी में होता है, वही उनमें था। गौरीशंकर ने जिस समय भावनगर का राज-काज अपने हाथ में लिया, उस समय

चारों ओर अव्यवस्था थी; परन्तु थोड़े ही दिनों में इन्होंने अपने सुप्रबन्ध से वहाँ बड़ी बड़ी स्मरणीय हवेलियाँ खड़ी कर दीं; बड़े बड़े विद्या-मन्दिर स्थापित कर दिये; विस्तीर्ण जलाशय तैयार किये; धर्मार्थ दवा-खाने, तारयंत्र, डाकघर, हाइकोर्ट इत्यादि संस्थाएँ निर्माण कीं। इस प्रकार वहाँ की दशा में जमीन-आसमान का फर्क हो गया। काठियावाड़ के पोलिटिकल एजंट जनरल केटिंग ने भावनगर की पहले की निकृष्ट दशा देखी थी। पीछे से जब उन्होंने वहाँ की उन्नत दशा देखी, तब उन्हें यह भ्रम हुआ कि हमने जो भावनगर पहले देखा था वही यह है या यह नवीन रची हुई और ही कोई धनवान् नगरी है। तात्पर्य यह कि महाशय गौरीशंकर ने जो प्रपंच—सांसारिक कार्य—किये, वे बड़े सन्तोष-दायक हुए और सारे संसार में उनकी प्रशंसा हुई और इसका मुख्य कारण उनका स्पृहणीय व्यवहार-चातुर्य और अति निर्मल तथा सर्वोत्कृष्ट आचरण ही है।

यहाँ तक महाशय गौरीशंकर की व्यवहार-चतुरता और राजनीति-पटुता का दिग्दर्शन हुआ। उनकी धर्मश्रद्धा भी असामान्य थी। हमारा जो वैदिक धर्म विधर्मियों और अज्ञानी इस देश के निवासियों को भी कूड़ा-कचरा के समान मालूम होता है, उसी के उत्तमोत्तम महत्त्वों का अनुपम माधुर्य इन्होंने चखा था। वैदिक धर्म का मुख्य तत्त्व वर्णाश्रम-विहित धर्म है। इसी तत्त्व के अनुसार इन महाशय ने जीवन भर अपना आचरण रखा था। उन्होंने अपने पवित्र आचरण से सारे संसार को यह दिखला दिया है कि आधुनिक काल में चारों आश्रमों में रहकर परमार्थ साधन कैसे करना चाहिए। सन् १८७६ में उन्होंने भावनगर के राज्य-सूत्र हाथ से छोड़े। इसके साथ ही गृहस्थाश्रम का भी त्याग करके उन्होंने वैदिक धर्म की आज्ञा के अनुसार वानप्रस्थाश्रम का आश्रय लिया और ब्रह्म-विचार में वे अपना काल व्यतीत करने लगे। वान-प्रस्थाश्रम लेने के कारण उन्हें बनवास के लिए नहीं जाना पड़ा। अपने ही एक विस्तीर्ण बाग में मठ बना कर वे रहने लगे। वहाँ भिन्न भिन्न जगहों से बड़े-बड़े योगी और साधु आकर उनके आश्रम-बन्धु बनकर रहने

लगे और ब्रह्म-विचार के पारायण शुरू हुए। उस समय भावनगर ब्रह्म-विचार—वेदान्त विचार—का एक मूल पीठ ही बन गया था। राज-काज करते समय कार्याधिक्य के कारण महाशय गौरीशंकर संस्कृत-ज्ञान की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके थे, अतएव इस आश्रम में आकर उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का परिशीलन शुरू किया और थोड़े ही काल में इतनी प्रवीणता सम्पादन कर ली कि अपनी ७६ वर्ष की अवस्था में "स्वरूपानुसन्धान" नामक एक अमूल्य ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखकर प्रसिद्ध किया। इस ग्रन्थ में आत्मस्वरूप का उत्कृष्ट विवरण किया गया है तथा इस बात का सुबोध-रीति से प्रतिपादन किया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कैसे किया जाय।

वानप्रस्थाश्रम में रहते हुए महाशय गौरीशंकर का चित्त बाहर से यद्यपि सांसारिक बातों में लगा हुआ सा देख पड़ता था, तथापि वास्तव में एक साधु के कथनानुसार उन्हें भीतर बाहर सब जगह राम-रूप ही भरा हुआ देख पड़ता था; उनका मन राम में रंग गया था; और इसी कारण उन्हें सब राम-रूप हो गया था। उनकी इसी दशा में बम्बई के उस समय के गवर्नर लार्ड रे सन् १८८६ में सकुटुम्ब उनसे मिलने गये थे। उस समय भगवे वस्त्र पहने हुए वह आनन्द-मूर्ति उन्हें देख पड़ी। करीब डेढ़ घंटे दोनों का सम्भाषण हुआ। उनसे मिलने के बाद लार्ड रे ने कहा कि "इस सत्पुरुष से सम्भाषण करते हुए मेरे हृदय-पटल पर जिस प्रकार की छाप बैठी और जो परमानन्द हुआ, उस प्रकार का आनन्दानुभव जब से मैं भारतवर्ष में आया तब से कभी नहीं हुआ।" लार्ड रे बड़े भारी विद्वान् और नीतिमान् पुरुष थे, अत-एव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके समान सज्जन के मन पर जो छाप बैठी उसकी कितनी कीमत है।

इस प्रकार वैदिक धर्म-तत्वों के अनुसार वानप्रस्थाश्रम—वास करके चार वर्षों के बाद महाशय गौरीशंकर ने उस आश्रम का भी त्याग करके अन्त का चतुर्थाश्रम—संन्यास ग्रहण किया। यह संन्यास-दीक्षा केवल भगवे वस्त्र पहनने भर के ही लिए नहीं होती, किन्तु संसार की सारी

मायिक उपाधियाँ और संकल्प-विकल्प नष्ट करके वृत्ति के निष्काम और निर्विकार होने का नाम संन्यास है। महाशय गौरीशंकर में यह वृत्ति पूर्णतया आ गई थी।

उनके धर्म-मतों का विचार करना भी बहुत ही महत्त्व का है। धर्म का मुख्य कार्य परमेश्वर-प्राप्ति और आत्म-ज्ञान है। उनका यह निश्चित मत था कि उनके साधन के लिए वैदिक धर्म के समान अन्य धर्म नहीं है और वैदिक धर्म में भी धर्म का प्रतिपादन करनेवाली वर्णाश्रम-व्यवस्था उन्हें सर्वोत्कृष्ट मालूम होती थी। महाशय गौरीशंकर का मत था कि विधर्मी लोग जो यह कहते हैं कि जाति-भेद के कारण वैदिक धर्म में गौणत्व आता है, यह ठीक नहीं है; किन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था के कारण ही न्यूनाधिक बुद्धिवाले और भिन्न-भिन्न अधिकारवाले सब प्रकार के मनुष्य भिन्न-भिन्न रीति से ईश्वर को पहचान सकते हैं। वे पूर्ण वेदान्ती थे। वेदान्त में जो परमात्मा का स्वरूप "एकमेवाद्वितीयम्" प्रतिपादित किया है, उसमें वे सदा निमग्न रहते थे। वे ईश्वर को निर्विकार मान कर क्षण क्षण में इस महातत्त्व का अनुभव किया करते थे कि

'आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि।'

अर्थात् सब प्राणि मात्र में परमात्मा भरा हुआ है और सब प्राणी उसमें स्थित हैं। साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि जिस मनुष्य का तत्त्वज्ञान की ओर विशेष झुकाव होता है, वह व्यवहार के लिए बिलकुल निरुपयोगी होता है; परन्तु महाशय गौरीशंकर का यह हाल नहीं था। उन्होंने सारे जगत् की स्थिति का शास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म निरीक्षण किया था; इस कारण अंगीकृत कार्य में चाहे उनके मन के अनुसार फल-सिद्धि न, हो तथापि वे कभी निराश नहीं होते थे। इसका मुख्य कारण यही है कि धर्म पर उनकी अचल श्रद्धा थी। वैदिक धर्म का अनुसरण करनेवाला यदि कोई श्रेष्ठ मत है, तो वह वेदान्त ही है। सांख्य आदि अन्य दर्शन उसकी अपेक्षा गौण हैं। आर्यभूमि के आबाल-वृद्ध, ज्ञानी, अज्ञानी इत्यादि सब लोगों की पारमार्थिक मौरूसी जायदाद वेदान्त-मत ही है। ऐसी पैतृक सम्पत्ति संसार के अन्य किसी

राष्ट्र को प्राप्त नहीं हुई। इसका कारण यही है अन्य देश के लोग केवल भौतिक सुखों में ही फँसे रहते हैं; परन्तु आर्यभूमि के लोगों का यह हाल नहीं है। यहाँ तो न्यूनाधिक रीति से यह तत्त्व सभी जानते हैं कि यह संसार और सारे भौतिक सुख नश्वर और क्षणिक हैं, अतएव परमार्थ (मोक्ष) का साधन ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। व्यक्ति मात्र की ग्राहक शक्ति के अनुसार 'वस्तु-ज्ञान' चाहे भिन्न भिन्न हो, तथापि सब का आधार एक ही है और वह आधार जगत् का मिथ्यापन है। ज्ञान-दृष्टि से जहाँ एक-बार जगत् का मिथ्यापन स्पष्ट मालूम होने लगा कि बस आप-ही-आप वैराग्य-स्फूर्त्ति होने लगती है। अर्थात् किसी दृश्य वस्तु के विषय में भी वासना नहीं उत्पन्न होती। जहाँ जगत् की वस्तुएँ हमें मिथ्या जान पड़ने लगीं कि बस उनकी ओर से मन बिलकुल ही हट जाता है, और इतना होने पर तुरत ही हमारा मन आत्म-स्वरूप में निमग्न हो जाता है, यही दशा महाशय गौरीशंकर की हुई थी।

यह जगत् जो हमें दृष्टिगोचर होता है, वास्तव में सत्य नहीं है; किन्तु केवल चिच्छक्तिका आभास है। सत्य वस्तु केवल वही अद्वितीय और निर्विकार परमात्मा है। यही बात साधारणतया इस प्रकार भी कही जा सकती है कि एक सूक्ष्म-बुद्धि से जिसका ज्ञान होता है, वही वस्तु केवल सत्य है; और जो विषय या पदार्थ बाहर की इन्द्रियों से देखे जाते हैं, वे सब असत्य, मिथ्याभूत और नाशवान् हैं। ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध ऐसा है, जैसे पानी और उस पर उठनेवाली लहरें; अथवा दर्पण में देख पड़नेवाला वस्तु का प्रतिबिम्ब। इनमें जल और वस्तु सत्य हैं और लहरें तथा प्रतिबिम्ब उनके विकार हैं। इसी प्रकार परमात्मा सत्य-स्वरूप है और यह दृश्य जगत् उस चिच्छक्ति की विकृति है। यह उच्च वेदान्त-ज्ञान महाशय गौरीशंकर ने प्राप्त कर लिया था। उन्होंने शंकराचार्य के ग्रन्थों का बड़ी सूक्ष्म-रीति से परिशीलन किया था, इस कारण उन्होंने यह अच्छी तरह ज्ञात कर लिया था कि मन क्या है, आत्मा क्या है और आत्मा से परमात्मा की शक्ति किस प्रकार पहचाननी चाहिए।

अद्वैत के अनुसार आत्म-ज्ञान होने के लिए पहले मन को जीतना

चाहिए। आत्मा नित्य और शुद्ध-बुद्ध है; परन्तु उसके पास ही रहकर खेलनेवाला मन बड़ा चंचल और कठिन है। वह खिलाड़ी बाह्य वस्तुओं पर कैसी उछल-कूद मचाता है और आशा के वश में आकर विषय-सेवन का कैसा विलक्षण उत्साह रखता है, इसका विचार-दृष्टि से अवलोकन करके मन को आकर्षण करने की शक्ति प्राप्त करना ही आत्म-ज्ञान का प्रभाव है। नये नये संकल्प-विकल्प उत्पन्न करके उनकी ओर मनुष्य की प्रवृत्ति कराना ही तो मन का धर्म है। इसी चंचलता के कारण उसे किसी ने श्वान की उपमा दी है, किसी ने घोड़े की उपमा दी है, किसी ने उसे द्वार-द्वार वंचना करनेवाला रंक कहा है। वेदों ने कहा है—

भीष्मो हि देवः। —तैत्तिरीय ब्राह्मण।

अतएव मन की इस संकल्प-विकल्पात्मक प्रवृत्ति का नियमन करना आत्म-ज्ञान का पहला मार्ग है। ऐसा ज्ञान हो जाने पर यह मालूम हो जाता है कि आत्मा कैसा शुद्ध-बुद्ध है। इसके बाद अन्त में

'ब्रह्माऽहमस्मि'। —नारायणोपनिषद्।

इस अवस्था का अनुभव प्राप्त होता है। पंडित गौरीशंकर इसी पूर्णावस्था तक पहुँच चुके थे। उन्होंने अपने वानप्रस्थाश्रम में एक बार प्रसिद्ध शार्मण्यपंडित मोक्षमूलर को एक पत्र लिखा था। उसका एक अवतरण नीचे दिया जाता है। इसके पढ़ने से स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उनका आत्म-ज्ञान कैसा था। महाशय गौरीशंकर संन्यास-ग्रहण के पहले शार्मण्यपंडित मोक्षमूलर को लिखते हैं:—

"स्वरूपानुसन्धान नामक वेदान्त-शास्त्र-विषयक अपना ग्रन्थ मैंने आपके पास पहले भेजा ही है। उससे आपको सहज ही मालूम हुआ होगा कि मैं ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होने के कारण उक्त ग्रन्थ में कहे हुए तत्त्वों का अनुभव सचमुच ही प्राप्त कर रहा हूँ। हमारे वैदिक धर्म में चार आश्रम कहे हैं और द्विज जातियों को क्रमशः उनमें दूसरा गृहस्थाश्रम है। और न्यूनाधिक प्रमाण से इसका अनुभव सभी को होता है। परन्तु तीसरे और चौथे आश्रम में प्रवेश किये हुए लोग

विरले ही मिलते हैं। ईश्वर-कृपा से मैं शास्त्र के आज्ञानुसार वान-प्रस्थ का अनुभव ले रहा हूँ। परन्तु अब शक्ति-पात होने लगा है, अत-एव मैं चतुर्थाश्रम शीघ्र ही स्वीकार करूँगा। उस आश्रम में जाने पर मैं जगत् के सम्पूर्ण सुख-दुखों से मुक्त हो जाऊँगा और फिर मेरे लिए ऐहिक इति-कर्तव्यता कुछ भी न रहेगी। मैंने जगत् का व्यवहार साठ वर्ष तक किया; अब संन्यासाश्रम ग्रहण करना छोड़ कर और कोई कर्तव्य मुझे नहीं रहा। इस आश्रम में शंकराचार्य आदि प्राचीन महान् तत्त्व-वेत्ताओं के दिखलाये हुए मार्गों से मैं परमात्मा से जीवत्मा की एकता करने में समर्थ होऊँगा। यह सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य जन्म-मरण के फेर से मुक्त होकर अक्षय मोक्ष-पद को प्राप्त करता है। हे विद्वान् मित्रवर्य! मैं थोड़े ही दिनों में संन्यासी हो जाऊँगा और तब मेरी आयु के क्रम का बिलकुल विपर्यास हो जायगा। आज तक मैंने आपसे जैसा पत्र-व्यवहार रखा है, वैसा अब आगे न रख सकूँगा। अतएव अन्त में मैं इतनी ही इच्छा करता हूँ कि परमेश्वर आपका कल्याण करे। अब से 'आप और मैं' यह द्वैतभाव नष्ट होगा; क्योंकि मेरा जीवात्मा परमात्मा में लीन होगा और वह परमात्मा विश्व-व्यापक है, इस कारण अवश्य ही आप में और मुझमें फिर कोई द्वैतभाव रहने का स्थल न रहेगा। अतएव आपने ही अपने पत्र में जो वचन लिखा था कि—

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः।

अर्थात् जहाँ एक बार परमात्मा का ज्ञान हुआ कि बस फिर जगत् के सारे बंधनों का नाश हो जाता है—यह आप ही का वचन अन्त में लिख कर मैं अपना पत्र पूर्ण करता हूँ।"

इस पत्र से पाठकों को सहज ही मालूम हो सकता है कि महात्मा गौरीशंकर का परमात्मा से कैसा तादात्म्य हुआ था। इसी स्थिति में रहते हुए आगे उनका देहावसान हुआ। मनुष्य-जीवन की इति-कर्तव्यता यही है और ऐसी ही विभूति को जीवन्मुक्ति कहना चाहिए। गृहस्थाश्रम का चाहे जितना पालन करो, उसके लिए मनाही नहीं है; परन्तु सदा ही विषयोपभोग करने के लिए यह शरीर नहीं मिला है; मानवी देह

का अन्तिम कर्त्तव्य बिलकुल भिन्न अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति है। यह बात ध्यान में रखकर ही मनुष्य को चलना चाहिए। महात्मा गौरी-शंकर के उदाहरण से यह बात अच्छी तरह मालूम होती है कि हमारे वैदिक धर्म ने जो चार आश्रम कहे हैं, उस सोपान-परम्परा से जाने पर सिद्धि—परमात्मा की प्राप्ति—मनुष्य को अवश्य ही प्राप्त होती है।

दूसरा प्रकरण

वेदान्त-शास्त्र का पुनरुज्जीवन और उपयोगिता

वेदान्तविज्ञासुनिश्चितार्थाः, संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले, परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥
—नारायणोपनिषत्।

आधुनिक विद्वानों को अन्य बातों में यद्यपि देशोन्नति का अभिमान रहता है, तथापि वर्तमान समय में वेदान्त-शास्त्र का जो पुनरुज्जीवन हो रहा है, यह उन विद्वानों में से बहुतों को पसन्द नहीं है। जान पड़ता है कि वे यह समझते हैं कि वेदान्त-शास्त्र का पुनरुज्जीवन होना कुछ उन्नति का लक्षण नहीं है, किन्तु यह देशापकर्ष का चिह्न है। प्राचीन वेदान्त-विचारों को महत्व देने से अब कोई लाभ नहीं, सिर्फ उपासना मार्ग—भागवत-धर्म—सत्य मान कर भक्ति-मार्ग से चलना चाहिए; इसी से जीवन की सार्थकता होगी। जान पड़ता है कि वर्तमान समय के वैज्ञानिक ज्ञान के कारण संसार में जो विलक्षण चमत्कार दृष्टि-गोचर हो रहे हैं, और विचार-शैली में एक विलक्षण परिवर्तन हो रहा है, इसी से आधुनिक विद्वानों के मन में उपर्युक्त विचार आने लगे हैं। यही नहीं, किन्तु वे यही समझते हैं कि वेदान्त-शास्त्र के पुनरुज्जीवन से राष्ट्रीय उन्नति म अवश्य धक्का लगेगा और वे इस बात का प्रतिपादन भी करते हैं। इस प्रकार के मत जिन लोगों के बन गये हैं, वे कोई

साधारण मनुष्य नहीं; किन्तु अत्यन्त बुद्धिमान् और देश के नेता बनने योग्य हैं; अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस विषय के उनके मत एकदम त्याज्य नहीं हैं। जो महाशय यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक बात में हमारा पैर आगे बढ़ना चाहिए, उन्हीं महाशयों में उक्त प्रकार के लोग हैं। उन्नति के नियमों पर उनकी पूर्ण श्रद्धा है, इस कारण प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार में—फिर चाहे वह अविष्कार भौतिक हो, चाहे नैतिक या आध्यात्मिक—उन्हें उन्नति के सिवा और कुछ देख ही नहीं पड़ता। उत्क्रान्ति-तत्त्व को सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वदेशीय हो जाने के कारण ये आधुनिक विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि कोई भी अर्वाचीन बात शास्त्र-विषयक हो अथवा तत्त्व-ज्ञान विषयक हो, प्राचीन अथवा पुरानी बात की अपेक्षा अधिक उत्तम होनी चाहिए। वे इस मत पर बहुत जोर देते हैं:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।

ये आधुनिक विद्वान् यह भी समझते हैं कि यदि अपने देश के उत्कर्षक की ओर ध्यान दिया जाय, तो तत्त्व-ज्ञान अथवा धर्म के विषय में प्राचीन आर्यमतों की ओर लौटने की कोई जरूरत नहीं—इतना ही नहीं, किन्तु यह बात प्रायः असम्भव ही है। क्योंकि भारतवर्ष का कोई भी आधुनिक आर्य हो, उसमें पूर्वज आर्यों से सब बातों में भिन्नता पाई जायगी। उसका जन्म भिन्न दशा में हुआ है और शिक्षा भी भिन्न ही मिली है, इस कारण वह एक भिन्न प्रकार का ही मनुष्य बन गया है। अर्वाचीन राज्य-प्रणाली, सामाजिक प्रणाली आदि कारणों से उसके मन पर एक भिन्न ही प्रकार के परिणाम हो रहे हैं और इस प्रकार उसकी सभी दशाएँ प्राचीन आर्यों से बिलकुल भिन्न हो रही हैं तथा उसकी मानसिक उन्नति के मार्गों में भी अब विलक्षण अन्तर हो गया है। आधुनिक विद्वान् यह भी प्रतिपादन करते हैं कि बाहरी उपाधियों का भीतरी दशा से और भीतरी दशा का बाहरी परिस्थिति से सम्मेलन होना यदि उत्कृष्ट जीवन-कला का नियम ठहरता है, तो उसके अनुसार आधुनिक आर्यों का धर्म अथवा उनका तत्त्व-ज्ञान प्राचीन आर्यों के धर्म या तत्त्व-ज्ञान

से भिन्न होना ही चाहिए। पुराने और बे-काम तत्व-ज्ञान या धर्म के द्वारा सुधार के अत्युच्च शिखर पर पहुँचे हुए आधुनिक आर्यों का समाधान नहीं हो सकता और यह भी स्पष्ट है कि जिस धर्म या तत्त्व-ज्ञान की अभिवृद्धि भिन्नावस्था में हुई है, उस धर्म या तत्त्व-ज्ञान की परिस्थिति से इस समय की मानसिक स्थिति कभी न मिलेगी। आधुनिक आर्यों के अपने पूर्वजों से भी अधिक उच्च धर्म-विचार, तत्त्व-ज्ञान और रहन-सहन आदि अवश्य ही चाहिए अर्थात् उन्हें ऐसे तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता है, जो वेदान्त और षड्दर्शनों में प्रतिपादित किये हुए तत्त्व-ज्ञान से अधिक संस्कृत और उदात्त हो।

वर्तमान समय में वेदान्त-शास्त्र का जो पुनरुज्जीवन हो रहा है उसके विरुद्ध उपर्युक्त प्रकार के मुख्य आक्षेप हो रहे हैं और यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती कि उनमें सत्यांश भी बहुत है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आधुनिक आर्य अपने पूर्वजों की अपेक्षा आज-कल भिन्नावस्था में पहुँचे हुए हैं। परराष्ट्रों से और विशेषकर पाश्चात्यों से उनका निकट सम्बन्ध होने के कारण जगत् के अनुभव की उनकी कल्पना विस्तृत हो गई है। अतएव उन्हें बदली हुई परिस्थिति से मेल खाने योग्य रहन-सहन और विचार-शैली स्वीकृत करने की आवश्यकता आ पड़ी है। भौतिक जगत् और शरीर-रचना के विषय में आधुनिक आर्यों को पाश्चात्यों से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह पूर्वजों से भिन्न और नवीन है और सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि आधुनिक आर्यों ने यूरोपीय पंडितों के विशिष्ट गुण का अनुकरण करके वेदाज्ञा और शास्त्राज्ञा आदि किसी को भी प्रमाणभूत और आधारभूत न मान कर स्वतंत्र-रीति से और निर्भयता के साथ विचार करने की प्रणाली स्वीकृत की है।

यहाँ तक आधुनिक विद्वानों के आक्षेपों का निरूपण हुआ। अब इस प्रकार के कितने ही महत्त्व के प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि यद्यपि उपर्युक्त रीति से स्थिति-विपर्यास हुआ है, तथापि क्या इससे यह सिद्ध होता है कि आधुनिक आर्यों को अपना धर्म और तत्त्व-ज्ञान छोड़ कर पाश्चात्यों के धर्म और तत्त्व-ज्ञान को स्वीकार करना ही चाहिए? उपर्युक्त बातों से

क्या यह सिद्ध होता है कि यूरोप के धर्म-विचार और तात्विक विचार हमारे धर्म-विचारों से अथवा तात्विक विचारों श्रेष्ठ हैं ? और यद्यपि भौतिक अथवा वैज्ञानिक उन्नति चाहे जितनी हो, तथापि क्या उसके साथ तत्त्व-ज्ञान और धर्म की भी उन्नति होनी ही चाहिए ? हमारे मत से इन प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' ही देना पड़ेगा। आधुनिक सुधार से बहुत होगा तो भौतिक शास्त्रों की उन्नति होगी और इससे सिर्फ ऐहिक सुख और सुभीते बढ़ेंगे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उस आधुनिक सुधार और उच्च धर्म-विचारों का परस्पर कोई निश्चयात्मक सम्बन्ध है। आधुनिक सुधार के ऊपर कहे हुए जो मुख्य अंग हैं उन्हें छोड़कर नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों की उन्नति का भी यदि आधुनिक सुधार में अन्तर्भाव होता, तो हम विश्वास-पूर्वक कहेंगे कि वास्तविक सुधार में जिन महत्वपूर्ण अंगों की आवश्यकता होती है, वे अंग इस आजकल के सुधार में बिलकुल ही नहीं हैं और इसीलिए इसे 'सुधार' कहना ही शोभा नहीं देता। जब हम प्राचीन आर्यों के सुधार से वर्तमान यूरोप के सुधार की तुलना करते हैं, तब हमें जान पड़ता है कि इन दोनों में विलक्षण अन्तर है और प्राचीन आर्यों के आविष्कार परमावधि तक अर्थात् पूर्णावस्था तक पहुँच चुके थे।

अब हम इस बात का विचार करते हैं कि पश्चिमी सुधार और आर्यों की उन्नति में कैसा अन्तर देख पड़ता है। प्राचीन आर्यों में दो विशिष्ट गुण हैं; बिलकुल साधारण-वृत्ति और पराकाष्ठा की ज्ञान-सम्पन्नता। इनकी जगह पर आधुनिक सुधार में ये बातें देख पड़ती हैं कि आजकल के रहन-सहन में अनेक व्यवहारों का मिश्रण होना चाहिए और जगत् का ऐसा विस्तृत ज्ञान प्राप्त होना चाहिए जिससे जीवन-कलह में अपने से दुर्बल और कम चतुर बांधवों पर अपना गौरव स्थापित किया जा सके। यही दो बड़े फर्क आधुनिक सुधार में प्राचीन सुधार की जगह हुए हैं। प्राचीन काल में स्पर्धा अर्थात् चढ़ा-ऊपरी या प्रतियोगिता का तत्त्व केवल विशिष्ट समाज या जाति के लिए नियमित रीति से लगा हुआ था; परन्तु अब वही तत्त्व इतना सार्वदेशीय और अनियमित हो

गया है कि हमारा जीवन मानो घुड़दौड़ के दावँ के समान ही हो गया है। आगे जायगा वही जीतेगा; पीछे रहेगा वह हारेगा! इसी दावँ में ये बातें बिलकुल आवश्यक हो गई हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपना प्रतिस्पर्धी समझे और बुरी-भली किसी रीति से भी उस पर अपना गौरव स्थापित करने का प्रयत्न करे। प्राचीन सुधार जीवन और समाज के मिथ्यापन की दृढ़ कल्पना के आधार पर खड़ा है और उसमें धर्म-प्रभाव पूर्णतया देख पड़ता है; परन्तु आज-कल के सुधार की दशा बिलकुल उसके विरुद्ध है अर्थात् वह जीवन और समाज की नित्यता के विचार की नींव पर खड़ी है और ऐहिक सुख के विषय में इतनी आतुरता इस सुधार में उत्पन्न हो गई है कि जिससे धर्म की अत्यन्त दीन दशा हो रही है! इस परिवर्तित दशा का ऐसा विलक्षण परिणाम हुआ है कि प्राचीन सामाजिक दशा का—शान्त वृत्ति जो मुख्य लक्षण था, उसकी जगह अब यह अनिवार्य दुरिच्छा उद्दीप्त हो गई है कि संसार में जो उत्तमोत्तम वस्तुएँ हों, वे दूसरों के हाथ से छीन कर हमें ले लेनी चाहिए। रात दिन बराबर इसी का निदिध्यास लग रहा है। यही विलक्षण अन्तर आधुनिक सुधार में पाया जाता है। इस अनिवार्य लालसा या तृष्णा के कारण तृप्ति का अभाव हो गया है और इच्छित वस्तु की अप्राप्ति से मन की आतुरता, त्रास और सन्ताप आदि उत्पन्न हो गये हैं।

इस विवेचन से यह अभिप्राय नहीं है कि अर्वाचीन सुधार का महत्त्व किसी रीति से भी कम किया जाय। किन्तु यह निःसन्देह स्वीकार है कि वर्तमान सुधार के कारण अनेक प्रकार के लाभ भी हुए हैं। तब फिर यह प्रतिपादन किस किए? तो इस प्रतिपादन का उद्देश इतना ही है कि पाठकों को ये बातें स्पष्ट दिखला दी जायँ कि आधुनिक सुधार अपूर्ण है और उसमें ऐसे भयंकर और एकदम भभक उठनेवाले द्रव्य हैं कि उनका प्रक्षोभ कब होगा और समाज को वे कब मिट्टी में मिला देंगे, इसका कुछ ठीक नहीं। ऊपर हमने यह स्वीकार किया ही है कि अर्वाचीन वैज्ञानिक आविष्कारों से और नवीन नवीन युक्तियों से जीवन के लिए अनेक सुख के मार्ग बढ़ गये हैं। परन्तु साथ ही यह बात भी नहीं भूल

जानी चाहिए कि उन आविष्कारों और युक्तियों के योग से समाज के लिए अत्यन्त भयावनी और विघातक बहुत सी बातें मनुष्य के हाथ में आ गई हैं। हमें आधुनिक युद्ध-कला की ओर कुछ दृष्टि देनी चाहिए। अन्य सब बातों में जिस प्रकार सुधार की उन्नति हो रही है, उसी प्रकार युद्धकला में घातक अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने में भी विलक्षण उन्नति हुई है। यह बात तो हमारे बहुश्रुत पाठकों को मालूम ही होगी कि युद्धस्थल में सज्ज खड़े हुए हजारों वीरों को क्षणार्ध में नष्ट करके मिट्टी में मिला देनेवाले आधुनिक तोपों के समान घातक संहार-शस्त्र अर्वाचीन युद्धों में प्रयुक्त हो रहे हैं। सारांश, यह सुधार 'दुधारा खाँडा' है। इस खाँडे की तीक्ष्ण धार प्राचीन धर्म-तत्त्वों से घिस कर यदि गोंठिल न की गई तो जगत् के मनुष्य मात्र का कभी न कभी नाश हुए बिना कदापि न रहेगा।

हम यह नहीं कहते कि प्राचीन आर्यतत्त्व बिलकुल निर्दोष थे। उनमें भी कुछ दोष थे; उन दोषों को न छिपाते हुए यहाँ उन्हें प्रकट कर देना आवश्यक है। प्राचीन आर्यों के अन्तिम अर्थात् परमावधि के विचार कुछ संकुचित थे और उस समय बहु-जन-समाज की अपेक्षा व्यक्ति की और विशेष ध्यान था, तथा ऐहिक लाभ या बहु-समाज-हित की ओर बहुत ही उदासीनता थी, परन्तु आधुनिक सुधार में भी उक्त दोषों के विरुद्ध अनेक भूलें देख पड़ती हैं। आधुनिक काम में समाज में व्यक्ति का लोप हो जाता है और जन-समाज का जीवन और हित स्थिर रखने की ओर विशेष ध्यान जाने के कारण व्यक्तिमात्र के अर्थात् उसके जीवात्मा के लाभ का अभाव हो जाता है। जीवन के आधुनिक विचारों पर रचे हुए प्राचीन आर्य-समाज का अनुभव और उसके दोष हमें मालूम हो गये हैं तथा उससे भिन्न विचारों पर रचे हुए प्राचीन आर्य-समाज का अनुभव और उसके दोष भी हमें मालूम हैं, इसलिए हमारे स्वीकार करने योग्य उत्तम मार्ग यही है कि हम प्राचीन बातों को सर्वथैव स्वीकार भी न करें और आधुनिक यूरोप के दिखाऊ वैभव में भी न भूल जायँ; किन्तु बीच का ही मार्ग स्वीकार करना हमारे लिए हितकारक होगा। हमें

इस प्रकार का सुधार चाहिए कि जिसमें दोनों के लाभों का समावेश हो सके और दोनों की परमावधि तक पहुँची हुई कल्पनाओं का मेल इस प्रकार किया जा सके कि एक की त्रुटियाँ दूसरे से पूर्ण हो जायँ। अर्थात् दोनों प्रकार के विचारों के दोषों का त्याग करके हमें उनको इस प्रकार मिला देना चाहिए कि जिससे हमारे इष्ट कार्य की सिद्धि हो। आज-कल भारतवर्ष को जिस बात की विशेष जरूरत है, वह बात प्राचीन और नवीन का मेल करना ही है। यह मार्ग यदि हम स्वीकार करेंगे, तो प्राचीन विचारों को बिलकुल तिरस्कृत करने का भी दोष हम पर नहीं आवेगा और प्राचीन काल से लेकर बिलकुल प्रस्तुत काल तक अव्याहत-रीति से सुधार भी कायम बना रहेगा, तथा पश्चिमी और पूर्वी उत्कृष्ट विचारों के सम्मेलन से नवीन प्रकार के सुधार होंगे और हमारे राष्ट्र का स्वत्व स्थिर रहेगा। यूरोप में आज-कल व्यावहारिक चातुर्य और विविध विषयों का ज्ञान देख पड़ता है और पूर्व की ओर उच्च विचार तथा पारमार्थिक निपुणता दृष्टिगोचर होती है। अतएव आज-कल वेदान्त-शास्त्र का जो पुनरुज्जीवन हो रहा है, उसका मुख्य तत्त्व यही है कि पूर्वी और पश्चिमी गुणों का अपूर्व और विलक्षण मिश्रण बनाना चाहिए और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी इस आर्यभूमि के जो सच्चे हितचिन्तक हैं, उन्हें यह तत्त्व अवश्य ही मान्य होगा।

प्राचीन आर्यों का परम उदात्त और सर्वोत्कृष्ट तत्त्वज्ञान वास्तव में हमारी बड़ी भारी पैतृक सम्पत्ति है। हमारे वेदान्त-शास्त्र पर सत्य और सर्वदेशीयता का मानो ऐसा सिक्का बैठा हुआ है कि संसार का कोई समाज भी अपनी चाहे जिस दशा में उसके तत्त्वज्ञान का उपयोग कर सकता है। तत्त्व-ज्ञान और धर्म के विचार सब देशों में भिन्न-भिन्न माने जाते हैं, परन्तु हमारे वेदान्त-शास्त्र का वह हाल नहीं है। उसमें तत्त्व-ज्ञान है और उत्कृष्ट धर्म भी है। इसलिए जो विरोध यूरोप के अनेक प्रकार के तत्त्व-ज्ञानों और धर्मों में पाया जाता है, वैसा विरोध आर्य तत्त्व-ज्ञान और धर्म में बिलकुल ही नहीं मिलता। तत्त्व-ज्ञान ज्ञान-वृक्ष का पुष्प है और धर्म उसका फल है। तत्त्व-ज्ञान उस वृक्ष की

उपत्ति है और धर्म उस वृक्ष का व्यावहारिक स्वरूप है। यह हमारा निश्चित मत है। परमावधि तक पहुँचे हुए जो सर्वोत्कृष्ट विचार हैं, वे हमें तत्त्व-ज्ञान से प्राप्त होते हैं और धर्म से हमें यह मालूम होता है कि उन विचारों का आविष्करण व्यवहार में कैसे किया जाय। तात्पर्य यह कि धर्म तत्त्व-ज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप है। अतएव उसमें किसी प्रकार भी विरोध होना अस्वाभाविक और असम्भव है।

धर्म-स्थापना में जिस तत्त्व-ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता, वह तत्त्व-ज्ञान बिलकुल व्यर्थ समझना चाहिये। और वह निरुपयोगी तत्त्व-ज्ञान अवश्य ही नष्ट होना चाहिए। तत्त्व-ज्ञान के दृढ़ आधार पर जिस धर्म की रचना नहीं हुई है, वह धर्म स्थिर नहीं रह सकता। बिना नींव के कहीं मकान खड़ा रह सकता है? जिस प्रकार वृक्ष से गिर कर फूल कुम्हला जाता है, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान-रहित धर्म भी सत्यनाश हुए बिना नहीं रहता। पश्चिमी देशों का हाल देखिए। शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान और धर्म आदि में वहाँ आज-कल कैसा तुमुल युद्ध हो रहा है और अलग-अलग होकर ये किस प्रकार आपस में एक दूसरे की छाती पर सवार होने के लिए तैयार हैं! वहाँ का पदार्थ-विज्ञान, तत्त्व-ज्ञान और धर्म को उनके उच्च आसन से नीचे खींच लेना चाहता है, इसमें वह कुछ सफल भी हो रहा है, तथा पदार्थज्ञान के मूल तत्त्वों में दोष दिखला कर तत्त्व-ज्ञान भी उसका उच्चाटन करने का बड़ा प्रतत्न कर रहा है। ये प्रयत्न एकांगी हैं। मिलकर भी कुछ प्रयत्न हो रहे हैं। जान पड़ता है कि पदार्थ-विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान मिलकर धर्म को नीचे गिरा देना चाहते हैं। उन्होंने धर्म को बिलकुल निकम्मा ठहराया है। यही नहीं, बल्कि वे जोर देकर कहते हैं कि धर्म में बुद्धि और विचार-शक्ति से होनेवाली बातों का समावेश कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार पदार्थ-विज्ञान, तत्त्व-ज्ञान और धर्म-नीति के तीन मार्ग हो गये हैं और सभी अपने-अपने गर्व में चूर हैं। ऐसी दशा में धर्म बेचारे की दुर्गति हो रही है और वह श्रद्धा की शरण में जाकर उसका आश्रय ले रहा है। इस दशा से स्पष्ट है कि पश्चिमी देशों में विचार-शक्ति की दशा बहुत ही निर्बल समझी जाती है

और पदार्थ-विज्ञान, तत्व-ज्ञान तथा धर्म के अधिकार, सन्तोषकारक रीति से स्थापित करने का जब समय आयगा, तब बुद्धि-शक्ति की अवश्य ही विलक्षण क्रान्ति हो जायगी।

यह तो पश्चिमी स्थित का निरीक्षण हुआ। अब अपनी दशा भी विचारना चाहिए। प्रथम तो हमारे प्राचीन आर्य-पूर्वज इतने चतुर और दक्ष थे कि उन्होंने बड़े विचार के साथ ऐसा ही मार्ग स्वीकार किया जिसमें उपर्युक्त प्रकार की अड़चनें बिलकुल आवें ही नहीं। प्राचीन आर्यों का स्थापित किया हुआ वेदान्त-शास्त्र तत्व-ज्ञान भी है और धर्म भी। इसके सिवा पदार्थ-विज्ञान से उसका कोई विरोध भी नहीं पाया जाता। यही नहीं वरन् वेदान्त ने पदार्थ-विज्ञान का महत्त्व ही गाया है। जो लोग कहते हैं कि तत्त्व-ज्ञान का पैर सदा आगे ही रहना चाहिए और प्राचीन तत्त्व-ज्ञान से आधुनिक तत्त्व-ज्ञान बहुत ही उत्कृष्ट है, उन्हें यह उत्तर दिया जा सकता है कि तत्त्व-ज्ञान की उन्नति सब प्रकार से हो नहीं सकती, उसका पैर एक मार्ग से चाहे आगे बढ़ भी जाय; परन्तु सब मार्गों से उसकी लगातार और स्थिर उन्नति नहीं हो सकती और इसीलिए हम कहते हैं कि हमारे प्राचीन षड्दर्शनों का अभ्यास जितना अधिक होगा, उतना ही अधिक वह आगे चलकर काम देगा। षड्दर्शनों के अभ्यास से बुद्धि में कुशाग्रता आती है। इतना ही नहीं, बल्कि विद्यार्थियों को उनसे ऐसे-ऐसे तत्त्व मालूम होते हैं, जो मनुष्य-मात्र के लिए उपयोगी होते हैं। 'तत्त्व-ज्ञान' शब्द के व्यापक अर्थ पर यदि ध्यान दिया जाय, तो मालूम होता है कि उससे दो बड़े कार्य होते हैं। पहला कार्य यह है कि तत्त्व-ज्ञान से विशिष्ट शास्त्रों की संगति लग जाती है अर्थात् यह निश्चित हो जाता है कि अनेक शास्त्रों में से किन शास्त्रों को केवल सहायभूत समझना चाहिए और कौन से शास्त्रों से अन्तिम सिद्धान्त निकालना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर हम तत्त्व-ज्ञान को उन्नतिकर्त्ता कह सकते हैं। आध्यात्मिक बातों का विवेचन करना उसका दूसरा महत्-कार्य है। तत्त्व-ज्ञान से विचारवान् पुरुष ऐसी-ऐसी बातें समझ लेते हैं, जिनका साधारण बुद्धि को कभी आकलन

नहीं हो सकता। तत्त्व-ज्ञान पदार्थ-विज्ञान के सिद्धान्तों पर खड़ा होकर आध्यात्मिक बातों का विवेचन करता है। सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, उसका आदि-कारण क्या है, मनुष्य क्या है, इत्यादि बातों का खुलासा (स्पष्टीकरण) तत्त्व-ज्ञान ही करता है। ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? कर्म और पुनर्जन्म क्या है? मोक्ष किसे कहते हैं और कैवल्य क्या है? ये शुद्ध आध्यात्मिक विषय हैं। इनका निर्णय सामान्य पदार्थ-विज्ञान से कभी नहीं हो सकता। इन विषयों के विवेचन प्राचीन आर्यों के सुसंस्थापित और प्रगल्भ विचारों का प्रतिपक्षी आज तक इस संसार में दूसरा पैदा ही नहीं हुआ और ये विचार आधुनिक सभ्यता की डींग हाँकनेवाले राष्ट्रों को भी चकित कर डालते हैं। अस्तु। इस विषय पर अब अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह बात पाठकों के ध्यान में अवश्य ही आ जायगी कि प्राचीन आर्य-दर्शनों का अभ्यास करके हमें क्या ग्रहण करना चाहिए। यह अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक आधुनिक सुधार के ज्ञान में प्राचीन आर्यों के ज्ञान की मदद न ली जायगी, तब तक आधुनिक ज्ञान से संसार को कुछ लाभ नहीं पहुँच सकता और आज जो वेदान्त-शास्त्र का पुनरुज्जीवन हो रहा है, वह उक्त काम के लिए सबसे अधिक उपयोगी होगा। अतएव अब यह अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं कि यह पुनरुज्जीवन हमारे लिए कितना उपयुक्त है।

तीसरा प्रकरण

पुनर्जन्म

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

—भगवद्गीता ।

सृष्टि के सम्पूर्ण दृश्य चमत्कार कार्य-कारण-भावों के सार्वत्रिक नियम से बद्ध हैं। इन दोनों में से कार्य सदा दृष्टिगोचर होता है ; परन्तु कारण बहुधा अदृश्य रहता है। गुरुत्वाकर्षण नामक जो एक अदृश्य वेग है, उस वेग का कार्य है वृक्ष से आम्रफल का अधःपतन। वह वेग यद्यपि इन्द्रियों को गोचर नहीं है तथापि उसका परिणाम दृष्टिगोचर है। इस रीति से देखने पर मालूम होता है कि जगत् के द्रव्यों के जो अनेक सूक्ष्म रूप हैं और उन रूपों पर जो नाना प्रकार के वेग होते हैं, उन्हीं के कार्य ये सम्पूर्ण दृश्य चमत्कार हैं। यही अदृश्य वेग और द्रव्यों के परमाणु मिलकर सृष्टि के सूक्ष्म शरीर बनते हैं। इन सूक्ष्म वेगों का जब पदार्थ बनता है, तब वह अपने स्थूल परिमाण से देख पड़ता है। इससे हम यह कह सकते हैं कि जितने स्थूल पदार्थ सृष्टि में हमें देख पड़ते हैं, वे सब उसी सूक्ष्म वेग के कार्य हैं, जो द्रव्यों के सूक्ष्म परमाणुओं पर होता है। अब हम यह बात उदाहरणों से व्यक्त करते हैं—आक्सिजन और हाइड्रोजन वायु के सूक्ष्म परमाणु जब रासायनिक वेग से मिश्रित होते हैं, तब वे पानी के सूक्ष्म रूप से देख पड़ते हैं। आक्सिजन और हाइड्रोजन जो पानी के सूक्ष्म घटकावयव हैं, उनसे पानी भिन्न नहीं किया जा सकता। पानी का अस्तित्व उसके घटकावयवों पर अर्थात् सूक्ष्म रूपों पर अवलम्बित रहता है। यह सूक्ष्मावस्था यदि बदल जाती है, तो स्थूल पदार्थों में भी अन्तर हो जाता है। किसी वनस्पति के स्थूल रूप में जो विशेषता देख पड़ती है, वह उस वनस्पति के सूक्ष्म रूप अर्थात् बीज की विशेष अवस्था पर भी अवलम्बित रहती है। सूक्ष्म-दर्शक यंत्र से दिखनेवाला अति सूक्ष्म जीवबिन्दु और

उस जीवबिन्दु से लेकर पूर्णावस्था तक पहुँचा हुआ पुरुष, इन दोनों के बीच में अनेक अवस्थाएँ हैं, उनमें से प्रत्येक अवस्था में अनेक सूक्ष्म शरीर देख पड़ते हैं; उन्हीं सूक्ष्म शरीरों पर उस पुरुष का स्थूल देह अवलम्बित है। मनुष्य मात्र का स्थूल शरीर उसके लिंग-देह के निकट सम्बद्ध रहता है। यही नहीं, किन्तु लिंग-देह के चलन-वलन आदि व्यापार और रूपान्तरों के योग से ही उसके स्थूल शरीर के चलन-वलन आदि व्यापार और रूपान्तर होते हैं। लिंग-देह में यदि कुछ भी अन्तर पड़ जाता है, तो स्थूल शरीर पर भी उसी के अनुसार विकार होता है। इसलिए जब लिंग-देह का ही स्थूल शरीर बना हुआ होता है, तब स्थूल शरीर की उत्पत्ति, वृद्धि और नाश भी लिंग-देह ही के विकार पर अवलम्बित रहते हैं।

यहाँ तक यह विवेचन हुआ कि खनिज-कोटि, उद्भिज-कोटि और प्राणि-कोटियों में लिंग-देह में स्थूल शरीर कैसे बनते हैं। अब यह देखना चाहिए कि लिंग-देह क्या है। लिंग-देह सजीव पदार्थ का सूक्ष्म बीज है। जैसे किसी वनस्पति के बीज में जीवन-वेग और वृद्धि होने की शक्ति दोनों होते हैं, वैसे ही मनुष्य के लिंग-देह में जीवन-वेग से सम्बद्ध हुए अदृश्य द्रव्य परमाणु होते हैं। यही नहीं, बल्कि उसमें वृद्धि को पहुँचनेवाला भावी मनोवेग (Thought-force) भी होता है। वेदान्त-शास्त्र में तो इस लिंग-देह का बहुत अच्छा विवेचन किया हुआ है। जीवन-कला से आकृष्ट होनेवाले पंच महाभूतों के सूक्ष्म परमाणु, पंच ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा, त्वचा), पंच कर्मेन्द्रिय (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा), पंच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान), मन और बुद्धि इत्यादि के सूक्ष्म रूप मिलकर लिंग-देह बनता है। प्राण शब्द का अर्थ जीवन-शक्ति है और यह प्राण यद्यपि एक ही है, तथापि शरीर की भिन्न-भिन्न वायु के पृथक-पृथक कार्य के अनुसार प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच भिन्न-भिन्न नाम पड़े हैं। बाहर की वायु फुप्फुस में लेकर भीतर की वायु बाहर छोड़ना प्राण-वायु का धर्म है। शरीर में जिस

वायु की आवश्यकता नहीं, उसे बाहर छोड़ना अपान-वायु का काम है। पाचन-क्रिया करके शरीर के प्रत्येक भाग में अन्न रस पहुँचाना समान वायु का कर्तव्य है। गले के नीचे उतरे हुए अन्न को जठराग्नि में पहुँचाना और वाचा-शक्ति उत्पन्न करना उदान वायु का कार्य है और पाँचवाँ वायु व्यान नख से लेकर शिख तक शरीर के सब भागों में और नाड़ियों में संचार करके शरीर की आकृति स्थिर रखता है और प्रत्येक इन्द्रिय में ताजगी लाता है। इन पाँचों वायुओं का नाम प्राण है। ये पाँचों वायु जीवन-वेग के रूप हैं। ऊपर बतलाई हुई सूक्ष्म-शक्ति स्थूल-शक्ति, स्थूल शरीर के द्रव्य परमाणु, एक जन्म में मनुष्य के मन पर होनेवाले संस्कार और संकल्प तथा वासना के भावी रूप मिलकर लिंग-देह बनता है। मनुष्य इस जन्म में जितने भिन्न-भिन्न कर्म, मन अथवा शरीर से करता है, अगले जन्म की वासनाएँ और संकल्प उन्हीं के परमाणु हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि पूर्वजन्म के किसी संस्कार का परिणाम अगले जन्म में न हो।

एक जन्म में हम जो शारीरिक और मानसिक कर्म करते हैं और जितने संकल्प मन में लाते हैं, वे सब सूक्ष्म होकर संस्कार रूप से अगले जन्म में कायम रहते हैं। वे संस्कार कुछ काल तक स्तिमित अवश्य रहते हैं; परन्तु नियमित काल के बाद फिर वह गुप्त संस्कारित मन, समुद्र की लहरों की तरह प्रक्षुब्ध होकर भिन्न-भिन्न इच्छाएँ उत्पन्न करता है। उन्हें वेदान्त-शास्त्र में वासना कहते हैं। वासना अर्थात् उत्कट इच्छा। प्राणी को जो नवीन शरीर धारण करने पड़ते हैं, उनका कारण वे वासना ही हैं। ऐहिक सुखों और पदार्थों की प्रबल वासनाएँ जब तक मनुष्य में रहती हैं तब तक उसको अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। चाहे सौ जन्म हो गये हों, तथापि वासना यदि बनी है, तो उसके लिए फिर भी जन्म लेने ही पड़ते हैं। उन प्रबल वासनाओं की गति कुंठित नहीं होती। जब कभी वासना शांत होगी, तभी नवीन जन्मों से छूटना सम्भव होगा।

लिंग-देह में जितने गुप्त संस्कार होते हैं, उन संस्कारों के अनसार

शरीर मन और इन्द्रियों के कर्म होते हैं। वे कर्म कभी अपनी इच्छा के अनुसार होते और कभी इच्छा के विरुद्ध भी हो जाते हैं। यद्यपि हमारे स्थूल भौतिक शरीर की बाढ़, पोषण-क्रिया और अन्य सब विकार अपने अपने कारणों से होते हैं, तथापि सम्पूर्ण कर्म, उन कर्मों के लिए आवश्यक शारीरिक स्थिति और शारीरिक दशा के परिवर्त्तन इत्यादि सब उन गुप्त संस्कारों के बाह्य परिणाम हैं, जो लिंग-देह में संचित रहते हैं। मनुष्य के सारे शरीर से संस्कारों के स्वरूप का जो ऐक्य-भाव होता है, वह ऊपर कही हुई बातों पर अवलम्बित रहता है। इसलिए हममें जो वासनाएँ अत्यन्त उत्कट होती हैं, उनसे अन्वय पानेवाली इन्द्रियाँ बनती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ वासनाओं का बाह्य परिणाम है। यदि हमें क्षुधा अर्थात् अन्न-भाजन की इच्छा न हो, तो दाँत, कंठ और आँतों का कुछ उपयोग नहीं। हमें यदि किसी पदार्थ के ग्रहण करने की अथवा चलन-वलन की इच्छा न होगी, तो हस्त-पादादि अवयव निरुपयोगी हो जायँगे। इसी तरह देखने और सुनने की इच्छा के कारण ही आँख और कान होते हैं। यदि हम हस्तचालन की इच्छा न करें और हाथ का हम बिलकुल ही उपयोग न करें, तो थोड़े ही दिनों में हाथ सूखकर काष्ठवत् हो जाय। ऐसे काष्ठवत् हाथवाले अघोरपंथी लोग पाठकों ने देखे ही होंगे ये लोग एक हाथ का बिलकुल ही उपयोग न करके उसे ऊपर उठाये रहते हैं—इसी कारण इन्हें "ऊर्ध्व-बाहु" कहते हैं। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य छः महीने तक बराबर बिछौने पर पड़ा रहे, तो कुछ दिन बाद उसकी चलने की शक्ति नष्ट हो जायगी। ऐसे उदाहरण भी देखने में आये हैं।

सामान्यतः मानवी प्राणी के शरीर का आकार उसकी इच्छा के अनुरूप होता है। इसी प्रकार व्यक्तिमात्र की जैसी जैसी वासना, इच्छा और विचार होते हैं, वैसे वैसे ही उसके शरीर का गठन होता है और इससे यह जान पड़ता है कि मनुष्य का बाह्य आकार उसके अन्तःस्वरूप का केवल आविष्करण है। अन्तःस्वरूप के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न स्वरूप प्राप्त होते हैं और एक के बाद एक जन्म मिलते हैं।

मनुष्य मरता है; परन्तु उसका जीवात्मा नष्ट नहीं होता। किन्तु वह अदृश्य रूप से कार्य-कारण-भाव के नियमानुसार हमारे जन्म, जिस अक्षय रज्जु से बद्ध होते हैं उस रज्जु में रहता है। यह लिंग-देह अनन्त और अनादि काल से निर्माण हुए जलबिन्दु की तरह है और उसमें चिच्छक्ति समाविष्ट रहती है। जैसे कोई जलबिन्दु कभी मेघों में अदृश्य वाय-रूप से रहता है; कभी पर्जन्य-धारा रूप से, कभी हिम रूप से, कभी बर्फ-रूप से रहता है; कभी कभी फिर उसकी भाप बनती है और कभी कीचड़ में रहता है; परन्तु उसका समूल नाश कभी नहीं होता, यही हाल लिंग-देह का है। वह कभी कभी अव्यक्त रहता है और कभी कभी पूर्व-जन्म की वासनाओं और संस्कारों के अनुसार किसी प्राणी अथवा मनुष्य के स्थूल-रूप से व्यक्त होता है। यह लिंग-देह कभी स्वर्ग को जायगा, कभी आकाश के किसी ग्रहपिंड पर भी जायगा; अथवा इस पृथ्वी पर ही घूम कर फिर जन्म लेगा। ये सब बातें पूर्व-जन्मार्जित वासना के बल पर अवलम्बित रहती हैं। इस विचार का वेदान्त-शास्त्र में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है कि मनुष्य की जीवितावस्था में जो संकल्प, जो वासनाएँ और जो इच्छाएँ उसमें अत्यन्त प्रबल रहती हैं, वे मरण-समय में और भी जोर पकड़ती हैं और उन्हीं के अनुसार मरनेवाले का अन्तःस्वरूप बनता है और वही अन्तःस्वरूप पुनर्जन्म के रूप से व्यक्त होता है। इस रीति से अन्तःस्वरूप बनानेवाले संकल्पों, वासनाओं और इच्छाओं में ऐसी कुछ विलक्षण शक्ति है कि उस शक्ति के योग से उन सब वासनाओं के संतृप्त होने के लिए जो अवस्थाएँ और उपाधियाँ चाहिएँ, उनका चुनाव स्वयं वे संकल्प और वासनाएं ही कर लेती हैं। इस क्रिया को उत्क्रान्ति-तत्त्वाभिमानी लोग "नैसर्गिक चुनाव का नियम" कहते हैं। अँगरेजी में इसे Law of Natural Selection कहते हैं।

उपर्युक्त क्रिया स्पष्ट-रीति से मालूम होने के लिए अब हम यहाँ पर यह देखते हैं कि वनस्पतियों के भिन्न-भिन्न बीज भिन्न-भिन्न द्रव्यों से अपनी आवश्यकता के अनसार भिन्न-भिन्न रसों का कैसे शोषण कर लेते

हैं। हम आम और गुलाब दोनों के पौधे लगाते हैं और दोनों में मिट्टी तथा पानी भी एक ही तरह का डालते हैं। सूर्य की उष्णता भी दोनों में बराबर ही पहुँचती है; तथापि उन दोनों पौधों के बीजों में ऐसा कुछ विशेष धर्म रहता है कि जिसके योग से वे बाहर के द्रव्यों से उतना ही रस खींचते हैं, जितने की उन्हें आवश्यकता होती है। वे बीज ऐसा ही रस आकर्षण कर सकते हैं कि जो उनसे उत्पन्न होने वाले फूल या फल के विशिष्ट रूप की बाढ़ को सहायता देता है। यही हाल मनुष्य का भी है। मरनेवाले मनुष्य का लिंग-शरीर ऊपर बतलाये हुए नैसर्गिक चुनाव के नियमानुसार ऐसी ही अवस्थाओं का चुनाव करता है कि जिनसे अपनी अवशिष्ट वासनाओं को व्यक्त होने की संधि मिले। मनुष्य के मृत होने पर पुनर्जन्म प्राप्त होनेवाली जो अनेक अवस्थाएँ हैं उन्हीं में से माता पिता भी एक अवस्था है। नवीन करनेवाला अन्तःस्वरूप अथवा लिंग-देह नैसर्गिक चुनाव के नियमानुसार ऐसे ही माता-पिताओं का चुनाव करता है, जो उसके योग्य होते हैं और उन्हीं के पेट में वह जन्म के लिए आता है। जैसे किसी की चित्रकला में निपुण होने की बलवत्तर इच्छा है और उसने जन्म भर उत्कृष्ट चित्रकार बनने के लिए प्रयत्न किया; परन्तु वह साध्य नहीं हुआ, तो ऐसी दशा में वह मनुष्य, मरने के बाद ऐसे ही माता-पिता के पेट में आवेगा और ऐसी ही अवस्थाएँ उसे प्राप्त होंगी कि जिनसे उत्तम चित्रकार बनने में उसे सहायता मिलेगी। यहाँ तक जिस क्रिया का वर्णन किया गया, उसे पूर्वीय तत्व-ज्ञान में पुनर्जन्म कहते हैं।

यह पूर्वीय तत्व कि लिंगदेह अपनी अगली अवस्था का चुनाव, नैसर्गिक चुनाव (Law of Natural Selection) के तत्व से करता है और जीवात्मा का पुनर्जन्म है, पश्चिमीय राष्ट्रों में चाहे सर्व-मान्य न हुआ हो, तथापि प्राचीन काल में और आधुनिक काल में भी अनेक प्रकार के लोगों ने अर्थात् महान् तत्ववेत्ता, धर्मोपदेशक, इतिहासकार, साधु, कवि इत्यादि ने निस्सन्देह मान्य किया है। प्रथमतः हम मिसर देश की ओर दृष्टि डालते हैं। वह देश पृथ्वी में बहुत पहले

सभ्य हुआ था। उसमें यह तत्व मान्य था। प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा है कि "मानवी आत्मा अमर है और जब मनुष्य मृत होता है, तब उसकी आत्मा किसी दूसरे शरीर में प्रविष्ट होती है, यह तत्व मिसर देश के लोग प्रतिपादन किया करते थे।" पायथेगोरास नामक जो तत्ववेत्ता हो गया है, उसने और उसकी शिष्य-मंडली ने ग्रीस और इटली देशों में पुनर्जन्म-मत का प्रचार किया है। इस तत्ववेत्ता को मार्ग में एक बार एक कुत्ता जाता हुआ मिला; तब उसने यह जान लिया कि पहले मरे हुए उसके एक मित्र की आत्मा उस श्वान-देह में प्रविष्ट हुई थी; यह बात ग्रीस के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। साक्रेटीस के सच्छिष्य और महान् तत्ववेत्ता प्लेटो ने जो ग्रन्थ रचे, उनकी मुख्य कुर्ज़ी तो पुनर्जन्म ही है। प्लेटो ने एक जगह कहा है:—"हमारे शरीर की अपेक्षा आत्मा अत्यन्त प्राचीन है और वह बार-बार भिन्न-भिन्न जन्म लेती है।" इटली देश के महाकवि वर्जिल और ओविड के काव्यों में जगह जगह पुनर्जन्म का पतिपादन पाया जाता है। ओविड के काव्य का ड्रायडन नामक इंग्लिश कवि ने अनुवाद किया है। उसमें लिखा है कि "मृत्यु में यह शक्ति नहीं है कि वह हमारे अजरामर आत्मा को मार सके। एक देह जब मिट्टी हो जाती है, तब आत्मा नवीन वसति-स्थान ढूँढ़ निकालता है और वहाँ जीव तथा प्रकाश उत्पन्न करता है।" ईरान देश के प्राचीन तत्ववेत्ताओं के धर्म में पुनर्जन्म ही सार था। भारतवर्ष पर चढ़ाई करने के बाद सिकन्दर बादशाह ने आर्य-तत्वज्ञानियों के सहवास से पुनर्जन्म का तत्व मान्य किया था। इसका आधार मिलता है। फ्रांस देश के आदिम निवासी, जिन्हें गाल्स कहते हैं, पुनर्जन्म पर पूर्ण विश्वास रखते थे। यह बात प्रख्यात रोमन ग्रन्थकार और योद्धा जूलियस सीजर ने लिखी है। ब्रिटेन देश के प्राचीन धर्मोपदेशक, जिन्हें ड्राइट कहते हैं, ऐसा मानते थे कि "मनुष्य की आत्मा देह नष्ट होने पर अपने स्वभाव और इच्छा के अनुरूप किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करती है।" पुनर्जन्म प्रतिपादन अरबस्तान के प्राचीन तत्ववेत्ताओं और मुसलमान सूफी पंडितों का प्यारा विषय ही हो गया था। यहूदी लोगों ने

बाबिलोनियो के वन्दिवास के बाद पुनर्जन्म-मत मान्य किया था। उन लोगों में एलिजा नामक जो साधु हो गया है, उसी का अवतार वे जान बाप्टिस्ट को मानते थे। उसी प्रकार यहूदी लोग यह बात मानते रहे हैं कि उनका स्मृतिकार मोजेस और स्वयं ईसामसीह भी पहले के साधुओं के अवतार ही थे। इसके सिवा ईसाई धर्म की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो वहाँ भी हमें यही हाल देख पड़ता है। वह शास्त्र भी कुछ पुनर्जन्म मत से अलग नहीं है। आरिगन नामक जो क्रिश्चियन धर्मोपदेशक हो गया है। वह लिखता है—"दो मनुष्यों में से एक की पुण्य की ओर और दूसरे की पाप की ओर प्रवृत्ति क्यों होनी चाहिए? तथा एक ही मनुष्य की किसी समय पुण्य की ओर तो किसी समय पाप की ओर जो प्रवृत्ति होती है, वह वैसी क्यों होनी चाहिए? यह बहुत ही बड़ा गूढ़ प्रश्न है। देह की उत्पत्ति के बाद जब हम इसका कारण ढूँढ़ने लगते हैं, तो कुछ भी समझ में नहीं आता। इसका कारण ढूँढ़ने में देहोत्पत्ति के पहले का ही विचार करना चाहिए।" ईसाई धर्म में पुनर्जन्म मत का प्रचार इतनी शीघ्रता से होने लगा था कि रोमन लोगों के बादशाह जस्टीनियन को ईसाई शक के बाद ५३८वें वर्ष में कान्स्टेटीनोपल की राज-सभा में एक नवीन कायदा बनाकर इस मत का उच्छेद करना पड़ा। इस कायदे में यह निश्चय किया गया था कि "यह पौराणिक और विचित्र मत कि इस देह के पहले भी आत्मा का अस्तित्व था और आगे भी वह फिर जन्म पावेगा, मान कर जो कोई इसका प्रचार करेगा, वह बहिष्कृत समझा जायगा।" सत्रहवें शतक में केंब्रिज-विश्वविद्यालय के प्लेटो के मतानुयायियों ने पुनर्जन्म का मत मान्य किया था। जर्मनी के इतिहास के मध्यकाल में (ईसाई शक अनन्तर ५०० और १५०० के बीचवाले समय में) होनेवाले और आधुनिक बहुत से जर्मन तत्ववेत्ताओं ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है क्यांट, शेलिंग गोपथ इत्यादि जर्मन-तत्ववेत्ताओं के ग्रन्थों से पुनर्जन्म-मत के पुष्टीकरणार्थ अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं, परन्तु विस्तार भय से यहाँ नहीं दिये गये। नास्तिक शिरोमणि ह्यूम ने आत्मा

के अमरत्व पर जो निबन्ध लिख रक्खा था, वह उसके मरने के बाद प्रकाशित हुआ है। उसमें उसने लिखा है कि "मनुष्य मात्र में अवस्थाभेद, चित्तवृत्तिभेद इत्यादि जो भेद पाये जाते हैं, उनका जब हम तात्विक दृष्टि से विचार करते हैं, तब पुनर्जन्म का मत ग्रहण किये बिना काम नहीं चलता।" आधुनिक पदार्थविज्ञान-शास्त्रवेत्ता प्रो० हक्सले ने लिखा है कि "अविचारी लोग चाहे भले ही कहा करें कि पुनर्जन्म का मत असम्भाव्य है, परन्तु जगत् की वास्तविक दशा का सच्चा ज्ञान होने के लिए जिस प्रकार उत्क्रान्ति तत्व के मत की आवश्यकता है, उसी प्रकार पुनर्जन्म के मत का मानना भी अत्यन्त आवश्यक है। यह मत मान्य किये बिना जगत् की अनेक बातों का खुलासा नहीं हो सकता।" ईश्वर-ज्ञानवेत्ता ईमर्सन ने अपने 'अनुभव' नामक निबन्ध में कहा है कि "हम जब जागृत होकर देखते हैं, तब ऐसा भास होता है कि मानो हम सोपान-परम्परा के मध्य भाग में बैठे हैं। नीचे दृष्टि डालने पर जान पड़ता है कि हम बहुत सी सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर आये हैं और जब हम ऊपर की ओर देखते हैं तब देख पड़ता है कि अभी हमें बहुत सी सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ना है। इसके सिवा कुछ सीढ़ियों का तो हमें पता भी नहीं लगता।" वर्डस्वर्थ और राजकवि टेनिसन इत्यादि श्रेष्ठ कवियों ने भी पुनर्जन्म के मत को माना है। विटेमन कवि ने कहा है कि "हे जीवात्मा तू अनेक बार मरकर फिर भी बच रहा है। मैं पहले दस हजार बार मृत हुआ हूँ, इसमें कोई शंका नहीं।"

अफ्रिका, अमेरिका और एशिया महाद्वीपों में आदिम जंगली लोगों में भी पुनर्जन्म-मत दृष्टि पड़ता है। एशिया के तीन चौथाई लोग इस मत पर विश्वास रखनेवाले हैं। संसार की पीठ पर ऐसा एक भी धर्म नहीं मिल सकता, जिसमें मृत्यु के बाद जीवात्मा का अस्तित्व न माना गया हो।

अब हम अल्पवय में ही अलौकिक बुद्धिमत्ता के उदाहरणों की ओर ध्यान देते हैं। पास्कल नामक एक बड़ा विद्वान् हो गया है। उसने बारह वर्ष की ही अवस्था में सरल भूमिति के मुख्य प्रमेय ढूँढ़ निकाले

थे। मंगिया मेलो एक धनगर था। उसने पाँच ही वर्ष की उम्र में गणित के कठिन उदाहरण सहज कर डाले थे। उसका नाम लोगों ने "गणित का यंत्र" रक्खा था। कालबर्न नामक एक विद्वान् आठ वर्ष की उम्र के पहले ही पाटी पर अंक न लिख कर मुखाग्र ही गणित के प्रश्न तत्काल हल कर देता था। एक बार उसने ८वीं संख्या का षोड़श-घात मुख ही से कर दिखलाया था। उस षोड़श-घात की संख्या पन्द्रह अंकों की अर्थात् २८, १४, ७४, ६७, ६७, १०, ६५६ थी! वह छः अंकों की रकम का वर्गमूल और दस करोड़ संख्या का घनमूल पूछते ही ठीक-ठीक बतला देता था। एक ने उससे पूछा कि ४८ वर्षों के कितने मिनट हुए? इस पर उसने तुरन्त ही बतला दिया कि २,५२,८८,८००। मोजार्ट नामक प्रसिद्ध गायन-शास्त्रज्ञ ने अपनी चार ही वर्ष की अवस्था में पदों की रचना की और आठ वर्ष की उम्र में तो उसने एक संगीत नाटक ही लिख डाला। मिलानोला नामक एक स्त्री तंतुवाद्य में बड़ी प्रवीण हो गई है; वह बहुत ही छोटी उम्र में बहुत अच्छी सारंगी बजा लेती थी। यह देख कर बहुत लोग कहते रहते कि जन्म लेने के पहले ही उसने तन्तुवाद्य का अभ्यास कर लिया होगा। इसी तरह अनेक अलौकिक शक्ति के चित्रकार और शिल्पज्ञ हो गये हैं, जिन्होंने बाल्यावस्था में ही अपनी बुद्धिमत्ता का प्रभाव दिखला कर लोगों को चकित कर दिया है। श्रीमत् शंकराचार्य ने बारह वर्ष की ही अवस्था में उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचा है। ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, अतएव इसे पूर्वजन्म का संस्कार ही कहना चाहिए। होमर, प्लेटो, शेक्सपियर इत्यादि लोकोत्तर पुरुषों ने बाल्यावस्था में जो अलौकिक बुद्धिमत्ता प्रकट की, उसका सम्बन्ध उनके पूर्वजों में से किसी में भी नहीं लगाया जा सकता। अतएव यही कहना पड़ता है कि उनकी बुद्धिमत्ता के कारण का समाधानकारक उत्तर पुनर्जन्म तत्त्व ही है। कहते हैं कि तुलसीदास ने वाल्मीकि का अवतार लिया, उद्धव ने नामदेव का अवतार लिया और शुक ने कबीर का अवतार लिया। वे जन्म से ही भगवद्भक्त बने और जगत् को चकित

कर डालनेवाले प्रासादिक ग्रन्थ उन्होंने लिखे। यह सब पूर्वजन्मार्जित कर्म का फल है, यह बात वेदान्त-शास्त्र ने सिद्ध की है।

अखिल जगत् के दृश्य पदार्थों में जो विचित्र प्रकार, भेद और विषमता दृष्टि पड़ती है इस पर वेदान्त-शास्त्र का निश्चित मत यही है कि मनुष्य जब मृत होता है, तब उसकी जीवात्मा संकोच पाती है और पूर्व देह छोड़ कर अन्य किसी जीव के बीज-रूप से बाहर निकलती है। एक मनुष्य साधु रहता है और दूसरा हत्यारा बनता है, इसका मुख्य कारण उन दोनों व्यक्तियों के पूर्वजन्म के कर्म ही हैं। लिंग-देह में जो गुण-धर्म संचित होकर रहते हैं, वही आगे चलकर मनुष्य के स्वभाव में दृष्टि पड़ते हैं। कई लोगों में बिलकुल बचपन ही से अलौकिक बुद्धि-मत्ता और शक्ति देखी जाती है। ऐसा क्यों होना चाहिए? इसका समर्पक और तर्कशास्त्र के लिए समाधानकारक विवरण पुनर्जन्म-मत का स्वीकार करने ही पर हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इसके सिवा वेदान्ती लोग पुनर्जन्म का प्रतिपादन इस रीति से भी करते हैं कि जगत् में जितनी घटनाएँ और जितनी क्रियाएँ होती हैं, उनमें से कोई भी निष्फल नहीं होती। उनका कोई न कोई परिणाम अवश्य होता ही है। आधुनिक पदार्थ-विज्ञानवेत्ताओं का जिस प्रकार यह मत है कि प्रत्येक वस्तु बहुत होगा तो टूट जायगी या फूट जायगी, परन्तु समूल नाश उसका कदापि नहीं होगा, यही वेदान्त-शास्त्र का भी मत है। वेदान्त-शास्त्र में स्पष्ट कहा है कि अभाव का कदापि भाव नहीं हो सकता और भाव का अभाव नहीं हो सकता। अर्थात् जो वस्तु पहले कभी अस्तित्व में नहीं थी, उसका अस्तित्व में आना भी असम्भव है; और इसके विरुद्ध जो वस्तु किसी-न-किसी रूप से अस्तित्व में होगी, वह वस्तु कभी बिलकुल नष्ट भी नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में बहुत ही विचारणीय है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

इस गीताशास्त्र का भी भावार्थ वही है जो ऊपर हम लिख चुके हैं। यह सृष्टि-धर्म ही है। इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि

आज हमारे मन में जो संकल्प उठे और मन पर जो संस्कार हुए उनका समूल नाश कभी नहीं हो सकता। किन्तु वे संस्कार और संकल्प हमारे साथ किसी-न-किसी स्वरूप से सदा रहेंगे ही। आत्मा एक शरीर छोड़ कर दूसरे में प्रविष्ट हो जाता है, तथापि जिन जिन घटकावयवों से यह शरीर बना है, वे घटकावयव संस्कार और संकल्प अव्यक्त रूप से लिंग-देह में जैसे के तैसे रहने ही चाहिए। सृष्टि के नियमानुसार उनका समूल नाश होना असम्भव है। पदार्थ-विज्ञान का एक ऐसा भी सिद्धान्त है कि जो जो वस्तु अव्यक्त अथवा भविष्य में प्रकट होनेवाली अवस्था में रहती है, यह कभी न कभी तो स्पष्ट-रूप से व्यक्त होनी ही चाहिए। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह निश्चित होता है कि कभी न कभी ये शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर अवश्य धारण करने पड़ेंगे। श्रीमद्भगवद्-गीता के—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

इस वचन का अर्थ भी यही है कि जितने प्राणियों ने जन्म लिया है, वे निश्चय करके मरेहींगे और जो जो मरेंगे, वे फिर जन्म धारण करेंगे। जीव-मात्र को इस जन्म-मरण की परम्परा से होकर जाना ही चाहिए। सिर्फ ज्ञानी जन्मातीत होते हैं।

पुनर्जन्म के मत पर एक यह आक्षेप भी किया जाता है कि यदि यह कहा जाय कि हमें पहले अनेक जन्म मिल चुके हैं, तो फिर उनमें से किसी जन्म की याद क्यों नहीं रहती? जब वह याद ही नहीं रहती, तब पुनर्जन्म क्योकर सम्भव हो सकता है? यह आक्षेप इतना प्रबल है कि बहुत से लोग सिर्फ इसी के कारण पुनर्जन्म के मत को अस्वीकार करते हैं। ये लोग यह विचार नहीं करते कि वर्तमान जन्म की कुमारा-वस्था या पौगंड दशा में जो अनेक बातें होती हैं, उन्हीं में से कितनी बातों का स्मरण हमें रहता है! इसी जन्म की एक अवस्था की बातों का स्मरण जब दूसरी अवस्था में नहीं रहता, तब फिर पुनर्जन्म का स्मरण कैसे रह सकता है! किसी को यदि अपनी बाल्यावस्था में की हुई लीला का स्मरण न रहे, तो इससे वह यह थोड़े ही कह सकता है कि मेरी

बाल्यावस्था हुई ही नहीं ? ऐसा वह कदापि नहीं कह सकता। इसी प्रकार यदि किसी से पूछा जाय कि सन् १८८५ के मई महीने की चौबीसवीं तारीख को दोपहर के समय तुम क्या करते थे ? और इसका उत्तर यदि वह न दे सके, तो इससे क्या यह कहा जा सकता है कि उस तारीख को वह बिलकुल था ही नहीं ? नहीं। उसे याद नहीं है, तथापि वह उस तारीख को था अवश्य। इस जन्म की बातों का स्मरण जो हमें नहीं रहता, उसका कारण यही है कि हमारी धारणा शक्ति दुर्बल और अपूर्ण है। हमारे मन में बालपन से अब तक जितने संकल्प और विचार आ चुके और स्वप्न में जो जो कुछ हमने देख डाला, उस सब की यदि हम याद कर सकते हैं, तो फिर पूर्वजन्म की बातों का भी हमें यथार्थ स्मरण हो सकता है। परन्तु योगाभ्यास के बिना इस प्रकार का ज्ञान असम्भव है। यह बात सब दर्शनों को अभिमत है। न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्त-मुक्तावली में कहा है कि "योगाभ्यास के द्वारा एक ऐसी विचित्र शक्ति योगी में उत्पन्न होती है कि जिससे सारी पृथ्वी के पदार्थों का ज्ञान उसे सदैव होता रहता है।" स्मरण की जो बातें साधारण लोगों को असम्भव मालूम होती हैं, वे सब योग-बल से सुलभ हो जाती हैं। कुछ सिद्ध पुरुष ऐसे पाये जाते हैं कि उन्हें अपने पूर्व के सब जन्मों की याद तो रहती है; किन्तु इसके सिवाय वे अन्य लोगों के पूर्वजन्मों की बातें भी तत्काल बतला देते हैं। इन सब का कारण 'धारण' नामक अप्रतिम शक्ति है। इस शक्ति की वृद्धि करने का उपाय योगी को अच्छी तरह मालूम रहता है और इसी के द्वारा उन्हें पूर्वजन्म की बातों का ज्ञान होता है। नारायणोपनिषद् में—

नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्तु।

इत्यादि जो मंत्र है, उसका भाष्य पढ़ने से यह सब को मालूम हो सकता है। आर्य लोगों में इस मंत्र की बड़ी योग्यता मानी गई है। बहुत से प्राचीन विद्वानों ने इस मंत्र के पुरश्चरण किये हैं। अधिक क्यों ? योगीजन तो यहाँ तक कहते हैं कि काल और दिक् ये द्रव्य अपरिच्छिन्न और अनन्त हैं, तथा हम और हमारा मन अवश्य

ही मर्यादित और परिच्छिन्न है। इस मर्यादा का उल्लंघन करने की यदि इच्छा हो, तो योगाभ्यास करना चाहिए। इससे हमारा चित्त परिच्छेदातीत हो सकता है और वर्त्तमान काल की वस्तुएँ जिस प्रकार स्पष्ट देख पड़ती हैं, उसी प्रकार भूत भविष्यत् की वस्तुओं का भी ज्ञान हो सकता है। यह प्रसिद्ध ही है कि गौतम बुद्ध को पूर्व जन्मों की स्मृति थी। अतएव जिन्हें इस बात की जिज्ञासा हो, उन्हें बड़े उत्साह और धैर्यबल से योगाभ्यास करना चाहिए, इससे पूर्व घटनाओं का उन्हें अवश्य ही स्मरण होगा।

पूर्वजन्म की बातें मालूम करने में समय और मानसिक शक्ति का व्यय न करते हुए भावी बातों में उत्तमता लाने और अपनी भावी अवस्था सुधारने में यदि उनका उपयोग किया जाय तो अधिक फायदा होगा। क्योंकि पूर्ण स्थिति का स्मरण होने से कदाचित् वर्तमान काल का भी दुरुपयोग होना सम्भव है; वह उद्विग्नता और दुःख का भी कारण हो सकता है और विपन्न स्थिति भी उससे प्राप्त हो सकती है। इस दृष्टि से तो यह ईश्वर की कृपा ही समझनी चाहिए, जो हमें पूर्वजन्म की बातों का स्मरण नहीं होता। पूर्वजन्म की बातों का निश्चय करने में अपना अमूल्य समय खराब न करना चाहिए; किन्तु अगली उन्नति की ओर दृष्टि रखकर उसी मार्ग को स्वीकार करना चाहिए कि जिसके द्वारा आत्मोन्नति हो और जीवनमुक्त स्थिति के उच्च पद तक हम पहुँच सकें। सम्पूर्ण जगत् का नियन्ता जो परमेश्वर है, उसका ज्ञान होने पर—उससे हमारा सारूप्य होने पर—ऐसी कोई बात नहीं रह सकती, जो हम से गुप्त रह सके। सच्चिदानन्द का स्वरूप जहाँ हमारे हृदय में प्रकट हो गया कि बस फिर काल और दिक् का प्रतिबन्ध रह ही नहीं सकता और भूत तथा भविष्यत् वर्तमान से संलग्न हो जायँगे।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

—भगवद्गीता।

अर्थात् हे अर्जुन, मेरे आज तक बहुत जन्म हो चुके तथा तुम्हारे

भी हो चुके। अपने जन्मों का ज्ञान मुझे है, पर तुम्हें तुम्हारे जन्मों का अवश्य ही कुछ ज्ञान नहीं है। यह जो कृष्ण ने अर्जुन से कहा है उसका अनुभव तभी होगा।

चौथा प्रकरण

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण

एत ँ ह वाव न तपति। किमह ँ साधु नाकरवरम्।
किमहं पापमकरवमिति।

—तैत्तरीयारण्यक।

यह चराचर सृष्टि परमेश्वर ने अपने स्वरूप से निर्माण की और वह सर्वात्म-स्वरूप से प्रत्येक उपाधि में विराजमान हुआ है। परमेश्वर ने अनन्त नाम और अनन्त रूप धारण किये हैं, तथापि अपने स्वरूप की, गुणों की, शक्ति की और ऐश्वर्य की अति सूक्ष्म जो प्रतिमा उसने उत्पन्न की है, उस प्रतिमा को 'मनुष्य'—संज्ञा है। मनुष्य ने जगत् के पंच-महाभूतों के स्वरूप सूक्ष्मता के साथ एकत्र हुए हैं। यही नहीं, बल्कि अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा यह विशेषता है कि मनुष्य में विचित्र विचार-शक्ति होती है और वह स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से—अर्थात् जिसे अँगरेजी में Free will कहते हैं—युक्त है। इस गुण के अतिरिक्त परमेश्वर मनुष्य की उन्नति या अवनति की सब प्रकार की जवाबदारी Responsible उसी पर रक्खी है। अन्य प्राणियों की ही तरह मनुष्य को भी ईश्वर ने बुद्धि दी है; तथापि उसने मनुष्य-बुद्धि में जो सारासार विचार-शक्ति रक्खी है, उसका अन्य प्राणियों में अभाव है, अतएव अन्य प्राणियों पर उनकी उन्नति अथवा अवनति की जवाबदारी नहीं आती। अन्य प्राणी केवल देहधारी हैं और उन्हें जीवन-परिचर्या के लिए आवश्यक व्यवहार करने भर का ही ज्ञान रहता है। आहार, भय, निद्रा, मैथुन और प्रबल के द्वारा निर्बल का खाया जाना—बस इतने ही से उनका इति कर्तव्य समाप्त हो जाता है। इससे अधिक जगत्

व्यापार वे कोई नहीं करते। व्याघ्र, सिंह आदि श्वापद जन्तुओं को क्या कभी किसी ने चौमासे का भोजन-सामान एकत्र करते देखा है? नहीं। वे जो कुछ करते हैं उसका उपयोग दिनचर्या की तैयारी के आगे नहीं जाता। इसका कारण यही है कि मनुष्येतर सब योनियाँ सिर्फ भोग-योनियाँ हैं। कर्तव्य-योनि सिर्फ मनुष्य प्राणी की है। हमारे द्वारा यदि अच्छे कर्म होते हैं, तो उनके भोगार्थ दिव्य शरीर प्राप्त होते हैं और यदि अति नीच कर्म होते हैं, तो उनके उपभोगार्थ मनुष्येतर देह प्राप्त होती है। मनुष्य-योनि में सारी कर्तव्यता और शक्ति है, इसी कारण मनुष्य-जन्म सर्वश्रेष्ठ माना गया है। परमेश्वर ने मनुष्य को विचार-शक्ति के द्वारा पूर्ण समर्थ कर दिया है और इसी शक्ति के बल से वह परमात्मा में लीन होकर जन्म-मरण-रहित होता है। वास्तव में देखिए तो जीवन के लिए (जीवात्मा के लिए) जन्म मरण नहीं है। तथापि अज्ञान जब दूर हो जाता है तब उसे फिर स्वरूप की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपने कर्मानुसार भोग भोगने के लिए भिन्न देह धारण करता है और उसी से संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण के विचार निष्पन्न होते हैं। श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी ने श्रुतियों के अनुसार क्रियमाण संचित और प्रारब्ध की व्याख्या इस प्रकार की है:—(१) वर्तमान काल में जीव के हाथ से जो कर्म होता है और जिसका फल आगे क्रमानुसार आनेवाला है—ऐसा जो कर्म हो रहा है, उसे क्रियमाण-कर्म कहते हैं, (२) यह क्रियमाण-कर्म जिस पिछले कर्म-भांडार में जाकर जमा होनेवाला है, उस कोश को संचित-कर्म कहना चाहिए और (३) जन्म से मरने तक संचित-कर्म के कोश से शरीर के साथ नित्य भोगार्थ जो कर्म आता है उसे प्रारब्ध-कर्म कहना चाहिए।

आर्य-तत्त्वज्ञान के अनुसार आत्मज्ञान होने के बाद अर्थात् मैं देह से अलग हूँ—यह पूरे तौर से मालूम हो जाने पर और उसके अनुसार आचरण होने पर संचित और क्रियमाण का नाश होता है। यह दोनों की व्यवस्था हुई। परन्तु इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्धकर्म

मनुष्य को कदापि नहीं छोड़ता। इतना विचार होने पर दो वाद उत्पन्न होते हैं—(१) प्रारब्ध-वाद, (२) प्रयत्न-वाद। इन दोनों वादों का प्रत्येक के जीवन-चरित्र से बड़ा घना सम्बन्ध है। इन दोनों वादों का सच्चा तत्व न समझने के कारण आर्य लोगों के आचार-विचारों के विषय में पाश्चात्य पंडितों और आधुनिक विद्वानों के और के और ही मत हो गये हैं। उनके इस भ्रम की यहाँ तक नौबत पहुँच गई है कि वे एक तरफ से यह आरोप करते हैं कि जितने आर्य हैं, सब प्रारब्धवादी हैं। प्रारब्धवादी की संज्ञा निन्दा-व्यञ्जक है और हमें प्रारब्धवादी कहने के लिए श्रुति और आर्य-तत्वज्ञान में कोई भी आधार नहीं है। इसके विरुद्ध योगवासिष्ठ में तो प्रयत्न ही को प्रधानता दी गई है।

इस वाद के विषय में योगवासिष्ठ ग्रन्थ की विचार-श्रेणी ऐसी है कि पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का फल यदि इस जन्म में मिलना ही है और वह हमारा कर्म यदि सर्वोत्कृष्ट है, तो जीवन्मुक्ति आप-ही-आप प्राप्त होगी। उसके लिए प्रयत्न क्यों करना चाहिए? इस शंका का समाधान यह है कि पूर्व कर्मानुसार यदि हमें फल प्राप्त होता है, तो कृषि, वाणिज्य आदि जो प्रयत्न के मार्ग हैं, वे निष्फल होने लगेंगे और कोई प्रयत्न ही न करेगा। वास्तविक दशा ऐसी है कि जिसे हम कर्म कहते हैं, उसका रूप अदृष्ट रहता है। दृष्ट साधन की सम्पत्ति के बिना यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक कर्म का फल अमुक ही मिलेगा। अतएव कृषि-वाणिज्य की तरह जीवन्मुक्ति के लिए भी प्रयत्न करना ही चाहिए। कृषिकर्म में प्रयत्न करने पर भी (अनावृष्टि इत्यादि के कारण) जब फल नहीं देख पड़ता, तब ऐसा समझना चाहिए कि कृषि का फल उत्पन्न होने योग्य जो हमारा कर्म है, उसमें विघ्न डालने के लिए उससे भी प्रबल कोई दूसरा कर्म अर्थात् घूस लगना अथवा टिड्डीदल का आना, आ गया है। कर्म-फल में इस प्रकार का प्रतिबन्ध उपस्थित होने पर आर्यशास्त्र में कहा है कि कारीरीष्ट्यादि क्रिया करके उस प्रतिबन्ध को दूर करना चाहिए। यह बात कृषि-वाणिज्य के विषय में हुई। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति के मार्ग में भी यदि प्रारब्ध-कर्म विघ्न डालने लगे, तो योगाभ्यास-रूप पुरुष प्रयत्न

करके उसका प्रतिबन्ध करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारब्ध-कर्म-भोग किये बिना नहीं मिटता; परन्तु योगाभ्यास प्रारब्ध-कर्म से भी प्रबल कहा है। यहाँ तक कि योग के द्वारा प्रारब्ध-कर्म नाश तक किया जा सकता है। प्रारब्ध-भोग मिटाने के लिए शास्त्रों में क्रिया बतलाई गई है।

आर्यशास्त्रों ने ऐसा दैव-वाद कहीं नहीं कहा कि भाग्य के भरोसे हाथ-पर-हाथ रक्खे बैठे रहो। यदि कोई यह कहेगा कि शास्त्रों ने जो प्रयत्न निर्दिष्ट किये हैं, वे व्यर्थ हैं, तो वैद्यक शास्त्र की चिकित्सा से लेकर वेदान्तशास्त्र के मोक्षोपयोगी योगाभ्यास तक सब में आनर्थक्य आ जायगा। कर्म करते हुए बीच में जो प्रतिबन्ध होता है, उतने ही से कर्म कोई छोड़ता नहीं और छोड़ना भी न चाहिए। लड़ाई में किसी जगह पराजय होने से सेनापति अपने बाकी अश्वारोही, पैदल और तोपखाना इत्यादि लौटा नहीं ले जाता। आनन्दबोधाचार्य कहते हैं कि अजीर्ण होने की शंका से कोई आहार का परित्याग नहीं करता। इस डर से कि भिक्षुक आकर तंग करेंगे, कोई भी स्थाली नहीं छोड़ता और 'जूँ' के भय से कोई वस्त्र का त्याग नहीं करता।

उपर्युक्त विवेचन से प्रयत्न की प्रबलता प्रकट होती है। महामुनि वसिष्ठ ने श्रीरामचन्द्र को जो सदुपदेश दिया, वह इस स्थल में विचारणीय है। उन्होंने कहा कि हे रघुनन्दन, इस संसार में सब प्रकार का पुरुषार्थ करने से चाहे जो सिद्ध हो सकता है। अपने अनुकूल कुल-स्त्री देखकर उससे विवाह करना चाहिए और यदि मालूम हो कि नियमित अवधि में उससे पुत्र नहीं हुआ और प्रजातन्तु का व्यच्छेद होता है तो स्त्री-पुरुष के दोषों का विचार करके उनके निवारण के लिए शरीर की औषधिक्रिया करनी चाहिए। इससे भी यदि पुत्रोत्पत्ति न हो, तो पुत्र-काम्येष्टि यज्ञ करना चाहिए। इसी प्रकार यदि द्रव्यार्जन करना हो, तो कृषि, वाणिज्य आदि उद्योग करना चाहिए। और यदि स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा हो, तो ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिये। ब्रह्मलोक की प्राप्ति करना हो, तो ब्रह्मोपासना करनी चाहिए। इस प्रकार बालपन से अनेक

शास्त्रों का अध्ययन और सत्समागम करके बड़े साहस से चाहे, जिस तरह प्रयत्न करके इच्छित अर्थ सिद्ध कर लेना चाहिए। इस उपदेश में वशिष्ठजी ने प्रयत्नवाद सिद्ध किया है। इस पर श्रीरामचन्द्र ने यह आशङ्का की कि आप यह ठीक कहते हैं कि पुरुषार्थ करना चाहिए; परन्तु पूर्वजन्म के कर्मों का जो वासना-रूप अवशिष्ट रहता है, उसके अनुसार जब मैं कर्म करता हूँ, तब वासनाबद्ध होने के कारण मेरे हाथ से आपके कथनानुसार पुरुषार्थ कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान वसिष्ठजी ने इस प्रकार किया है—हे रघुनंदन, तुम वासना के अधीन हुए हो, इसीलिए वासना-पारतंत्र्य का निवारण करने के लिए पुरुष-प्रयत्न करना चाहिए। तभी वासना जाल से छूटोगे। ये वासनाएँ शुभ और अशुभ दो प्रकार की हैं। यदि तुम शुभ वासनाओं से प्रेरित हुए होगे, तो समझो कि इच्छित कार्य हो ही गया। परन्तु यदि अशुभ वासनाएँ प्रबल होकर तुम्हें संकट में डालने के लिए प्रवृत्त होती होंगी, तो अशुभ वासनाओं को दूर करनेवाले जो कर्म शास्त्र में कहे हैं उन्हें बड़े उत्साह से करके उन वासनाओं को जीत लो। अशुभ वासनाओं को शुभ मार्ग पर लाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। पूर्व-कर्मों की प्रबलता हमारे ऊपर भले ही बनी रहे, तथापि परमेश्वर ने हमें जो सारासार विचार-शक्ति दी है उसका उपयोग हमें अवश्य करना चाहिए। सिर्फ यही कह देने से कि मैं पूर्व-कर्म से बद्ध हूँ, क्या करूँ, मनुष्य जवाबदारी से नहीं छूट जाता। जब असद्वासनाएँ आकर हमें घेरें, तब साधु-चरणों की ओर दौड़ना चाहिए और वेदान्त-शास्त्र जो सबसे मुख्य है, उसका रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। छोटा लड़का यदि मिट्टी खा लेता है, तो उसे फल दिखाकर जैसे उसका मन मिट्टी खाने से परावृत्त किया जाता है, उसी प्रकार चित्त को दुस्समागम से छुड़ा कर सत्समागम और सच्छास्त्र-विचार की ओर लाना चाहिए।

इससे जान पड़ता है कि वसिष्ठ आदि आचार्यों ने प्रारब्धवादियों की अपेक्षा प्रयत्नवादियों को ही श्रेष्ठता दी है। एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रयत्नवाद और प्रारब्धवाद की क्रिया की

घटना कुल एक ही होती है अर्थात् प्रारब्धवादी को भी प्रयत्न की प्रबलता स्वीकार करनी पड़ती है। उसमें भेद इतना ही है कि कर्मों के रूप अदृष्ट रहते हैं ; इसलिए जो फल मिला है, वह किस कर्म से मिला, यह स्पष्ट नहीं बतलाया जा सकता। किसी को कर्म का फल इस जन्म में बिना किसी प्रयत्न के ही प्राप्त होता है और किसी को बहुत परिश्रम करने पर वही फल मिलता है—ऐसा क्यों होता है ? इसका विचार करने पर मालूम होता है कि जिसे अचानक फल मिल जाता है, उसका उस विषय का प्रयत्न पूर्वजन्म का ही तैयार रहता है और जिसको वही फल दीर्घ प्रयत्न करके प्राप्त करना पड़ता है, उसके पूर्व-कर्म की कमाई नहीं रहता। कर्म और फल का स्पष्ट सम्बन्ध न जान पड़ने के कारण ही प्रारब्ध कर्म को अदृष्ट की संज्ञा मिली है। छत्रपति शिवाजी महाराज को स्वराज्य प्राप्त करने में पराकाष्ठा के प्रयत्न करने पड़े और श्रीमान् सयाजीराव महाराज गायकवाड़ दत्तक लिये गये और उन्हें अनायास ही राज्य मिल गया। अब यहाँ यह समझना चाहिए कि गायकवाड़ महाराज को राज्य-पद-रूप फल की प्राप्ति संचित-कर्म के कारण ही हुई और शिवाजी महाराज को दीर्घ प्रयत्न करने पर हुई। दोनों में प्रयत्न का महत्त्व बराबर ही चमक रहा है। उसमें अन्तर केवल इतना ही है कि एक का प्रयत्न अदृष्ट है और दूसरे का दृष्ट है।

दृष्ट और अदृष्ट प्रयत्नों के विषय में अलंकार-शास्त्र में भी उपर्युक्त मत ही ग्राह्य किया गया है। कुछ ग्रन्थों के आरम्भ में मंगलाचरण करने पर भी उनकी योग्य परिसमाप्ति नहीं हुई और कुछ ग्रन्थ मंगलाचरण किये बिना ही निर्विघ्नता से पूर्ण हो गये हैं। इसके लिए क्रमशः 'कादम्बरी' और 'किरणावलि' उदाहरण के तौर पर मौजूद हैं। ऐसे स्थल में यही सिद्धान्त ठहरता है कि यद्यपि कादम्बरी ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण किया गया था, तथापि पूर्व विघ्न-बाहुल्य के कारण वह पूर्ण नहीं हो सका और 'किरणावलि' में पूर्व-कृत कर्म मंगल हो गया, इसलिए उसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति हो गई है।

प्रारब्ध अथवा प्रयत्न से चाहे इच्छित फल प्राप्त हो जाय, तथापि

उसके उपभोग के लिए भी प्रयत्न अवश्य करना ही पड़ता है। शिवाजी महाराज अथवा गायकवाड़ महाराज को राज्य-पद प्राप्त हो गया, तथापि उनके प्रयत्नों की मर्यादा नहीं समाप्त हुई। आगे राज्य-सुख का उपभोग करने के लिए नीति से प्रजा-पालन करने और शत्रु-दमन करने का प्रयत्न बराबर जारी रखना दोनों के लिए आवश्यक है। यह प्रयत्न यदि न किया जाय तो प्राप्त फल अनुपभुक्त रहेगा और अन्त में नष्ट भी हो जायगा। इससे यह सिद्ध होता है कि अदृष्टानुरूप जो फल जीव को प्राप्त होता है, उस फल के उपभोगार्थ फिर उर्वरित कर्म अथवा प्रयत्न करना ही पड़ता है।

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

अर्थात् प्रारब्ध-कर्म-फल का क्षय भोग के बिना नहीं होता, यह श्रुतियों का सिद्धान्त है। उस फल के उपभोगार्थ जो प्रयत्न अथवा क्रिया करनी पड़ती है, वह क्रिया सिद्ध-फल का उपभोग तो कराती ही है, किन्तु अनेक नवीन कर्म और फल उत्पन्न करती रहती है। इस कारण पूर्वभोग समाप्त नहीं होने पाते और उनमें नवीन नवीन भोगों की अधिकता होती जाती है, इससे जीव और भी फँसता जाता है, अतएव परिभ्रमण में पड़ जाने के कारण उसका छुटकारा नहीं होता। इसी प्रकार कर्म और फल-भोग के चक्र में बराबर उलझा-उलझी होती रहती है।

उद्दिष्ट कर्मफल-भोग में कितनी उलझने खड़ी हो जायँगी, इसका कोई पता भी नहीं चलता। उद्दिष्ट फल प्राप्त करने के लिए दृष्ट कर्म अथवा प्रयत्न होते समय अन्तर्गत कौन से अदृष्ट कर्म घटित होंगे, उनके कौन से अदृष्ट फल तैयार होंगे और वे कब और कैसे भोगने पड़ेंगे, यह यथार्थ समझना अत्यन्त दुर्घट है और इसी से यह सिद्धान्त हुआ है कि—

कर्मणो गहना गतिः।

कर्म की गति दुर्विज्ञेय और अनिवार्य है। हम जिसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं, उसके पंचदशी में तीन भेद बतलाये गये हैं। (१) इच्छा-प्रारब्ध, (२) अनिच्छा-प्रारब्ध, (३) और परेच्छा-प्रारब्ध। इनमें से

इच्छा-प्रारब्ध के स्पष्ट उदाहरण अपथ्य-सेवी चोर, राजदारा-रत इत्यादि प्रकार के पुरुष हैं। यद्यपि उन्हें यह मालूम है कि इन कर्मों के करने से अनर्थ होंगे, तथापि पूर्वकर्म के बल पर वे वही कर्म करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह असत्कर्म-प्रवृत्ति ईश्वर के द्वारा भी टलना असम्भव है। क्योंकि भगवद्गीता में कहा है कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

अर्थात् पुरुष चाहे विवेक ज्ञान सम्पन्न हों, तथापि पूर्वजन्म में किये हुए धर्माधर्म का जो संस्कार वर्तमान काल में दिखाई देता है, उसके अनुसार ही वह कर्म करेगा। जिसे देखिए वही अपने स्वभाव पर जाता है। ऐसी दशा में निग्रह करने से क्या लाभ हो सकता है?

अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः॥

—पंचदशी

जो बातें अवश्य होनेवाली हैं, उनका प्रतीकार यदि निग्रह से होना सम्भव होता तो राजा नल, रामचन्द्र, युधिष्ठिर आदि महात्मा संकट में कभी न पड़े होते।

भगवद्गीता में अनिच्छा-प्रारब्ध सम्बन्धी जो श्रीकृष्णार्जुन का सम्वाद है, वह इस प्रकार है :—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुष।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण, जैसे किसी की इच्छा न होते हुए उसे पकड़ कर पाप-कर्म में लगाया जाय, तो इस रीति से वह पुरुष जो पाप-कर्म करता है, उसे उस पाप के करने में प्रवृत्त करनेवाला कौन है? इस पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

अर्थात् मनुष्य में जो रजोगुण होता है, वह अत्यन्त प्रबल होने

पर काम-विचार उत्पन्न करके पाप-कर्म के विषय में मनुष्य को प्रवृत्त करता है और उसकी प्रवृत्ति में विघ्न आने पर वही क्रोध का स्वरूप धारण करके मनुष्य को घात करने में प्रवृत्त करता है। काम सर्वभक्षक है; यहाँ तक कि किसी विषय से भी उसकी तृप्ति नहीं होती। सब पापों का आदि बीज इस कामवासना ही में है। इसलिए संसार में काम और क्रोध को अपना वैरी समझो।

तीसरा परेच्छा-प्रारब्ध है। अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा न होते हुए केवल अन्य जीव की प्रसन्नता के लिए जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वही इस प्रारब्ध का फल है। उदाहरणार्थ हम किसी के नौकर बन गये; अब हमारी इच्छा चाहे हो या न हो, वह जो जो काम बतावेगा, हमें अवश्य करने पड़ेंगे और उन कर्मों से जो सुख-दुख होगा उसका भोग हमें करना ही चाहिए।

श्रीमत् विद्यारण्य-कृत पंचदशी के आधार से उपर्युक्त प्रतिपादन किया गया है। उसमें यह भी कहा गया है कि इच्छा-प्रारब्ध में जो घटनाएँ होती हैं, वे अवश्यंभावी होती हैं और इसी कारण ईश्वर के द्वारा भी उनका टलना सम्भव नहीं है। इसके सिवाय वसिष्ठ आदि के वचनों से यह सिद्ध किया गया है कि सब हेतु परिपूर्ण करने में प्रयत्न ही बलवत्तर है अतएव इन दो सिद्धान्तों में जो विरोध देख पड़ता है, वह दूर होना चाहिए। इसके लिए जब यह बात ध्यान में आ जाती है कि अवश्य होनेवाली बातें कौन सी हैं और किस हेतु की सिद्धि प्रयत्नों से हो सकती है तब विरोध नहीं रहता।

(१) संचित में से इस जन्म में भोगने के लिए जो कर्म-फल प्राप्त होता है, उसमें कुछ बातें आधिदैविक, आधिभौतिक अथवा आध्यात्म कारणों से होनेवाली रहती हैं। जैसे लड़के के उत्पन्न होते ही उसकी माता का मृत होना, किसी का घर-द्वार एकाएक दग्ध हो जाने से उसकी सारी सम्पत्ति का नाश होना अथवा किसी के शरीर में कोई आघात लग जाने से विकार होना इत्यादि प्रकार के प्रसंग अवश्यम्भावी हैं। वे मनुष्य को प्रारब्धानुसार भोगने ही चाहिए। वे ईश्वर के द्वारा भी

नहीं टाले जा सकते।

(२) जिन फलों के इष्ट साधन, व्यवहार में स्पष्ट दृष्टि पड़ते हैं उन कृषि, वाणिज्य आदि फलों के लिए प्रयत्न करना चाहिए। घर में धन-धान्य आदि का संग्रह करना हो तो जमीन की कमाई करनी चाहिए और परदेश से माल स्वदेशों में लाकर स्वदेश का माल परदेश में ले जाने की क्रिया भी करनी चाहिए।

(३) वासनाओं का अच्छे मार्ग पर लाना प्रत्येक पुरुष का काम है। इस विषय में प्रयत्नों की पराकाष्ठा ही करना चाहिए। सब कर्मों और फलों की जड़ हमारी वासनाएं हैं। यद्यपि प्रत्येक कर्म करने पर उसका फल-भोग मिलता है तथापि कुछ अवशिष्ट संस्कार रह जाते हैं और आगे वासना के रूप हो जाते हैं। अतएव वासनाओं को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करना सबका कर्तव्य है। कर्तव्य योनि सिर्फ मनुष्य ही की है और उसमें सारासार विचार-शक्ति भी है, इसीलिए दुष्ट वासनाओं का मनुष्य-प्राणी जवाबदार है। यदि दुर्वासना उत्पन्न हो तो उसके लिए यह उपाय कहा ही है कि साधु-चरणों की शरण लेनी चाहिए और सच्छास्त्र श्रवण करना चाहिए।

जो वासनाएँ काम, क्रोध आदि छः ऊर्मियों के स्वरूप से जन्मतः उत्पन्न होती हैं, उन्हें लड़कपन ही से उत्तम मार्ग पर लाना चाहिए। जीवों के शरीर, इन्द्रिय, अवयव इत्यादि जन्म से ही कोमल होते हैं तथा उनके मानो धर्म भी उस समय कोमल ही होते हैं। इन्द्रियाँ ज्यों-ज्यों पुष्टि और वृद्धि पाती जाती हैं और उनमें विषय-ज्ञान की अधिकाधिक वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों मनोविकार भी प्रबल होते जाते हैं। इसलिए काम-क्रोधादि षड्ऊर्मियों को बालापन ही से योग्य मार्ग पर लाना माता पिता, पालक और शिक्षक लोगों का प्रधान कर्तव्य है। मनोविकारों को उत्तम बनाना नैतिक शिक्षा (Moral Education) का मुख्य भाग है। मनुष्य का स्वभाव जो कहलाता है, वह इन मनोविकारों के समुदाय का ही पर्याय-शब्द है अर्थात् षड्ऊर्मियों के स्वरूप से मनुष्य का स्वभाव निश्चित किया जाता है। जब तक ये षड्ऊर्मियाँ

मन के वश में रहती हैं, तब तक मनुष्य के दुखी रहने की सम्भावना रहती है। जब वे बुद्धि के अधीन होकर चलने लगती हैं तब मनुष्य को सुखी होने की सम्भावना रहती है। इस जगह मन और बुद्धि के स्वरूप और कार्य ध्यान में लाना आवश्यक है। मन के स्वरूप में चञ्चलता बहुत होती है और निश्चितार्थ अथवा विचार कम रहता है। बुद्धि विचारवान, निश्चयी और गम्भीर स्वभाव की होती हैं। मन यह नहीं देखता कि किस कर्म का क्या परिणाम होगा। बुद्धि का ध्यान पहिले परिणाम की ओर रहता है और फिर किसी कार्य की ओर प्रवृत्ति होती है। इसलिए प्रत्येक पालक को यह सावधानी रखनी चाहिए कि बालकों को बचपन ही से काम, क्रोधादि विकारों को बुद्धि के वश में रखने की शिक्षा दी जाय। अब हम कुछ उदाहरणों से स्पष्ट कहते हैं कि इन षड्-रिपुओं को बुद्धि के अधीन करने से उत्तम मार्ग कैसे मिलता है। यदि किसी लड़के को दूसरे लड़के पर सन्तप्त होकर झिझिकने की आदत हो तो उसे यह सिखाना चाहिए—"बेटा ऐसा न करना चाहिए; वह तुम्हारा साथी है, उससे लड़ना अच्छा नहीं, उसके साथ अच्छी तरह खेलना चाहिए।" ऐसा कहना क्रोध को क्षमा और शान्ति रूप में लाना है। इसी प्रकार तिथि-त्योहार के दिन लड़कों को वस्त्राभूषण पहनाने से उनमें घमण्ड आता है और मद उत्पन्न होता है और वे अन्य लड़कों को मत्सर दिलाने लगते हैं। ऐसे समय में यह सिखाना चाहिए— "बेटा ऐसा न कहना चाहिए; ये तुम्हारे काका हैं, पंडित जी हैं, गुरुजी हैं, इनके पैर छूना चाहिए और इनके पास अदब से बैठना चाहिए।" यह मद का लीनता और निर्दम्भता में रूपान्तर करना है। इसी प्रकार काम विकार का विचार और अनिच्छा में रूपान्तर करना चाहिए, लोभ को कृपालुता और उदारता में, मोह को वैराग्य और निस्पृहता में और मत्सर की अहिंसा और सरलता गुणों में रूपान्तर करने का स्वभाव बालपन ही से लड़कों में लाना चाहिए। इससे बहुत ही लाभ होता है। यह प्रयत्न का मार्ग मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है।

बहुत लोग समझते हैं कि सिर्फ व्यवहार के लिए आवश्यक प्रवृत्ति

मार्ग के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है; परन्तु निवृत्ति-मार्ग के लिए किसी बात की आवश्यकता नहीं। अब हम इस मत की सत्यासत्यता का विचार करते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति अपने इन दोनों बालकों पर श्रुति-मात्र की बराबर ही प्रीति है। बुद्धि के प्रवाह को पराक् अर्थात् बाहर दौड़ा कर विषय ग्रहण करने और अतृप्ति से अधिकाधिक शक्ति बढ़ाने लगने को प्रवृत्ति-मार्ग कहते हैं और उसी बुद्धि के प्रवाह का प्रत्यक्, अर्थात् पीछे लौट कर विषयों का परित्याग करते-करते भीतर आने लगना निवृत्ति मार्ग है। सारांश मन का आगे दौड़ना प्रवृत्ति और पीछे लौटना निवृत्ति है। आगे दौड़नेवाले को अपनी जिज्ञासा के अनुसार इष्ट साध्य कैसे कर लेना चाहिए, इसके लिए श्रुति की—

अथाऽतो धर्मजिज्ञासा। —मीमांसासूत्र

में प्रवृत्ति हुई और दौड़ते-दौड़ते जो ऊब जायँगे वे यदि लौटना चाहें तो वे विषय-त्याग कैसे कर सकते हैं और स्व-स्वरूप तक कैसे पहुँच सकते हैं, इसके लिए श्रुति की

अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा। —ब्रह्मसूत्र

ऐसी प्रवृत्ति हुई। इसी दो प्रकार की साधन-सम्पत्ति को प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं। अब हम यह देखते हैं कि योगवासिष्ठ में प्रवृत्ति और निवृत्त के लक्षण क्या बतलाये गये हैं। प्रवृत्ति-मार्ग का आश्रय करनेवाले पुरुष सकाम धर्मानुष्ठान करते हैं। वे कहते हैं कि जो अहेतुकता से निवृत्ति-मार्ग के कर्म करते हैं, वे व्यर्थ श्रम उठाते हैं; क्योंकि वे कर्म करके व्यर्थ खो देते हैं और उन्हें विषय-सुख की प्राप्ति बिलकुल ही नहीं होती है और जिस कर्म में विषय-सुख नहीं उसके करने से लाभ ही क्या है? अतएव इस पर-लोक में विषय-सुख प्राप्त करने के लिए ही नाना प्रकार के कर्मों का आचरण करना चाहिए। यह करके कि दृढ़ निश्चय रम्भा आदि वनिताओं के भोग प्राप्त करने के साधनों के सम्पादन करने में ही सच्चा पुरुषार्थ है, जो काम्य-कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है उसे प्रवृत्ति-मार्ग कह सकते हैं। जो निवृत्त-पुरुष होता है, उसे संसार के दुखों का स्मरण होता रहता है और वह समझता रहता है कि

संसार एक ऐसा अरण्य है, जिसमें चारों ओर दावाग्नि धधक रही है। जैसे किसी मनुष्य के पीछे से बाघ दौड़ा आता हो और आगे समुद्र फैला हुआ हो, तो उस समय जैसी उस मनुष्य के मन की दशा होती है वैसी ही दशा निवृत्त-पुरुष की सदा बनी रहती है। गर्भवास की असह्य यातना और उसके बाद प्राप्त होनेवाली बाल्यादि अवस्था और मृत्यु इत्यादि का स्मरण करके वह संसार को यम-यातना ही समझता रहता है। ऐसे संसार में नाना प्रकार के पुण्य कर्म करने से चाहे उत्तम जन्म प्राप्त हो जायँ, तथापि कर्मों का फल भोगने के बाद फिर भी दुःख बना ही रहता है, उसमें कमी नहीं होती। इसलिए यह समझ कर कि कर्म का फल केवल दुःख है, निवृत्त-पुरुष सदा आत्म-विचार में निमग्न रहते हैं। उनकी विषय-सम्बन्धी प्रीति समूल नष्ट हुई रहती है और वे साधन-चतुष्टय से सम्पन्न रहते हैं। वे सर्वदा इसी इच्छा से प्रेरित रहते हैं कि इस भव-सागर को किस उपाय से पार करके मुक्त हों। इस प्रकार से जो मुमुक्षु होते हैं, उन्हें निवृत्त-पुरुष कहना चाहिए।

ऊपर बतलाये हुए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों के लिए प्रयत्नों की आवश्यकता है। प्रवृत्ति-मार्ग तो मानो प्रयत्न ही है, यह सब को मान्य है कि प्रत्येक जीव का झुकाव प्रवृत्ति की ओर होता है। परन्तु साधारण तौर पर लोग यह समझते हैं कि निवृत्ति-मार्ग में प्रयत्नों की कोई आवश्यकता नहीं। आधुनिक विद्वानों का तो यह मत बहुधा देखने में आता है कि निवृत्ति-मार्ग में जो पुरुष लगते हैं, वे निरुद्योगी और आलसी होते हैं तथा उनके देश की बड़ी हानि होती है। इसी भ्रम से ये आधुनिक विद्वान् आर्य-तत्त्वज्ञान और आर्यधर्म को निरुपयोगी समझ कर उसकी निन्दा करने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु वास्तव में उनकी यह समझ बहुत ही हानिकारक और झूठी है। प्रवृत्ति-मार्ग में जैसे प्रयत्न आवश्यक हैं, वैसे ही अथवा उससे भी अधिक निवृत्ति-मार्ग में उनकी आवश्यकता है। अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता इसलिए है कि प्रवृत्ति-मार्ग में तो विषयोपभोग यथेच्छ होने के कारण इन्द्रियों का झुकाव स्वाभाविक ही उस ओर होता है; परन्तु निवृत्ति-मार्ग में इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने की

आवश्यकता होती है, इसलिए प्रयत्न भी अधिक दृढ़ता और साहस से करना पड़ता है। पहले साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होने ही में कितने प्रयत्न करने पड़ते हैं; फिर योगाभ्यास में तो प्रयत्नों की पराकाष्ठा ही करनी पड़ती है। इतना होने पर ज्ञान की सात भूमिकाएँ प्राप्त कर लेने की योग्यता आती है। ये भूमिकाएँ प्राप्त होने पर जीवनन्मुक्ति आप-ही-आप जयमाल पहना देती है। जीवनन्मुक्ति की सिद्धि मानो प्रयत्नों का शिखर ही है! इससे सहज ही जान पड़ता है कि प्रवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा निवृत्ति-मार्ग में ही अधिक प्रयत्न करना पड़ता है।

हम पहले कह आये हैं कि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण में से संचित और क्रियमाण का नाश आत्मज्ञान होने के बाद होता है। अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं आर्य-तत्त्वज्ञान में अग्नि अथवा शस्त्र से आत्मज्ञान की तुलना की गई है। आत्मज्ञान-रूपी अग्नि कृत कर्म और क्रियमाण—कर्म का दहन कर डालता है।

यथैधाँसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

—भगवद्गीता।

अर्थात् हे अर्जुन, अग्नि जिस भाँति प्रदीप्त होने पर होमद्रव्यों को भस्म कर डालता है उसी भाँति ज्ञान-रूपी अग्नि सब कर्म नष्ट कर डालता है। इसी प्रकार आत्मज्ञान-रूपी खड्ग हमारे हृदय की सब ग्रन्थियों और असम्भावनादि संशयों का छेदन कर डालता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

—भगवद्गीता।

अर्थात्—इसलिए अविवेक से उत्पन्न होने वाले हृदयस्थ संशय को आत्म-विषयक निश्चय बुद्धि-रूपी खड्ग से छेद कर निष्काम कर्म करने में प्रवृत्त हो। भगवद्गीता में इस प्रकार के अनेक वचन हैं। आत्मज्ञान हो जाने पर कृत-कर्मों से अथवा क्रियमाण कर्मों से हमारा कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि सम्बन्ध बिलकुल ही नहीं रहता; क्योंकि आत्मज्ञान से जीव

को यह विश्वास हो जाता है कि जिन इन्द्रियों के द्वारा कर्म होते हैं, वे और उन्हें प्रवृत्त करने वाला बुद्ध्यादि चतुष्टय 'मैं' कुछ नहीं है; किन्तु 'मैं' केवल साक्षीभूत है। यह साक्षीपन की पहचान होने के बाद जहाँ स्वरूप की प्राप्ति हुई कि सब संचित-कर्म भस्म हो जाते हैं। सद्गुरु-प्रसाद से जब यह निश्चय हो जाता है कि वासनारूप लिंग-देह कुछ 'मैं' नहीं हूँ, तब पहले घटित हुए कर्म निराधार हो जाते हैं और उनका कर्तृत्व जीव पर नहीं जाता। उसी प्रकार जब इस विषय का सच्चा ज्ञान हो जाता है कि 'मैं' भोक्ता नहीं है, तब यह जान पड़ने लगता है कि क्रियमाण कर्म भी मेरे नहीं हैं। कर्मों का कर्तृत्व ही जब नहीं रहा, तब फिर उनके फलों का भोक्तृत्व ही हम पर क्यों कर आवेगा? इस प्रकार संचित और क्रियमाण का नाश होता है; परन्तु प्रारब्ध अवश्य ही जब तक देह है, तब तक नहीं छूटता।

हम पहले यह बतला चुके हैं कि यह प्रारब्ध-कर्म भी योगाभ्यास से नष्ट हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि उस कर्म का भोग भोगने पर प्रारब्ध का क्षय होता है। प्रारब्ध-कर्म-भोग के विषय में आत्मज्ञानी और सर्वसाधारण लोगों में विलक्षण अन्तर है। व्यवहार में जैसे यह हाल देखा जाता है एक आसामी साहूकार का कर्जा चुकाता जाता है और दूसरा अपना कर्ज बढ़ाता जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानी अपने पूर्व कर्मों से फल भोग कर उनका क्षय करता जाता है और उसका प्रारब्ध-क्षीण होते होते फिर उसे देह का और जगत् का भान कभी नहीं होता। परन्तु सर्व-साधारण लोग पूर्वकर्मों का फल भोगते समय नवीन कर्म करके संचित की वृद्धि करते जाते हैं और इसीसे उनके कर्मों की पूँजी कभी समाप्त ही नहीं होती। इससे भी विलक्षण एक चमत्कार आत्मज्ञानी पुरुष का यह है कि वह यह समझता कि प्रारब्ध-कर्म देह के मत्थे आ जाता है। देह चाहे सुख-दुःख भोगते रहें, पर आत्मज्ञानी को उसका कुछ भी भान कहीं रहता। श्री समर्थ रामदास स्वामी के चरित्र में इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण पाया जाता है। एक बार जब कि समर्थ परली के किले पर रहते थे, तब शिष्यों ने उन्हें

खबर दी कि शिवाजी महाराज आपके दर्शन के लिये आये हैं। उस समय समर्थ जूड़ी के ज्वर से पीड़ित थे। परंतु शिवाजी महाराज के आने का समाचार पाते ही उन्होंने अपने शरीर की भगवी कंथा उतार कर अलग रख दी और नित्य के अनुसार महाराज का स्वागत करके वे उनसे बातचीत करने लगे। उन्होंने अपने शरीर पर जूड़ी बुखार के कोई चिह्न नहीं प्रगट होने दिये; परन्तु कुछ दूर पर रक्खी हुई कंथा कँपकँपी के मारे हिल रही थी। उसे जब शिवाजी महाराज ने देखा, तब उन्होंने पूछा कि यह क्या है? समर्थ ने कहा—अरे शिवबा, तेरे आने के पहले मैं शीतज्वर से ग्रस्त था; परंतु तुझसे मिलने के लिए वह ज्वर इस कंथा में ही रखकर मैं बैठा हूँ। इस पर शिवाजी महाराज ने पुनः प्रश्न किया कि महाराज आप महान् योगी और त्रिकालज्ञानी हैं, फिर आपको शीत-ज्वर की बाधा क्यों होनी चाहिये? समर्थ ने उत्तर दिया—अरे शिवबा, संचित क्रियमाण चाहे आत्मज्ञान से नष्ट कर दिए जायं, पर प्रारब्ध-कर्म देहपात हुए बिना कदापि नहीं छूट सकते। इस आख्यायिका से साधारण तौर पर इन तीनों कर्मों के विशेष स्वरूप पाठकों के ध्यान में आ सकते हैं।

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण का विषय अत्यन्त कठिन है और यद्यपि प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी समझ के अनुसार उस पर विचार करने का प्रयत्न करता है, तथापि अन्त तक उसका पूर्ण साधन नहीं होता। यद्यपि ऐसी दशा है, तथापि सर्वमान्य श्रुति में इस विषय की समाधानकारक उपपत्ति है और भाष्यकारों ने उसका विवरण भी बहुत सुगम किया है। इसलिए हमने श्रुति और आचार्यों के वचनों के आधार से दो सिद्धांतों का निरूपण किया है। वे सिद्धान्त ये हैं:—(१) आत्म-ज्ञान होने के बाद संचित और क्रियमाण-कर्मों का नाश होता है, (२) प्रारब्ध-कर्म शरीर-पात होने तक देह को भोगने पड़ते हैं। इस पर यह आशंका होती है कि आत्मज्ञान जो बिलकुल अन्त की सीढ़ी है, उसके प्राप्त कर लेने के बाद भी यदि देह को प्रारब्ध-भोग भोगने पड़ते हैं, तो फिर उस आत्मज्ञान की प्रतिष्ठा क्या रही? इस शंका का उत्तर शंकराचार्य

कृत अपरोक्षानुभूति में इस प्रकार मिलता है:—

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ।
देहस्यापि प्रपंचत्वात् प्रारब्धावस्थितिः कुतः ॥
अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः ।
आत्मनं सततं जानन् कालं नय महाद्युते ॥
प्रारब्धमखिलं भुंजन् नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥

अर्थात् आत्मज्ञान होने के बाद प्रारब्ध मानों कुछ बचता ही नहीं। देह प्रपंच है, अतएव प्रारब्ध फिर कहाँ रह सकता है? श्रुतियों ने जिसे प्रारब्ध कह कर वर्णन किया है, वह केवल अज्ञानी लोगों को समझाने के लिए है। आत्मानुभव में ज्ञानी पुरुष को काल व्यतीत करना चाहिए; परंतु प्रारब्ध भोग भोगते समय मन को उद्विग्न न होने देना चाहिए।

आर्य-तत्त्वज्ञान में यह विचित्रता है कि उसमें एक एक विषय पर अनेक ऋषियों ने अपने अपने मत प्रदर्शित किये हैं अतएव साधारण लोग उस मत-भिन्नता के कारण भ्रम में पड़ते हैं और उन सब मतों की एक वाक्यता करना बहुत कठिन होता है। प्रस्तुत विषय की भी यही दशा है। श्रीमत् सायणाचार्य ने श्रुति, अनुभव और युक्ति इन तीनों प्रकारों से निरूपण करने के लिए इस विषय के तीन भाग किए हैं। (१) आत्म-ज्ञान होने के बाद यदि मनुष्य से पाप हो गया तो उसका दोष उसे लगता है या नहीं? (२) आत्म-ज्ञान होने के बाद किये हुए पुण्य-कर्म का फल क्या उस पुरुष को भोगना पड़ता है? (३) साक्षात्कार होने के बाद प्रारब्धकर्म भोगना पड़ता है या नहीं? प्रथमतः सायणाचार्य ने

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

इस सामान्य सिद्धान्त का विचार किया है। इसका अर्थ यह है कि के द्वारा जो कर्म होते हैं उनका क्षय, भोग के बिना—चाहे करोड़ों कल्प बीत जायें—नहीं हो सकता। यह सर्व-शास्त्र-प्रसिद्ध सिद्धान्त आत्मा-ज्ञानी के लिए बिलकुल ही नहीं लगता। क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर देह और इंद्रियों से जो पाप होता है, उसका लेप उस पुरुष को नहीं होता। इसके लिए यह श्रुति-वचन प्रमाण है:—

तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त,
एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते ।

अर्थात् कमल पत्र पर पड़ा हुआ पानी जैसे उसमें नहीं लिप्त होता, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष को पापकर्म का लेप कभी नहीं होता। इस पाप-कर्म को क्रियमाण कर्म समझना चाहिये। पूर्वजन्म अथवा इस जन्म का पाप होता है, उसका नाश आत्मसाक्षात्कार होने पर तत्काल हो जाता संचित जो है। इस विषय में यह श्रुति-वचन प्रमाण है:—

तद्यथेषी कातूलमग्नौ प्रोतं च प्रदुयेत
एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते ।

अर्थात् जिस प्रकार वनस्पति-विशेष के फूलों से निकाला हुआ कपास अग्नि में डालने से भस्म हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष के सब पाप नष्ट हो जाते हैं। सारांश यह कि ब्रह्मवेत्ता को क्रियमाण पाप का लेप नहीं होता और उसके संचित पाप का नाश हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वह ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। इसलिए इस बात का कर्तृत्व-भाव कि मैंने अमुक बात की, करता हूँ या आगे करूँगा, उसके तईं त्रिकाल में भी नहीं रहता।

कामोऽकार्षीत्कामः करोति । नाहं करोमि कामः कर्ता नाहं कर्ता ।
मन्युरकार्षीन्मन्युः करोति । नाहं करोमि मन्युः कर्ता नाहं कर्ता ।
—नारायणोपनिषद् ।

अर्थात् लिंगदेहाधिष्ठित कामादि मनोविकारों की प्रबलता से कर्म होते हैं, मैं जो साक्षि-स्वरूप हूँ, उसके तईं उन कर्मों का कर्तृत्व-भाव लगना सम्भव नहीं। व्यवहार में भी हम लोग सदा यह बात देखते रहे हैं कि जो पुरुष जिस बात को नहीं करता, उसका दोष उस पुरुष पर मूर्ख मनुष्य भी नहीं लाद सकता। अतएव जिस पुरुष में अकर्तृत्वभाव भरा हुआ है, उसे पाप की बाधा कैसे लग सकती है? ऐसी दशा में यह वचन—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

उसी पुरुष के लिए लग सकता है कि जिसे आत्मानुभव नहीं हुआ है।

अगला ब्रह्मसूत्र भी इसका प्रमाण है।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।

इस सूत्र का अर्थ यह है कि ब्रह्म-प्राप्ति होने के बाद उत्तर अर्थात् क्रियमाण पाप का अश्लेष अर्थात् लेप नहीं होता और पूर्व अर्थात् संचित पाप का नाश होता है; क्योंकि श्रुति में सर्वत्र इसका उल्लेख पाया जाता है। ये सब बातें ज्ञानोत्तर काल में होनेवाली हैं।

पूर्वोक्त विवेचन पापकर्मों के विषय में हुआ। अब पुण्य का विचार करना चाहिए। ब्रह्मवेत्ता को पाप का लेप भले ही न हो; परन्तु पुण्य का लेप होने में क्या हर्ज है? ब्रह्मज्ञान और पाप दोनों का परस्पर विरुद्ध धर्म है, अतएव उनकी स्थिति एक नहीं हो सकती। यह सच है, परन्तु आत्मज्ञान और पुण्य दोनों सजातीय हैं; अतएव इनके एकत्र होने में कोई आपत्ति नहीं है। इसलिए पुण्य का लेप ब्रह्मज्ञानी को होना ही चाहिए। इस प्रकार की शंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस शंका का समाधान वेदभाष्य में इस प्रकार किया गया है—ज्ञान का प्रभाव ही ऐसा है कि आत्मा जो अकर्त्ता है उसे पाप की तरह पुण्य का भी लेप नहीं हो सकता। क्योंकि जितना काम्य-पुण्यकर्म है वह जन्म देने का कारण होता है और जन्म एक अधम फल है। अतएव आत्मज्ञ पुरुष पुण्यकर्म को भी पाप ही के समान समझता है। इसके लिए यह श्रुति-वचन प्रमाण है:—

सर्वे पाप्मानोऽतो नियर्तन्ते।

इस वचन के 'पाप्मानः' शब्द में पुण्य, पाप और उनके फल इन सब का समावेश होता है। इस वचन का अर्थ यह है कि सुकृत, दुष्कृत और उनके फल ये सब 'अतः' अर्थात् ब्रह्मोपासक से पराङ्मुख होते हैं। इस विषय में दूसरा श्रुति-वचन इस प्रकार है:—

उभे ह्येवैष एते तरति।

अर्थात् ज्ञानी पुरुष पाप और पुण्य दोनों को समान ही रीति से पार कर जाता है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता को पाप की तरह पुण्य का भी लेप नहीं होता।

इस विषय में यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है:—

इतरस्याप्येनमसंश्लेष पाते तु ।

इसका अर्थ यह है कि पाप की तरह पुण्य का भी लेप नहीं होता और देह-पतन होते ही मुक्ति होती है ।

अब तीसरे भाग के विषय में अर्थात् इस विषय में कि साक्षात्कार होने के बाद प्रारब्ध-कर्म भोगना पड़ता है या नहीं, विचार करना चाहिए । श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी ने बिलकुल थोड़े ही में इसका निर्णय किया है । वह इस प्रकार है:—

उभयत्राप्यकर्तृत्वं तद्बाधः सदृशः खलु ।
आदेहपातं संसारः श्रुतेरनुभवादपि ॥
इषुचक्रादि-दृष्टान्तान्नैवारब्धे वनिश्यतः ।

—अधिकरणरत्नमाला ।

इसका अर्थ यह है कि जब हम इसका विचार करते हैं कि संचित की ही तरह प्रारब्ध का नाश होता है या नहीं, तब मालूम होता है कि जब दोनों जगह अकर्तृत्व-भाव है तब संचित की ही तरह प्रारब्ध का भी नाश होना चाहिए । परन्तु (१) श्रुति, (२) अनुभव और (३) युक्ति इन तीनों प्रकारों से जब हम देखते हैं तब जान पड़ता है कि इषु-चक्र के दृष्टान्त की तरह देहपात होने तक प्रारब्ध का नाश नहीं हो सकता ।

इस विषय में अब क्रमशः विचार करना चाहिए । पहले पहल श्रुति-में यह वचन पाया जाता है:—

तस्या तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये ।

—छांदोग्य

इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिए ज्ञान होते ही मुक्ति निश्चित ही है; परन्तु उसके देह और प्राण का वियोग होने तक वह उसकी बाट देखती रहती है । देहपात होते ही मुक्ति उसके गले में जयमाला डालने के लिए तैयार रहती है । इस इस श्रुति-वचन से यह सिद्ध होता है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष को भी देहपात होने तक प्रपंच का

अंगीकार करना ही चाहिये। और प्रपंच का अंगीकार करने पर उससे सम्बन्ध रखनेवाले सुख-दुःख उसके पीछे लगे होंगे। यह श्रुति की दृष्टि से विचार हुआ। अब अनुभव की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो पूर्वोक्त रामदास स्वामी की आख्यायिका से यही सिद्धान्त ठहरता है और वर्तमान काल के प्रसिद्ध सिद्ध साधु लोग जो स्वानुभव की बातें अपने श्रोताओं के सामने प्रतिपादन करते हैं उनमें भी वे लोग इसी तत्त्व का निर्देश कर ते रहते हैं। अब युक्ति से भी इसका विचार करना चाहिए। यह बात समझने के लिए कि देह पात होने तक प्रारब्ध कैसे लिपटा रहता है, सायणाचार्य ने इषु और चक्र के दो उत्तम दृष्टान्त दिये हैं। धनुष में जब बाण सज्ज किया हुआ रहता है और वह बाण जब तक छूट नहीं जाता तभी तक उस बाण के छोड़ने न छोड़ने की स्वतंत्रता धनुर्धर को रहती है। परन्तु जहाँ एकबार बाण धनुष से छूट गया कि बस फिर उस बाण की गति पर धनुर्धर का कोई भी अधिकार नहीं रहता। यदि वह बीच ही में उसे रोकना चाहे तो यह बात उसकी शक्ति से बाहर है। उस बाण का वेग आप-ही-आप जब रुकेगा तभी वह नीचे गिरेगा। अब यह देखना चाहिए कि यह बाण का दृष्टान्त अपने दार्ष्टान्तिक प्रारब्ध पर कैसे लगता है। संचित और क्रियमाण कर्मों का नाश करने में आत्मज्ञान चाहे जितनी स्वतन्त्रता रखता हो तथापि प्रारब्ध पर उसकी सत्ता नहीं चलती। क्योंकि मनुष्य के हाथ से छूट गये हुए बाण की तरह प्रारब्ध के फल का उपभोग देहोत्पत्ति से प्रारम्भ हो जाता है। यह शरीर जो प्रारब्ध के योग से प्राप्त हुआ होता है, उसका जब तक अन्त नहीं हो जाता तब तक प्रारब्ध-कर्म छूट ही नहीं सकते। कुलाल के दृष्टान्त का भी यही अर्थ है। अर्थात् चक्र को प्रथमतः गति देना ही भर कुलाल के हाथ में रहता है; परन्तु उस गति का निरोध करना कुलाल के अधीन की बात नहीं रहती।

आत्मज्ञान होने के बाद तत्क्षण ही प्रारब्ध-कर्म का नाश होकर यदि मुक्ति प्राप्त होना सम्भव होगा तो जगत् में कोई उपदेश ही न रहेगा और ज्ञानमार्ग ही नष्ट हो जायगा। और इधर आर्य-तत्त्वज्ञान की बात

तो यह है कि वह पूर्वापर-सम्बन्ध से ही प्राप्त होता है। यदि कोई कहे कि मैं वेद-शास्त्र की पोथियाँ एकत्र करके ज्ञान-प्राप्ति कर लूँगा तो ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं है। भारतवर्ष में जितने ज्ञानी हो गये उन सब ने क्रमशः अपने गुरुओं से ही ज्ञान प्राप्त किया है। अतएव विद्या-सम्प्रदाय अबाधित जारी रहने के लिए ज्ञानियों का बहुत काल तक संसार में रहना आवश्यक है, और उनके द्वारा लोगों को उपदेश मिलना भी आवश्यक है। तभी ज्ञानमार्ग अविच्छिन्न रह सकता है। ज्ञान-प्राप्ति के साथ ही यदि ब्रह्मवेत्ता मुक्त होने लगें तो सारे संसार में अँधेरा होकर ज्ञान का लय हो जायगा, इसमें कोई शंका नहीं है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि संचित और क्रियमाण-कर्मों की तरह प्रारब्ध-कर्म का नाश नहीं होता।
इसके लिए यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है:— H 181·4 | S24 A

अनारब्धकार्ये एवं तु तदवधेः।

इसका अर्थ यह है कि जिन कर्मों के फल भोगने का प्रारम्भ नहीं हुआ ऐसे सिर्फ संचित-कर्मों का ही ज्ञानोदय के साथ क्षय होता है; परन्तु जिस कर्म का आधे से अधिक फल भोगा जा चुका है उस पर ज्ञान की कुछ भी सत्ता नहीं चल सकती; क्योंकि वहाँ शरीर-पात होने की प्रतीक्षा रहती है। H 1890

यहाँ तक श्रुति के प्रमाण और षड्दर्शनों के शिरोभूत ब्रह्मसूत्रों का आधार देकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया कि आत्मज्ञान होने के बाद भी प्रारब्ध-भोग नहीं छूटता, केवल संचित का नाश क्रियमाण का लेप नहीं होता। अब यह देखना है कि ऊपर दिये हुए अपरोक्षानुभूति के वचनों से इस सिद्धान्त का मेल कैसा जमता है। अपरोक्षानुभूति के ८८ और ८९ इन दो श्लोकों का तात्पर्य मन में लाने पर इस विषय का प्रायः निर्णय हो सकता है। वे श्लोक ये हैं:—

सर्वमात्मतया ज्ञातं जगत्स्थावरजंगमम्।
अभावात्सर्वभावानां देहानां चात्मता कुतः ॥८८॥
आत्मानं सततं जानन्कालं नय महाद्युते।
प्रारब्धमखिलं भुंजन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥८९॥

अर्थात्—ब्रह्मज्ञान होने पर यह अनुभव होने लगता है कि सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक जगत् हमारा आत्मा ही है, और इसके साथ ही यह बुद्धि भी उत्पन्न होती है कि सम्पूर्ण दृश्य विकारी अतएव अभाव-रूपी हैं। ऐसी स्थिति हो जाने पर फिर देहों के ताईं आत्मत्व कैसे प्रतीत हो सकता है? इसलिए ब्रह्मवेत्ता पुरुष को सर्वत्र ओतप्रोत भरे हुए आत्मा से अपनी वृत्ति तन्मय करके, कालक्षेप करना चाहिए; परन्तु प्रारब्ध-भोग भोगते समय अपना चित्त कदापि उद्विग्न न होने देना चाहिए। इस प्रकार की प्रस्तावना लिख कर श्रीशंकराचार्य ने ६० से ६५ तक जो श्लोक लिखे हैं उनका अर्थ इस प्रकार है :—

श्रुति में जो यह कहा है कि आत्मज्ञान प्राप्त होने पर भी प्रारब्ध कदापि पीछा नहीं छोड़ता, उसका अब हम विवरण करते हैं। बात तो यह है कि तत्त्वज्ञान होने के बाद प्रथमतः प्रारब्ध रहता ही नहीं; क्योंकि उस दशा में देह आदि का ही अभाव हो जाता है। अतएव ज्ञानी का अब जब आगे जन्म ही नहीं होगा तब जन्मान्तर में किया हुआ और वर्तमान काल के देह ने जिसका भोगना आरम्भ किया है, वह प्रारब्ध-कर्म उसे बाधा कैसे कर सकता है? स्वप्न में जैसे हमें कोई देह प्राप्त होता है; परन्तु वह देह केवल भासमान होने के कारण जैसे मिथ्या ठहरता है वैसे ही आत्मज्ञान के बाद इस देह के भी मिथ्यात्व का अनुभव होता है। अतएव जो पदार्थ सिर्फ भासमान है उसका पुनर्जन्म कैसे हो सकता है? और जब पुनर्जन्म ही नहीं है तब फिर प्रारब्ध कहाँ रह सकता है? मिट्टी के बर्तन का उपादान कारण जिस प्रकार मृत्तिका है उसी प्रकार प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म है। अतएव वेदान्त-शास्त्र के अध्ययन से अज्ञान का नाश हो जाने पर फिर प्रपंच कहाँ रह सकता है? जैसे डोरी को भ्रम के कारण कोई मनुष्य सर्प समझ लेता है, वैसे ही मूर्ख, जगत् का वास्तविक स्वरूप न समझ कर उसे सत्य मान बैठता है। परन्तु ज्योंही यह ज्ञान हो जाता है कि यह सर्प नहीं है, किन्तु डोरी है, त्यों ही सर्प-बुद्धि आप-ही-आप नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार सब का जो अधिष्ठान है, उसका ज्ञान हो जाने पर प्रपंच शून्य जान पड़ने

लगता है। तो फिर देह भी जब प्रपंच का ही एक भाग है, तब प्रारब्ध अवशिष्ट कैसे रह सकता है? अतएव श्रुति में जो प्रारब्ध का वर्णन है, वह अज्ञानी लोगों को समझने के लिए ही जानना चाहिए।

इस दृष्टि से ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रारब्ध-भोग भोगते हुए भी उसकी कुछ भी परवा नहीं करता, इसलिए आत्मज्ञानी को प्रारब्ध-कर्म बाधा नहीं कर सकता। तथापि श्रुति में जो प्रारब्ध का वर्णन किया है वह सिर्फ—

अज्ञानिजबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः।

अर्थात् इसी लिए किया है कि जिससे अज्ञानी लोगों को यह बोध हो जाय कि प्रारब्ध क्या है। अनेक मतों की एक-वाक्यता सिद्ध करने के लिए जो आधार देने पड़ते हैं उनमें मुख्य आधार यह है :—

परप्रसिद्ध्या परो बोधनीयः।

अर्थात् जिस रीति से जो समझ सके, उसी रीति का अवलम्बन करके उसे समझाना चाहिए। श्रुति में जो प्रारब्ध का वर्णन किया है वह इसी लिए कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष जब प्रारब्ध-भोग भोगता रहता है, तब अन्य अज्ञानी लोगों को भी प्रारब्ध के विषय में बोध होना चाहिए। ऐसी जगह में जहाँ कि सर्वत्र आत्मा भरा हुआ है, अज्ञान नष्ट हो गया है और साक्षात्कार हो गया है, प्रारब्ध का कुछ भी अधिकार नहीं चलता यह स्पष्ट ही है।

अब एक शंका और रह गई। वह यह कि जब पहले ही पहल सृष्टि हुई, तब जो प्राणी उत्पन्न हुए उनमें संचित और प्रारब्ध कहाँ से आये? इस विषय में ब्रह्मसूत्र का वचन है :—

संसारस्य अनादित्वात्।

अर्थात् प्रपंच अनादि माना गया है। श्रुति में यह तत्व प्रतिपादन किया है कि कुछ काल व्यतीत होने के बाद सृष्ट्युत्पत्ति फिर होता है आधुनिक पदार्थ-विज्ञानवेत्ताओं को भी यह तत्व मान्य है। यह सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है, यह मालूम होने के लिए वेदभाष्य से हम यहाँ पर कुछ विवरण देते हैं। प्रथमतः भाष्यकारों ने हमारे सामने (१) देव के तईं विषयभाव भासता है और (२) परमेश्वर निर्दय भासता

है—ये दो प्रश्न रखकर उनका विवरण किया है। वह यह है—

वैषम्यादापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः।
सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चपि संहरन्॥
प्राग्यनुषितकर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते।
नतो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान्॥

—अधिकरणरत्नमाला।

इसका अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न मनुष्यों को जो सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है और उसमें जो विषमता देखी जाती है, उससे उस विषमता के उत्पन्न करनेवाले ईश्वर पर वैषम्य का आरोप आता है। वेदभाष्य में सम्पूर्ण प्राणियों के कुल तीन वर्ग किये गये हैं। उनमें से देव-योनि के प्राणी अत्यन्त सुखी रहते हैं, पशु वर्ग अत्यन्त दुखी रहता है और मनुष्य-वर्ग के प्राणी मध्यम सुख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार तारतम्य-भाव रखकर भिन्न-भिन्न प्राणियों को भिन्न-भिन्न सुख-दुःख का अनुभव देनेवाला ईश्वर वैषम्यभाव का पात्र है। इसी प्रकार देव-योनि तिर्यक्-योनि, मनुष्य योनि इत्यादि प्राणी मात्र का संहार करनेवाले ईश्वर की इस कृत्य के लिए नीच लोग भी निन्दा करते हैं। अतएव सर्व जगत् का नाश करने वाला ईश्वर अत्यन्त निर्दय होना चाहिए। ये दो भयंकर आरोप ईश्वर पर आते हैं और इनका समाधान भाष्य में इस प्रकार है:—

ईश्वर पर वैषम्य-भाव का आरोप कदापि नहीं आ सकता; क्योंकि प्राणी को जो उत्तम, मध्यम या अधम दशा प्राप्त होती है, वह उसके कर्मानुसार प्राप्त होती है। इस कारण ईश्वर की स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो सकती; क्योंकि ईश्वर सर्वान्तर्यामी होने के कारण कर्माध्यक्ष भी है अर्थात् सब कर्मों का नियमन करना ईश्वर का मुख्य लक्षण है। इस जगह जिस वस्तु में जो-जो शक्ति हो, उसकी अव्यवस्था न होने देना ही नियामक का अर्थ समझना चाहिए। इस रीति से यह ध्यान में आने पर कि ईश्वर सिर्फ व्यवस्थापक है, उस पर विषमता का आरोप बिलकुल कुल नहीं आ सकता। इस दृष्टि से मनुष्य के पूर्वकर्मों के अनुसार उसे

सुख दुख की स्थिति प्राप्त होती है। ईश्वर स्वयं उसे कुछ बुरी दशा में नहीं रखता। जैसे कोई मनुष्य अपनी धरोहर साहूकार के पास लाकर रख देता है और जब वह अपनी धरोहर माँगने आता है तब साहूकार उसकी धरोहर उसे जैसी की तैसी सौंप देता है, वैसे ही ईश्वर साक्षीभूत रहकर प्रत्येक मनुष्य के पूर्वकर्म उसी को सौंप देता है अर्थात् उन कर्मों का उससे भोग कराता है। यह सच है, तथापि यह दृढ़ आक्षेप आता ही है कि प्रथमतः जब सृष्टि निर्माण हुई, उस समय किसी प्राणी का भी पूर्वकर्म सम्भव नहीं हो सकता तो फिर उस समय प्राणियों की स्थिति में विषमता क्यों होनी चाहिए? इसका उत्तर यही है कि—

संसारस्य अनादित्वात्।

—ब्रह्मसूत्र।

अर्थात् सृष्टि अनादि मानी गई है और उसका व्यापार बीजवृक्ष-न्याय से हो रहा है। ऐसी दशा में जैसे यह निश्चय करना असम्भव है कि बीज पहले है या वृक्ष पहले है, वैसे ही संसार का अनादित्व भी है। कर्म के कारण विशिष्ट स्थिति और विशिष्ट स्थिति के कारण कर्म का चक्र बराबर चल रहा है।

उसी प्रकार ईश्वर पर निर्दयता का भी आरोप नहीं आ सकता। देह विकारी है, इसलिए उसे परिणतावस्था प्राप्त होती है। फिर ऐसी रुग्ण अवस्था में मृत्यु होने से सुषुप्ति की तरह सब दुःखों और क्लेशों से छुटकारा हो जाता है। इस दृष्टि से मृत्यु प्राणी मात्र के लिए एक लाभ ही है।

अब हम यह देखते हैं कि सृष्टि का लय और पुनरुत्पत्ति कैसे होती है, सब जड़ पदार्थों का लय क्रम-क्रम से होता है अर्थात् पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में और वायु का आकाश में होता है और इसी प्रकार सब शक्तियों का लय—फिर चाहे वह विद्युच्छक्ति हो, चाहे आकर्षण शक्ति हो—प्राण में होता है। इस दृष्टि से आकाश और प्राण सब जड़ पदार्थों और शक्तियों के अधिष्ठान है। फिर आकाश और प्राण दोनों का लय उस तत्त्व में होता है, जो अनन्त

और अनादि है। इस रीति के लय होने पर फिर उलटे क्रम से, उसी अनादि तत्त्व से क्रम से उत्पन्न होकर स्थावर-जंगमात्मक जगत् आविर्भूत होता है। ऐसे समय में सूक्ष्म-रूप से रहे हुए वासना-मय लिंग-देह पुनरुद्भूत होकर भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं और वे शरीर उनकी वासनाओं और कर्मों के अनुसार होते हैं। यही ईश्वर की व्यवस्थापकता है अर्थात् यह नहीं है कि ईश्वर प्राणी को चाहे जिस स्थिति में जन्म देता हो; किन्तु उसके पूर्व-कर्मानुसार विशिष्ट स्थिति देता है। अब यदि प्राणी पूर्व-कर्मों के संस्कार से बचना चाहता हो, तो उसके भी मार्ग श्रुति में बतलाये हुए हैं अर्थात् आत्मज्ञान से संचित और क्रियमाण का क्षय करना चाहिए और कर्म-फल भोग कर अथवा योगाभ्यास का अवलम्बन करके प्रारब्ध का अन्त करना चाहिए।

इस जगत् में सब वस्तुओं की स्थिति वर्तुलाकार है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु का आदि और अन्त एक ही समान होता है। उदाहरणार्थ जमीन में बीज बोने से वृक्ष उत्पन्न होता है। वृक्ष के बड़े होने पर फिर उससे बीज उत्पन्न होता है और वह बीज फिर दूसरे वृक्ष की उत्पत्ति का मूल कारण होता है। अतएव वृक्षों के जीवन का विचार करने से सिद्ध होता है कि उनके आरम्भ का स्वरूप और अन्त का स्वरूप दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार अणु से पर्वत होता है और पर्वत का लय फिर अणु में होता है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि सब पदार्थों का आरम्भ और अन्त एक ही है। ऐसा यदि है तो जिस एक तत्त्व में इस सारे विश्व का लय होता है, उसी तत्त्व से इस सारे विश्व की उत्पत्ति होती है और इस दशा में प्रत्येक प्राणी अपना-अपना पूर्व-कर्म लेकर जन्म धारण करता है। ईश्वर पर विषमता अथवा निर्दयता का आरोप किसी प्रकार भी नहीं आ सकता।

इस विषय का शारीरिक भाष्य में जिस सूत्र के आधार से विचार किया गया है, वह सूत्र इस प्रकार है :—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्। तथा हि दर्शयति।

इसका अर्थ यह है कि प्राणी मात्र में जो विषमता देख पड़ती है

उससे ईश्वर पर विषमता नहीं आ सकती और प्राणियों का जो संहार होता है उससे ईश्वर निर्दय भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसी जगह जो ईश्वर की क्रिया देखी जाती है वह केवल सापेक्ष सम्बन्ध से होती है अर्थात् प्राणी के पूर्व-कर्मानुसार उसे स्थिति प्राप्त होती रहती है। सृष्टि में जो विषमता अथवा संहार देख पड़ता है उसमें ईश्वर का कुछ भी अपराध नहीं है। ईश्वर को मेघ की तरह समझना चाहिए। सब प्रकार के धान्यों पर मेघ समान ही बरसता है और सब धान्यों की उत्पत्ति का वह साधारण कारण होता है। यह सच है, तथापि धान्य सब जगह बराबर उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक जगह बीजों की शक्ति असाधारण कारण के तौर पर रहती ही है। इसी असाधारण कारण पर खेत का उपजाऊपन अवलम्बित रहता है और धान्य चाहे कम हो चाहे अधिक किन्तु मेघ पर उसका दोष नहीं आता। इसी प्रकार प्राणियों की विषमावस्था का दोष ईश्वर पर नहीं आ सकता। मेघ की तरह ईश्वर भी साधारण कारण होता है। असाधारण अर्थात् विशेष कारण प्रत्येक प्राणी का कर्म है। इस विषय में यह श्रुति-वचन है:—

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। —बृहदारण्यक।

अर्थात् प्राणी के पुण्य-कर्मानुसार उसे उत्तम जन्म प्राप्त होता है और पाप-कर्मानुसार अधम जन्म मिलता है। तथा देह धर्मानुसार प्राणी मात्र को मृत्यु प्राप्त होती है। इस रीति से संसार अनादि है और प्राणी उच्च-नीच स्थिति पाता है तथा उसका संहार होता है; परन्तु ईश्वर पर विषमता अथवा निर्दयता का दोष नहीं आता।

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण के विषय में यहाँ तक जो विवेचन किया गया, वह श्रुति में कहे हुए और श्रुति-बोधित सिद्धान्तों के अनुसार ही किया गया है। इससे यह बात अच्छी तरह मालूम हो सकती है कि श्रुति में आत्मज्ञान का कितना महत्त्व कहा गया है। श्रुति-वचनों का तात्पर्य समझ लेना प्रत्येक द्विज का काम है। वर्तमान समय में मुद्रण-यंत्र की सहायता से अनेक संस्कृत ग्रन्थ सुलभ हो गये हैं और श्रुति का अर्थ समझने के साधन घर घर प्राप्त हो सकते हैं, ऐसी दशा में यह बड़े महत्व

का प्रश्न है कि आधुनिक विद्वान सच्चा आत्म-ज्ञान न प्राप्त करके सिर्फ अपनी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए नवीन नवीन पंथ और मार्ग निकालने में क्यों पड़े हुए हैं? आधुनिक विद्वानों की समझ यह है कि जाति-भेद को तोड़ कर यदि सब गोलाकार कर दिया जाय, तो समाज-घटना ठीक हो जायगी, परन्तु पहले यह विचार करना चाहिए कि आर्य-तत्त्वज्ञान जो इतने उच्च-पद को प्राप्त हुआ है सो किस कारण से? इसका उत्तर यही है कि विशिष्ट मनुष्यों का समुदाय पृथक् रहा है और उसे विशिष्ट रीति से धार्मिक, मानसिक और नैतिक शिक्षा मिली है; इस कारण अत्यन्त उच्च और जगत् को आश्चर्य में डालनेवाले विचार प्रकट हुए हैं। यह बात मोक्षमूलर, कोलब्रुक, कावेल, जोन्स, प्रभृति परधर्मी ग्रन्थकारों ने भी स्वीकार की है। इस प्रकार जो विशिष्ट समुदाय सुसंस्कृत हुआ है उसी के हाथ से श्रुति, दर्शन इत्यादि ग्रन्थ-समूह निर्माण हुए और इतने उदात्त विचार बढ़े कि साक्षात् परमेश्वर-स्वरूप तक पहुँचने की शक्ति द्विजों के प्रयत्न से हुई तथा आत्म-प्राप्ति के मार्ग निकले। इस प्रकार से जो द्विजवर्ग तैयार हुआ है, उसका इच्छा-मात्र से नाश करना आधुनिक विद्वानों की दृष्टि से आवश्यक जान पड़ रहा है। परन्तु उनसे यह पूछना चाहिए कि क्या एक भी इस प्रकार का सुसंस्कृत द्विज तैयार करने का सामर्थ्य किसी में है? आधुनिक विद्वानों को श्रुति आदि ग्रन्थों का जो महत्त्व नहीं जान पड़ता इसका कारण यही है कि वे ग्रन्थ योग्य रीति से विद्यालयों में सिखलाये नहीं जाते और विद्यार्थी के मन पर आंग्ल-विद्या की छाप बैठ जाती है, इस लिए उसे श्रुति, दर्शन इत्यादि का वास्तविक स्वरूप मालूम नहीं होता। आधुनिक विद्वानों के मन पर परकीय विद्या की छाप यहाँ तक बैठी हुई देखी जाती है कि उनके ग्रन्थ संग्रह में श्रुति के साथ कुरान, बाइबल होनी ही चाहिए! उनकी योग्यता वे समान ही समझते हैं। इस कारण जिसे देखिए वही सब देशों के ईश्वर-दत्त समझे जानेवाले ग्रन्थों का परिशीलन करके नवीन पंथ उत्पन्न करने का हौसला रखता है और इसका ऐसा अनिष्ट परिणाम होता है कि धर्म-बुद्धि के लिए अत्यन्त

आवश्यक जो श्रद्धा है उसका, लोप हो जाता है और—

इदं च नास्ति परं न लभ्यते ।

की दशा चारों ओर देखी जाती है ।

आधुनिक विद्वानों की ऐसी मानसिक दशा होने का मुख्य कारण नित्य-नैमित्तिक कर्म का लोप है । निष्काम कर्म के बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, चित्त-शुद्धि के बिना निष्काम उपासना नहीं हो सकती और निष्काम उपासना के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । कर्म अन्तः-करण सुसंस्कृत करते हैं और विविदिषा जागृत होती है । पाप का क्षय हुए बिना वैराग्य नहीं उपजता । अतएव आधुनिक पंडितों को श्रुति-विहित कर्मों से प्रेम रखना चाहिए और जिन सिद्ध-ऋषि लोगों ने दर्शनों का निर्माण किया है, उनकी योग्यता अच्छी तरह जान कर उनके दिखलाये हुए मार्ग से चलना चाहिए । इससे आत्म-विद्या प्राप्त होगी और संचित तथा क्रियमाण-कर्मों का नाश होगा । प्रारब्ध-कर्म भोगने के लिए देह तैयार ही है ।

द्वितीय भाग

पहला प्रकरण

वैराग्य

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मता ।

—योगवासिष्ठ ।

आज-कल आध्यात्मिक विचारों का पुनरुज्जीवन हो रहा है, इसलिए इस प्रकार के विषयों की अभिरुचि स्वाभाविक ही पाठकों में अधिकाधिक उत्पन्न होती जा रही है। इस कारण ऐसे समय में हम समझते हैं कि यदि ऐसा कोई निबंध पाठकों के सम्मुख रक्खा जाय, जो क्रमशः वेदान्त-शास्त्र की संगति लगा कर दिखलाये तथा जो किसी सर्वमान्य और प्रौढ़ विचारों से परिप्लुत और प्राचीन आर्य-ग्रंथ के आधार से लिखा गया हो, तो वह अवश्य ही बहुमान का पात्र होगा। यदि ऐसे प्राचीन आर्य-ग्रन्थ को चुनना है कि जिसमें आर्य-तत्त्व-ज्ञान और आर्य-धर्म का बिलकुल शुद्ध और सर्वोत्कृष्ट विवेचन हो तो ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ योगवासिष्ठ ही है। उसके सोपपत्तिक विवेचन का प्रशान्त बुद्धि से विचार करने पर यह प्रमेय सब के हृदय में जम सकता है कि आर्य-तत्त्व-ज्ञान और हमारे सनातन धर्म में परस्पर विरोध नहीं है; किन्तु आर्य-धर्म ही आर्य-तत्त्व ज्ञान है और आर्य-तत्त्वज्ञान ही आर्य-धर्म है। योगवासिष्ठ में वेदान्त-विचार के लिए मूल अधिकारी विद्यार्थी से लेकर अत्यन्त श्रेष्ठ योगियों तक सभी के लिए अत्यन्त उपयुक्त और सम्मत वेदान्त तथा योग-शास्त्र के मत निर्देश किये गये हैं; अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थ की योग्यता बहुत बड़ी है।

इस प्राचीन ग्रन्थ का कथानक बहुत ही सरस और बिलकुल संक्षिप्त है। यह बात नहीं है कि पाठकों के सामने उसकी बड़ी भारी पोथी खोलनी पड़े। यहाँ पर थोड़े में यह बतला देना बस होगा कि ग्रन्थोत्पत्ति

का प्रसंग कौन सा है और उसका कारण क्या है। विश्वामित्र ऋषि के प्रारम्भ किये हुए यज्ञ में जब दुष्ट राक्षसों ने विघ्न किया, तब उनके प्रतीकार के लिए विश्वामित्र ने दाशरथि राम-लक्ष्मण की सहायता की। परन्तु राजा दशरथ का पुत्र-प्रेम अनिवार्य था। राम-लक्ष्मण का वियोग असह्य होने के कारण उन्होंने विश्वामित्र की विनती अस्वीकार की। तब तपोनिधि विश्वामित्र ऋषि क्रोधाविष्ट होकर चल दिये। यह समझकर कि कदाचित् वे शाप न दे दें, श्रीमद्वसिष्ठ ऋषि ने विश्वामित्र को विमुख न जाने देने की सलाह दी और यह बतला कर कि श्री रामचन्द्र यद्यपि पन्द्रह वर्ष के सुकुमार बालक हैं, तथापि वे सामान्य मनुष्य नहीं हैं; किन्तु मंगलों के मंगल, योगियों के मुकुटमणि और विश्राम-स्थान, दैत्यों के शासन-कर्त्ता, आर्य-धर्म-रक्षक और साक्षात् परब्रह्म हैं, दशरथ का अज्ञान दूर किया। तब दशरथ को परम आनन्द हुआ और उन्होंने रामचन्द्र को सभा-स्थान में बुलाया। उस समय तीर्थाटन के कारण श्री रामचन्द्र के हृदय में परमावधि की वैराग्य वृत्ति आ गई थी। उनकी बुद्धि में यह बात खूब समा गई थी कि देह-सौभाग्य, राज्य-भोग, मित्र, भाई-बन्धु, तरुण युवतियों के भोग आदि सब क्षय-रोग के समान हैं। देह, इन्द्रियों और चंचल मन के विषय में उन्हें अत्यन्त घृणा हो गई थी। ऐसा तीव्र वैराग्य उन्हें तीर्थाटन के कारण हो गया था।

इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति।
दूराद्दूरतरं दीनं ग्रामकौलेयको यथा॥

—योगवासिष्ठ

मनमाने पदार्थों पर दौड़ना चाहिए, कोई विषय चाहे प्राप्त भी हो गया हो, तथापि और भी उसकी आशा रखनी चाहिए, अप्राप्य वस्तु की इच्छा रखनी चाहिए, यही नहीं, किन्तु जो पदार्थ पृथ्वी पर न हो, उनकी भी इच्छा रखनी चाहिए, चाहे इन्द्र-पद क्यों न मिल जाय, तथापि सन्तोष न होना चाहिए। इस प्रकार कुत्ते के समान बहकने वाले मन से उकता कर श्री रामचन्द्र बिलकुल त्रस्त हो गये थे और उनकी वृत्ति ऐसी हो गई थी कि वे चाहते थे कि उन्हें सद्गुरु मिल जायँ और उनका

संकट दूर हो। ऐसे समय में श्रीमद्वसिष्ठ ऋषि ने श्री रामचन्द्र को आर्य-धर्म तत्वों का उपदेश किया और उनके मन की व्यग्रता दूर की। यही विशिष्ट प्रसंग योगवासिष्ठ का कारण है।

जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों के विषय में अप्रीति होकर साधु चरणों में आसक्ति होना ही शुद्ध मति है और यही ज्ञान की पहली सीढ़ी है। शिष्य को वैराग्य चाहे प्राप्त हो जाय, तथापि जब तक वह गुरु से प्रार्थना न करे, तब तक वह उसके उपदेश का पात्र नहीं होता। शिष्य आतुरता के साथ गुरु की शरण में न आकर यदि प्रश्न करे तो उसे उपदेश करना गुरु के लिए दूषणास्पद है। यह बात वसिष्ठ के बतलाने पर श्री रामचन्द्र ने उठकर वसिष्ठ के चरण पकड़े और यह प्रार्थना की कि मेरा उद्धार कीजिए। तब वसिष्ठ ने रामचन्द्र को सम्मुख बैठाया और यह प्रतिज्ञा करके कि अब वैराग्यपूर्ण ज्ञान विज्ञान मैं तुझे बतलाता हूँ, जिसके श्रवण से तू पूर्णब्रह्म का अनुभव प्राप्त कर सकेगा, उपदेश प्रारम्भ किया। यह उपदेश दस प्रकरणों में है:—

१ वैराग्य, २ जगन्मिथ्यात्व, ३ मनोलय, ४ वासनोपशम, ५ आत्ममनन, ६ शुद्ध-निरूपण, ७ आत्मार्चन, ८ आत्म-निरूपण, ९ जीवन्मुक्ति, १० निर्वाण।

पहले वसिष्ठ ने यह बतलाया कि वेदान्त-शास्त्र के अधिकारी कौन हैं।

अहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्यास्ति निश्चयः।
नात्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्॥

योगवासिष्ठ।

अर्थात् जिसका ऐसा निश्चय हो गया है कि मैं संसार-बद्ध हूँ, इससे मेरी मुक्ति होनी चाहिए, वही इस शास्त्र का अधिकारी होता है। परन्तु वह अत्यन्त अज्ञानी अथवा अत्यन्त ज्ञानी न होना चाहिए। अत्यन्त अज्ञानी वह है जो यह समझता है कि मैं देह-रूपी हूँ और देह के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। तथा जो 'अहं' शब्द केवल अपनी देह में ही लगाता है; जिसे यह नहीं जान पड़ता कि मैं कौन हूँ और आया कहाँ से हूँ, तथा जो केवल शिस्नोदर-परायण और केवल प्रपंच में अत्यन्त

दक्ष है, उसे अत्यन्त अज्ञानी कहना चाहिए। वह वेदांत-शास्त्र का अधिकारी नहीं होता। इसी प्रकार अत्यन्त ज्ञानी वह है, जिसे अपरोक्षज्ञान हो चुका है। जो ब्रह्मानन्द में डोलता रहता है और जिसे ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता, वह भी अत्यन्त ज्ञानी है। ऐसा पुरुष भी अवश्य ही इस शास्त्र के लिए अनधिकारी है। स्पष्ट ही है कि जो यथेच्छ भोजन करके बैठा है उससे यह कहना व्यर्थ है कि और भी खा लो। अतएव जो अत्यन्त अज्ञानी नहीं है और अत्यन्त ज्ञानी भी नहीं है; किन्तु जो केवल मध्यस्थ है, वही वेदान्त-शास्त्र का पूर्णाधिकारी है। तथा इस शास्त्र का अधिकारी होने के लिए साधन-चतुष्टय-सम्पन्नता होनी चाहिए। यह साधन-चतुष्टय इस प्रकार है:—(१) नित्या-नित्य वस्तु-विवेक, (२) इहामुत्र-फलभोग-विरक्ति, (३) शमदमादि षट्क और (४) मुमुक्षुता।

साधन-चतुष्टय में से पहला साधन नित्यानित्य-वस्तु-विवेक है। इस बात का बड़ी सूक्ष्मता से अपने मन में विचार करके कि जगत् में नित्य वस्तुएँ कौन सी हैं और अनित्य कौन सी हैं, यह भावना होना कि नित्य-वस्तु आत्म-स्वरूप है, उसे छोड़कर सब वस्तुएँ अनित्य अर्थात् नाशवान् हैं, देह आदि सब प्रपंच नश्वर अर्थात् अनित्य हैं, नित्यानित्य-वस्तु-विवेक कहलाता है। यह विवेक जिसमें जागृत होता है, वही वेदान्त-शास्त्र का अधिकारी है। अब दूसरे साधन इहामुत्र-फलभोग-विरक्ति का लक्षण सुनिए:—

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मता।

योगवासिष्ठ।

अर्थात् चाहे इह लोक में प्राप्त होने वाले राज्यादि भोग मिलें, चाहे ब्रह्मलोक मिले, तथापि उसे तृणवत् मानना वैराग्य का श्रेष्ठ लक्षण है। तीसरा साधन शम-दमादिक षट्क है। वह षट्क यह है :— १ शम, २ दम, ३ उपरति, ४ तितिक्षा, ५ समाधान और ६ श्रद्धा। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को विषयों से रोकना, अन्तरिन्द्रिय-निग्रह कहलाता है, यह शम है। बाह्येन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध करके प्रत्येक इन्द्रिय को उसके व्यापार से विमुख करना दम

कहलाता है। इन्द्रियों का दमन हो जाने पर विषयों की ओर उनकी पुनरावृत्ति न होने देने को उपरति कहते हैं। एक बार निरोध करने पर भी बार-बार विषयों की ओर दौड़ना इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म है। अतएव सदा उनकी लगाम खींचते रहना चाहिए, इसी को उपरति कहते हैं। अब तितिक्षा की व्याख्या सुनिए। सर्वदा द्वन्द्व सहन करने की शक्ति को तितिक्षा कहते हैं। शीत-उष्ण, सुख-दुख, राग-द्वेष इत्यादि कहलाते हैं। स्नान-संध्यादि कर्म करते समय शीतोष्ण की जो बाधा होती है, उसकी कोई परवा नहीं। हमारा कर्माचरण सांगोपांग होना ही चाहिए; तथा प्रारब्ध-वेग से व्यवहार में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख हमें भोगने ही चाहिए, उनसे कोई बच नहीं सकता। इस प्रकार की शीतोष्ण सुख-दुःखादि के सहन करने की शक्ति को तितिक्षा कहना चाहिए। पाँचवाँ साधन समाधान है। सम्पूर्ण विषयों में सदा शान्त-वृत्ति रहकर महावाक्य-श्रवण में अत्यन्त आदर-बुद्धि रहना समाधान है। छठा साधन श्रद्धा है। उसकी व्याख्या यह है कि सद्गुरु के उपदेश और सत्पुरुषों के किये हुए महावाक्य-विवरण पर पूर्ण विश्वास रहना—उसमें संशयित बुद्धि कभी न होना—श्रद्धा कहलाती है। यह शमदमादि षट्क का निरूपण हुआ। अब साधन-चतुष्टय के चौथे साधन मुमुक्षुता का हम विचार करते हैं।

मुमुक्षुता कहते किसे हैं? जो साधारण तौर पर सिर्फ इतना ही समझता है कि देह 'मैं' नहीं हूँ, इन्द्रियाँ भी 'मैं' नहीं हूँ और यह समझ कर कि मैं अज्ञान के कारण बद्ध हुआ हूँ, जिसका मन आतुर होता है तथा जिसे आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ और उससे होनेवाले परमानन्द का अनुभव भी जिसमें नहीं पाया गया, किंतु केवल विषयों से संत्रस्त हो जाने के कारण ही उनकी ओर जिसकी प्रवृत्ति नहीं होती, जो अनादि अज्ञान के कारण भ्रम में पड़ गया है और जिसका मन इस बात के लिये आतुर हो रहा है कि अपना छुटकारा होने के लिए अब मैं अनन्य-भाव से सद्गुरु की शरण में जाऊँगा वह मुमुक्षु है और उसकी उस स्थिति को मुमुक्षुता कहना चाहिए। इस

प्रकार जो पुरुष साधन चतुष्टय सम्पन्न, विषय वैराग्य युक्त और साधु वचन लोलुप हुआ है वही वेदान्त-शास्त्र का सच्चा अधिकारी है। दूसरों को वह अधिकार नहीं प्राप्त होता।

ये सब बातें होने के लिए ईश्वरानुग्रह की आवश्यकता है। इसके बिना वैराग्य का होना और साधु पर भक्ति जमना कभी सम्भव नहीं। ईश्वरानुग्रह होने का लक्षण यही है कि उसके होने पर मनुष्य में यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि वर्णाश्रम-धर्म-नियामक नित्य-नैमित्तिक कर्म सांगोपांग उत्तम रीति से करके ईश्वरार्पण करना चाहिए। इस भावना से नित्य-नैमित्तिक कर्म करने पर पाप का क्षय होकर अन्तःकरण शुद्ध होता है और ईश्वर के विषय में अत्यन्त भक्ति उपजती है। ईश्वर अनन्य-भक्ति के योग से सन्तुष्ट होता है और उसके सन्तुष्ट होने पर भक्तों पर उसका अनुग्रह होता है और इससे देह के विषय में तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होने पर यह बुद्धि होती है कि अब साधु की संगति और सेवा करनी चाहिए। इसके बाद शम-दम की प्राप्ति होती है, विमल भक्ति उत्पन्न होती है और अन्तःकरण दयार्द्र होता है। यही वेदान्त-शास्त्र का क्रम है। चित्त-शुद्धि का तत्त्व वेदान्त-शास्त्र की तरह किसी धर्म-पन्थ में विशिष्ट रीति से प्रतिपादन नहीं किया गया है, इसी लिए वेदान्त-शास्त्र को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ है।

भावानानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्।
तावन्न सद्गुरुः कश्चित् सच्छास्त्रं वापि नो लभेत्॥

—योगवासिष्ठ।

इस वचन के अनुसार जब तक ईश्वर का साक्षात् अनुग्रह नहीं हुआ, तब तक कल्पान्त में भी सद्गुरु-प्राप्ति की प्रीति नहीं उपजती। उपर्युक्त वचन में जो 'साक्षात्' शब्द रक्खा गया है उसमें बहुत अर्थ है। यदि किसी पुरुष के पास सम्पत्ति और सन्तति अधिक हुई और अन्य सुखोपभोग के यथेच्छ साधन हुए तो मामूली लोग समझते हैं कि इस मनुष्य पर ईश्वर की बड़ी कृपा है; परन्तु वेदान्त की दृष्टि से उनकी यह समझ बिलकुल मिथ्या है। यह मामूली और नीचे दरजे कीईश्वर-

कृपा है। जिस अनुग्रह से सद्गुरु का लाभ होता है वही साक्षात् ईश्वरानुग्रह है। उसके बिना सद्गुरु के दर्शन नहीं होते; दर्शन भी हुए तो इतने ही से उसमें पूर्ण भक्ति नहीं होती और सद्गुरु प्रसन्न नहीं होता; सद्गुरु प्रसन्न भी हुआ तो उससे प्रश्न करके अन्तःकरण की आतुरता निकाल डालने योग्य ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते और वह अन्तःकरण की आतुरता वैसी ही बनी रहती है। मुख्य शास्त्र 'तत्त्वमसि' महावाक्य है। यह सद्गुरु-मुख से श्रवण करने पर हमारी जगद्विषयक अज्ञान-मूलक कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं। महावाक्य सूत्र-स्थान में है और सारा वेदान्त वृत्ति-स्थान अर्थात् उसके टीका-स्थान में है। अतएव महावाक्य काश्रवण ईश्वरानुग्रह बिना कदापि नहीं होता।

शून्यं सम्पूर्णतामेति मृत्युरप्यमृतायते।
आपत्सं पदिवाभाति विद्वज्जनसमागमात्॥

—योगवासिष्ठ।

मनुष्य में यदि आत्मज्ञान न हुआ तो समझ लो कि कुछ नहीं हुआ। आत्मज्ञान बिना दसों दिशा शून्य मालूम होती हैं। देह, बुद्धि, अन्तःकरण रीते हो जाते हैं। देश, ग्राम, चन्द्र, सूर्य और सम्पूर्ण विश्व अनात्मता के कारण शून्य भासते हैं। तीर्थ, क्षेत्र, देवता, कर्माचरण इत्यादि सब व्यर्थ जान पड़ते हैं; परन्तु यदि सत्समागम हो गया तो यह सारा क्रम उलट जाता है। पहले जो शून्याकार मालूम होता था वह क्षण ही में परिपूर्ण मालूम होने लगता है और 'खल्विदं ब्रह्म' की भावना आ जाती है; अर्थात् प्राणी को यह अनुभव होता है कि सर्वत्र आत्मा ही आत्मा भरा हुआ है। इस प्रकार साधु-समागम से खोया हुआ आत्मा जगह पर आ जाने के स्वाभाविक ही ज्ञान-प्रभाव से बुद्धि, इन्द्रिय आदि को ब्रह्म के सिवाय और कुछ भासता ही नहीं। और ऐसी दशा में यदि मृत्यु भी आ जाय तो वह भी मोक्ष-प्राप्ति-सी जान पड़ती है। तात्पर्य सत्समागम से परम वैराग्य और ज्ञान उत्पन्न होकर प्राणी से सत्कर्मानुष्ठान होता है; अधिक क्या अष्टांग साधन-सम्पत्ति साधु-समागम से ही प्राप्त होता है। इस अष्टांग योग-साधन का निरूपण आगे होगा, अतएव यहाँ उसके

विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

तद्ज्ञानं स च शास्त्रार्थस्तद्विज्ञानमखंडितम्।
सच्छिष्याय विरक्ताय साधोर्यदुपदिश्यते॥

—योगवासिष्ठ।

सच्छिष्य और वैराग्य सम्पन्न अतएव अधिकारी शिष्य को जिस ज्ञान का उपदेश किया जाता है वही सच्चा ज्ञान है, वही सच्चा शास्त्रार्थ है, और वही अखण्डित विज्ञान अर्थात् स्वानुभव-ज्ञान है। उपर्युक्त 'सच्छिष्य' शब्द का मर्म ध्यान में आने के लिए उसका अधिक स्पष्टार्थ होना चाहिए। वह यह है कि जो शिष्य जारण-मारणादि निषिद्ध कर्म छोड़ देता है, काम्य-कर्म अर्थात् सहेतुक कर्म वर्जन करता है, नित्य-नैमित्तिक कर्म अहेतुक अर्थात् निष्काम बुद्धि से करके उन्हें ईश्वरार्पण करता है और इस कारण जिसका अन्तःकरण शुद्ध दर्पण के समान हो गया है, उसे वेदान्त की दृष्टि से सच्छिष्य कहना चाहिए। क्योंकि निष्काम कर्म करना ही वासना का समूल उत्सर्ग करनेवाला साधन है और उस कर्म को ईश्वरार्पण करना चित्त-शुद्धि को निमंत्रण देना है। अतएव इस प्रकार से चित्त शुद्धि हो जाने के कारण जिसका बोलना-चालना देखना आदि सब कुछ शुद्ध हो गया है, कुटिलता जिसके पास कल्पान्त में भी नहीं फटक सकती और जिसकी इन्द्रियाँ सरल रीति से बर्ताव करती हैं, उसी को सच्छिष्य समझना चाहिए। सच्छिष्य की समता पानी के स्वभाव से होती है। पानी के प्रवाह को जिधर, जैसा जहाँ तक ले जाइए वहाँ तक वह जाता है। उसमें आग्रह-बुद्धि नहीं होती। इसी तरह जिसमें आग्रह-बुद्धि नहीं रहती वही सच्छिष्य है। तथा जिसके हृदय में सदा शुभेच्छा वास करती है और तदनुसार जिसका संकल्प होता है उसे सच्छिष्य कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि जिसका मन और बुद्धि दोनों अत्यन्त शुद्ध होते हैं, जिसे शास्त्र-श्रवण से पूर्ण प्रीति होती है, जिसकी ईश्वर पर सप्रेम भक्ति होती है, पाप-वासना जिसमें नहीं उपजती, जिसे एकान्त-वास पसन्द आता है जो मन से उदार होता है तथा जिसने सत्त्व-बुद्धि के अलंकारों को धारण किया है उसी को सच्छिष्य कहना चाहिए

और वही वेदान्त-शास्त्र का सच्चा अधिकारी होता है।

उपर्युक्त श्लोक के 'विरक्ति' शब्द का भी स्पष्टार्थ करना अभीष्ट है। जिसे इन्द्रिय वर्ग और देह-संग अच्छा नहीं लगता वह पुरुष विरक्त है। उसे देह से घृणा क्यों हो जाती है? इसलिए कि यह देह नश्वर और कुत्सित है; यह अस्थि का घर है; इसमें मांस, मज्जा, रुधिर, पीब, पंक बड़े-बड़े कृमि, मल, मूत्र इत्यादि परिपूर्ण है। इनमें से यदि एक ही एक आगे रक्खा जाय तो अत्यन्त घृणा होगी; फिर इन सब दुर्गन्धियों की खान ही जब हमारा शरीर है तब उससे हमें घृणा क्यों न हो? देह की घृणा का दूसरा कारण यह है कि वह षड् विकारी है। उन-विकारों को सुनिए—(१) अस्ति, (२) जायते, (३) विवर्धते, (४) विपरिणमते, (५) अपक्षीयते और (६) विनश्यति। इनमें प्रत्येक विकार के दुःख का वर्णन किया जाय तो बड़ा विस्तार हो जायगा और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस दुःख से मन भी घबड़ा जायगा। पहले 'अस्ति' विकार को लीजिए। माता के ऋतुकाल में पिता का संयोग होने पर, प्राणापान वायु के उच्छ्वास के साथ ही गर्भ-कमल में अणुमात्र भी रेत-स्खलन होने से, माता के रज के साथ पितृ-रेत मिलता है और बाद उससे लिंगदेह-मिश्रित स्थूल देह बनता है, यह अस्ति विकार का लक्षण है। गर्भ-वास में रहते समय प्राणी को अत्यन्त दुःख होता है और नरक-वास से भी भयंकर यातनाएँ वहाँ भोगनी पड़ती हैं। वहाँ कोई उसका सहायक नहीं होता। वह जेलखाना बहुत ही कठिन है। इस विकार से छूट कर प्राणी अति प्रयास योनि द्वारा बाहर आकर मूर्च्छागत गिरता है और बाहर गिरते ही सोहंकार भूल कर 'कोहं कोहं!' कह कर बड़े जोर से चिल्लाने लगता है। उस अवस्था में कुछ भी कीजिए, सुख नहीं होता। अतएव उस दुःख से और नाल-छेदन की पीड़ा से प्राणी तड़फड़ाता रहता है। इस दूसरे विकार को जायते की संज्ञा है। तीसरा विकार विवर्धते वह है कि जब प्राणी का शरीर बढ़ने लगता है उस दशा में फाहे से दूध उसके मुख में डालते हैं; परन्तु वह उसके लिए बस नहीं होता। अतएव बालक तड़फड़ाता है। तब उसे स्तनपान की आदत डाली जाती है। इस अवस्था में प्राणी

को सदा मल-मूत्र में लोटते हुए दुर्गन्धि में रहना पड़ता है। विपरिणमते नामक चौथे विकार का लक्षण यह है कि इस अवस्था में देह का विशेष प्रभाव होता है उसे चार प्रकार की स्थिति प्राप्त होती है। वे ये हैं:—

कौमार पंचमाब्दान्ते पौगंडं दशमावधि।
कैशोरमापंचदशात् यौवनं तु ततः परं॥

—योगवासिष्ठ।

पाँच वर्ष की उमर तक कुमारावस्था, दस वर्ष तक पौगंडावस्था पन्द्रह वर्ष तक किशोरावस्था और तदनन्तर यौवनावस्था होती है। इन चार अवस्थाओं में प्राणी पर विशेष प्रभाव पड़ता है, अतएव इस विकार को विपरिणमते कहते हैं। अब पाँचवें विकार अपक्षीयते को लीजिए। इस अवस्था में प्राणी को क्षुत्पिपासा की पीड़ा बहुत होती है और लोभ असीम-रूप से बढ़ता है। शरीर में सिमेट पड़ने लगते हैं, बाल सफेद होने लगते हैं। यदि कोई 'बुड्ढा' कह देता है तो लज्जा उत्पन्न होती है। उमर पूछिए तो छिपाकर पचास की जगह चालीस ही बतलाता है! आत्म-विचार में मन निमग्न नहीं होता; परन्तु विषय-वासनाएँ बहुत प्रबल होती हैं। मुँह पुपला जाता है, शब्द स्पष्ट नहीं निकलता, विषय की तृष्णा नहीं छूटती। इस अवस्था में स्त्री-पुत्रादि पराये हो जाते हैं। हाथ पैर लूले हो जाते हैं और देह की सुन्दरता चली जाती है। खाँस खाँस कर रात व्यतीत करता है, सब कुटुम्बी उकता कर कहने लगते हैं कि "अरे अब यह बुड्ढा मरता क्यों नहीं? क्यों 'जी' रहा है?" इस प्रकार लोग मुँह पर ही कहने लगते हैं। यही नहीं, बल्कि उसके मरने के लिए कोई कोई मानता भी करते हैं!! ऐसी दुर्दशा होने पर वह प्राणी आप-ही-आप बड़बड़ाता रहता है कि "हे ईश्वर, तू कहाँ है? मुझे मौत क्यों नहीं देता?" यह सब दशा होती है, तथापि स्त्री-पुत्रादि का मोह नहीं छूटता। नाती, पतोहू, गोरू-बछड़े उसे चाहिए ही। यही वह अपक्षीयते विकार है।

अब छठे विकार 'विनश्यति' के विषय में लिखा जाता है। विनश्यति मरण-प्राप्ति को कहते हैं। उस मरण को दुःख का पहाड़ ही समझिए।

प्राणी जिसे जन्म भर अपना मानता रहता है उस सब का अन्तिम त्याग करके उसे जाना होता है और अन्त में दाँती बँध जाती है। लोग पास आकर बैठते हैं; उनके मुख की ओर वह देखता है और बोलने के लिए मुँह खोलना चाहता है, परन्तु शब्द नहीं निकलता। इस कारण प्राणी को असीम यातनाएँ होती हैं। इसी तरह षड्-विकारों का दुःख होता है। इस दुःख को सदैव अन्तःकरण में रखना ही सच्चा वैराग्य है और ऐसा वैराग्य जिसमें आता है उसी की विषयासक्ति छूटती है और उसमें उदासवृत्ति आती है।

इसी प्रकार का वैराग्य-युक्त सच्छिष्य ज्ञानोपदेश के योग्य है। उसी की भूमि को तैयार हुई समझना चाहिए और उसी को ज्ञानोपदेश करने से यथार्थ फल-प्राप्ति होती है। स्पष्ट ही कि जमीन को अच्छी तरह बनाये बिना यदि बीजारोपण किया जाता है अथवा योग्य काल में यदि नहीं बोया जाता, तो करोड़ उपाय करने से भी फल नहीं होता। यही हाल ज्ञानोपदेश का भी है। गुरुमुख से निकलनेवाला शाब्दिक ज्ञान-रूपी बीज वैराग्य और श्रद्धा के परिश्रम से बने हुए सच्छिष्य-रूपी सत्क्षेत्र में जब बोया जाता है, तभी उससे अपरिमित फल प्राप्त होते हैं। परन्तु वही उत्कृष्ट बीज यदि ऊसर जमीन में बो दिया जाता है तो फल-बल कुछ नहीं मिलता; किन्तु बीज भी व्यर्थ जाता है। इसका तात्पर्य यही समझना चाहिए कि असच्छिष्य को जो ज्ञान दिया जाता है, वह ज्ञान ही नहीं। अच्छा, सच्छिष्य-रूपी वृक्ष बन भी गया और शास्त्र-जल से उसे सिंचित भी किया, तथापि यदि वैराग्य-ऋतु की बहार से वह वृक्ष न लहलहाया तो बोध-रूप फल उसमें कदापि नहीं आ सकते। वैरागी सच्छिष्य ही के मन पर ज्ञानोपदेश बैठता है और इसी से फल निकल सकता है। वैराग्य अखण्ड होना चाहिए। दुःख-समय में सभी को वैराग्य आ जाता है, परन्तु सुख के दिन आते ही मनुष्य विषयासक्त हो जाता है। ऐसा खंडित वैराग्य उपयोगी नहीं। जिस वैराग्य का किसी अवस्था में भंग नहीं होता और जिसे यदि छोड़ना भी चाहते हैं तो वह और भी पीछे लगता है, वही अखण्ड वैराग्य है। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार पर-पुरुष

से सर्वदा विमुख रहती है उसी प्रकार अखंड वैराग्य-युक्त शिष्य विषय विमुख रहता है। स्पष्ट ही है कि विष से राँधे हुए षट् रस-मय भोजन कौन ग्रहण करेगा ? चाहे कोई पैरों पड़ कर उस भोजन के ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करने लगे तथापि उस भोजन को कोई नहीं छूएगा इसी प्रकार सम्पूर्ण विषयोपभोग का परिणाम दुःख-मय समझ कर शिष्य के मन में उसके विषय में तिरस्कार उत्पन्न होता है। अस्तु।

शिष्य को शास्त्र-व्युत्पत्ति हो गई और गुरूपदेश भी मिल गया तथापि—

ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवला। —योगवासिष्ठ

इस वचन के अनुसार उसे सत्य-बोध होने के लिए उसमें शुद्ध बुद्धि का होना आवश्यक है। वेदान्त-दृष्टि से जिस पुरुष की मति शुद्ध हो गई है, उसे आप व्यवहार-मार्ग की ओर चाहे जितना खींचिए वह उदास ही रहेगा और सच्छास्त्र-श्रवण आदि के जितने प्रसंग आवेंगे उनको वह कभी टलने नहीं देगा। यह सत्कार्य-बुद्धि पूर्व-संस्कार के कारण ही उत्पन्न होती है और इस सद्बुद्धि के लिए मनुष्य अपना आप ही कारण होता है, यह बात—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः॥

इस साधारण गीता-वाक्य से स्पष्ट है। जो स्वयं ही अपने आत्मा को जीत लेता है, उसका आत्मा उसका बन्धु हो जाता है और जो अपने आत्मा को जीत नहीं सकता उसका आत्मा उसी का शत्रु हो जाता है। इस प्रकार जब शिष्य की मति शुद्ध हो जाती है तब साधन चतुष्टय उसे आप ही आप प्राप्त हो जाता है और गुरु-बोध से तत्काल उसे आत्म-साक्षात्कार होता है। इस पर सहज ही यह शंका उठती है कि जब शास्त्र-व्युत्पत्ति के अन्तरंग साधन से बोध हो जाता है और सद्गुरु-दर्शन से स्व-स्वरूप प्राप्त हो जाता है तब वह कथन कैसे संगत होगा कि आत्मप्राप्ति के लिए शिष्य की केवल शुद्ध बुद्धि होनी चाहिए ? क्या आत्मा बाह्य साधनों के बिना बिलकुल ही अप्रकाशित

है ? इस शंका का समाधान यह है कि आत्मा स्वयं-प्रकाश-रूप है, यह बात निर्विवाद है, तथापि शुद्ध-बुद्धि अवश्य होनी चाहिए। अच्छा, अब हम उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट करते हैं। गोले की बारूद में अग्नि का स्पर्श होने पर आवाज होती है; परन्तु यदि वह बारूद तीक्ष्ण न होगी, तो क्या उपयोग हो सकता है ? यही हाल शुद्ध-बुद्धि और गुरु-वाक्य का है। शुद्ध-बुद्धि ही बारूद है और गुरु-वाक्य अग्नि के समान है। बुद्धि यदि शुद्ध न होगी तो गुरु-वाक्य क्या करेगा ? शिष्य-प्रज्ञा यदि शुद्ध न होगी तो अज्ञान और संशय का नाश नहीं होगा। शुद्ध बुद्धि से क्षणार्ध में आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है।

इस आत्मज्ञान का सामर्थ्य बहुत ही बड़ा है और जहाँ वह एक बार प्राप्त हो गया कि फिर अभंग हो जाता है अर्थात् फिर वह कभी नाश नहीं होता है। यह दशा अन्य शास्त्रों की नहीं है। सम्पूर्ण बाह्य कला अर्थात् अनात्म विद्या अनभ्यास से नष्ट हो जाती हैं। परन्तु यह आत्म-विद्या एक बार प्राप्त हो जाने पर फिर दिन-दिन बढ़ती ही जाती है, यह बात—

सर्वा बहिःकाल जन्तोरनभ्यासेन नश्यति।
इयं ज्ञानकला राम सकृज्जाताभिवर्द्धते॥

—योगवासिष्ठ।

इस वचन से स्पष्ट होती है। वेद, शास्त्र, स्तोत्र इत्यादि का चाहे जितना अध्ययन किया जाय; परन्तु यदि उनका अध्ययन छूट गया तो फिर उन सब पर पानी पड़ जाता है। पर आत्म-विद्या का वह हाल नहीं है।

आत्मा यद्यपि स्वयं प्रकाश-मय है तथापि सद्गुरु-वचन के बिना उसका प्रकाश नहीं होता। एक बार दस यात्री एक नदी पार करके यह जानने के लिए कि सब आ गये या नहीं, गणना करने लगे। गिननेवाला अपने को छोड़ कर नौ को गिनता था, इस कारण दसवें का पता ही न चलता था। अतएव सब प्रवासी बड़ी चिन्ता में पड़े कि एक आदमी डूब तो नहीं गया। इतने ही में अचानक एक और पथिक आ निकला उसे जब यह बात मालूम हुई तो उसने सब को खड़ा करके नौ मनुष्यों

को गिना दिया और प्रत्येक को यह समझा दिया कि 'दशमस्त्वमसि' अर्थात् दसवाँ तू ही है। उसने उनको समझा दिया कि तुममें से प्रत्येक अपने को गिनना भूल जाता है और इसी लिए यह गड़बड़ पड़ती है। यह बात समझ जाने पर उनका अज्ञान और चिन्ता दूर हो गई और वे सब अपने मार्ग में लगे। बस यही दशा आत्मज्ञान की भी है। गुरु-कृपा के बिना आत्मज्ञान की मुख्य पहचान नहीं होती। प्रत्येद मनुष्य 'सोऽहं' की भावना भूल कर शोक-निमग्न हो जाता है। वह शोक अज्ञान के कारण ही होता है। जहाँ वह अज्ञान दूर हुआ कि बस फिर अपने को अपना मिल जाता है। इसके लिए अनेक व्यावहारिक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कभी कभी लेखनी के कान पर रहते हुए भी मुहर्रिर लोग भ्रम से इधर उधर ढूँढ़ने लगते हैं। परन्तु उसके मिलने पर उन्हें परम आनन्द होता है। इसी प्रकार अज्ञान-भ्रम नष्ट होने पर स्व-स्वरूप प्राप्ति होती है।

यह वैराग्य-प्रकरण मानो वैदिक धर्म-तत्त्व की नींव ही है। इस विषय में जो निरूपण किया गया उसका तात्पर्यार्थ यह है कि आत्मज्ञान होने के लिए पूर्ण वैराग्य को छोड़ कर अन्य साधन नहीं है। वैराग्य के बिना इन्द्रियाँ अन्तर्मुख नहीं होतीं, विवेकज्ञान नहीं उपजता और ईश्वर-विषयक-भक्ति भी नहीं उत्पन्न होती। सच्चा वैराग्य आने पर शान्ति, सुख आदि सब प्राप्त होते हैं। अन्य किसी साधन से भी स्व-स्वरूप-प्राप्ति नहीं होती।

न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेन अमृतत्वमानुशुः।

—नारायणोपनिषद्।

अमृतत्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर्मों के करने, पुत्र-लाभ होने अथवा धन-सम्पन्नता से नहीं होती, किन्तु केवल विषय-त्याग से ही मोक्ष प्राप्ति होती है, यह वेदान्त-शास्त्र का सिद्धान्त है। पुत्र-लाभ से बहुत होगा तो स्वर्ग-लाभ होगा; मोक्ष नहीं मिल सकता। क्योंकि वह अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी सर्वथा अप्राप्य है। ज्ञानोत्पत्ति का मुख्य मार्ग त्याग और ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय एक वैराग्य ही है। परमार्थ-प्राप्ति कुछ

दरवाजे पर की भाजी नहीं है। वह मार्ग बड़ा ही विकट है। ऊपर बतलाये हुए पूर्व सुकृत, चित्तशुद्धि इत्यादि अनेक संस्कारों की उसके लिए आवश्यकता है।

आधुनिक काल में उत्पन्न होनेवाले धर्म-पंथों की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब जान पड़ता है कि धर्म की सिर्फ हँसी हो रही है। जिसे देखिए वही एकदम ईश्वर-प्राप्ति की अपेक्षा करता है। घर से उठ कर मन्दिर, मसजिद, अग्यारी अथवा चर्च में जा बैठते ही जिसे देखिए वही समझता है कि भक्ति-ज्ञान वैराग्य इत्यादि सब परमार्थ-साधनों का निधान हाथ आ गया और वेद-प्रतिपाद्य मार्ग को तो आधुनिक विद्वान् व्यर्थ का ढकोसला समझते हैं। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। आर्यों के शास्त्रों को देखने से जान पड़ता है कि मनुष्य को विषयों से और शरीर से ज्यों ज्यों घृणा होती जाती है, त्यों त्यों आत्म-प्राप्ति के सच्चे मार्ग देख पड़ने लगते हैं। शरीर से जितना ही प्रेम बढ़ाया जाता है उतनी ही आत्मज्ञान प्राप्ति में बाधा उपस्थित होती है। शरीर और आत्मा के धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। प्लेटो नामक प्राचीन ग्रीक तत्त्ववेत्ता ने स्पष्ट कहा है "आत्मा सर्वदा शरीर से बाहर निकलने का प्रयत्न किया करता है। क्योंकि शरीर उसे जेलखाना मालूम होता है। शरीर की पुष्टि करने और उसकी अभिलाषाएँ बढ़ाने में उस जेलखाने के बन्धन और भी दृढ़ होते हैं।" यह प्लेटो का तत्त्व आर्य-धर्मशास्त्र के अनुसार ही है। शरीर की प्रतिष्ठा नहीं होने देंगे। शीतोष्णादि द्वन्द्वों की मार सहन करेंगे और तपस्या करके आत्मा की पुष्टि करेंगे! वह यदि पुष्ट होता जाता है, तो उसकी स्व-प्रकाशता आप-ही-आप दृष्टि पड़ने लगती है। ये सब बातें होने के लिए पहले वैराग्य होना ही चाहिए और इसीलिए योगवासिष्ठ में वैराग्य को आदि स्थान दिया गया है। आधुनिक धर्म-पंथों को निकालने वाले लोगों ने मुक्ति को मानो अपनी सहेली बना लिया है। रास्ते पर भजन करनेवाले लोगों का कहना है कि रेल का टिकट लेने पर जैसे वह एक स्थान से दूसरे स्थान को अचूक पहुँचा देती है, उसी प्रकार धर्मान्तर संस्कार के समय की जल-सिंचन-विधि होने पर मुक्ति का खजाना हाथ

आ जाता है; परन्तु यह केवल बकबक है। मुक्ति कुछ ऐसी रास्ते पर नहीं रक्खी है। उसे प्राप्त करने के लिए आर्य-धर्म तत्त्वानुसार विषय-त्याग करके देहाभिमान नष्ट करना पड़ता है और सुख-दुखादि द्वन्द्व सहन करने की शक्ति शरीर में लानी पड़ती है, इसी प्रकार के अनेक रनेते हैं। वे तप किये बिना मुक्ति की अपेक्षा करना व्यर्थ है।

दूसरा प्रकरण

जगन्मिथ्यात्व

रज्जुज्ञानेन सर्पत्वं चित्रसर्पस्य नश्यति।
यथा तथैव संसारः स्थित एवोपशाम्यति॥

—योगवसिष्ठ।

वैराग्य निरूपण के बाद योगवासिष्ठ में जगन्मिथ्यात्व के विषय में विचार किया गया है। वैराग्य और जगन्मिथ्यात्व का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस बात का जब एक बार विश्वास हो जाता है कि संसार असत्य है, तभी वैराग्य दृढ़ होता है। वैराग्य के बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती और आत्मज्ञान के बिना मनुष्य का जीवन बिलकुल व्यर्थ है। चाण्डाल-गृह में भिक्षा माँग कर उदर निर्वाह करना अच्छा है; परन्तु आत्मज्ञान न होने के कारण प्राप्त होनेवाली मूर्खता में रहना अत्यन्त बुरा है। यह बात बड़ों बड़ों ने मानी है। जगत् के मिथ्या होने का सिद्धान्त मन में पूर्णतया बैठाना बहुत कठिन है; क्योंकि इस विषय का विवेचन करने में अनेक शास्त्रों का और दर्शनों का सम्बन्ध आता है और उन सब का ज्ञान होना चाहिए। किसी एक शास्त्र के प्रमेयों की जानकारी प्राप्त कर लेना कदाचित् सहज होगा; परन्तु जिस विषय में अनेक शास्त्रों के तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वह विषय अवश्य ही साधारण मनुष्यों की बुद्धि से बाहर होता है; फिर यह वेदान्त का विषय तो बहुत ही गूढ़ है। उसका विवेचन करने के लिए प्राचीन न्याय, मीमांसा इत्यादि दर्शनों में जो प्रौढ़ युक्तिवाद बतलाये गये हैं उनका

समझ लेना बहुत ही आवश्यक है। प्रसिद्ध लार्ड बेकन के "Advancement Lerning" (विद्या का उत्कर्ष) नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ का जिन्होंने परिशीलन किया है, उन्हें इस प्रकार के विषय की जानकारी अवश्य ही होगी।

वेदान्त-शास्त्र का सिद्धान्त है कि इस जगत् प्रपंच की उत्पत्ति और संहार का कारण केवल यह हमारा मन ही है। मन की शान्ति होने पर संसार-भ्रम नष्ट हो जाता है और मन का उदय होने पर जगत् का उदय होता है। इसका उत्तम दृष्टान्त यह है कि हम बिछौने पर सोते रहते हैं, वहाँ से हिलते नहीं अथवा अपने किसी अवयव से कोई भी हलचल नहीं करते; तथापि मन की चंचलता के कारण नाना प्रकार के पदार्थ स्वप्न में दृष्टि पड़ते हैं। हमारी आँखें बन्द रहती हैं, तथापि हमें हाथी, घोड़े इत्यादि अनेक पदार्थों के दृश्य देख पड़ते हैं; हम हाथ-पैर आदि नहीं चलाते, तथापि स्वप्न-सृष्टि में हम चाहे जहाँ जाते-आते हैं और चाहे जो देते-लेते हैं; परन्तु हमारे जागते ही वह सब व्यापार नष्ट हो जाता है। बस यही दशा इस संसार की है।

चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारस्योदयक्षयौ।
वासनाप्राणसंरोधादनिमेषं मनः कुरु॥

—योगवासिष्ठ।

मन के उदय और मन के ही अस्त से संसार का उदय और अस्त होता है। अतएव वासना और प्राण का आकर्षण करके प्रत्येक को मन के अस्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। मन, प्रपंच के विषय में जितना ही उन्मुख होता है, उतना ही संसार का उदय होता है और स्वरूप का विस्मरण होता जाता है। इसी प्रकार मन, प्रपंच से ज्यों-ज्यों विमुख होता जाता है और स्व-स्वरूप की पहचान होती जाती है। इसलिए मन की अनिमेषता प्राण होने के लिए और वासनाओं का संरोध करना ही मुख्य उपाय श्रीवसिष्ठ ने बतलाया है। प्राण और वासनाओं के योग से मन स्वच्छन्द दौड़ने लगता है। अतएव प्राण निश्चल होना चाहिए। इससे संकल्प-जाल नष्ट हो जाता है। प्राण के रोकने से मन

यद्यपि निश्चल हो जाता है, तथापि वासना के अकस्मात् प्रबल होने से चित्त फिर चंचल होता है। क्योंकि वासना का स्वरूप ही बड़ा विलक्षण है। पूर्व-कर्मों के संस्कार से अनेक पदार्थों की मन में जो स्फूर्ति होती है यही वासना है। मन के निश्चल होने पर भी घट-पटादि पदार्थ मन में आने लगते और वही संस्कार वासना-रूप से फिर उठता है अथवा देह में क्रोध, लोभ इत्यादि मनोविकारों के प्रबल होने से मन चेष्टा को प्राप्त होकर वह पदार्थाकार बन जाता है। तथा प्राणी-मात्र ने एक ही बार क्यों न हो, जो कुछ देखा होगा, सुना होगा अथवा अनुभव किया होगा, वही उस संस्कार के कारण उनके स्मरण में आवेगा और वासना-रूप से अन्तःकरण में दृढ़ रहेगा। अतएव यदि मन को निश्चल करना हो तो प्राण और वासना का निरोध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य सारे उपाय व्यर्थ हैं, स्व-स्वरूप का जब विस्मरण होने लगता है, तब अन्तःकरण बहिर्मुख होने लगता है और चित्त-वृत्ति में विकल्प उत्पन्न होने के कारण संसार-व्यथा उपजने लगती है। एक क्षण-मात्र भी यदि आत्म-स्वरूप का विस्मरण हो जाता है, तो बड़े बड़े अनर्थ होते हैं। यह वेदान्त-शास्त्र का कथन है। इसका सारांश यही है कि प्रपंच सत्य मालूम होने लगता है। परन्तु सम्यक् विचार करने पर वही प्रपंच भस्म हो जाता है। रस्सी में हमें सर्प का भ्रम होता है। परन्तु उसी रज्जु (रस्सी) का सत्य ज्ञान हो जाने पर सर्प-भ्रान्ति दूर हो जाती है। दूसरा उत्तम उदाहरण हौवे का है। छोटे लड़के से यदि हौवा का नाम ले दिया जाता है, तो वह भय-चकित होकर घबड़ा जाता है। हौवा वास्तव में कोई चीज नहीं है तथापि छोटा बच्चा जब तक उसके विषय में अज्ञान रहता है, तब तक उसे डर ही मालूम होता है। जहाँ उसे मालूम हो गया कि हौवा कोई चीज नहीं है कि बस तुरन्त ही उसका डर चला जाता है। बस, संसार-रूपी हौवा का भी यही हाल है। जब तक अज्ञान है तभी तक संसार सत्य जान पड़ता है; परन्तु सम्यक् विचार करते ही हौवा का अस्तित्व नष्ट हो जाता है। इसी संसार-भ्रम को वेदान्त-शास्त्र में माया कहते हैं।

इस माया में बड़ी विचित्रता है।

ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् यह विश्व-रूप माया स्व-नाश के कारण आनन्द देनेवाली और सम्यक्-दर्शन से नष्ट होनेवाली है; परन्तु इस माया का यह स्वभाव अज्ञ लोगों के ध्यान में नहीं आता। माया के योग से प्रपंच में चाहे नाना प्रकार की घटनाएँ हो जायँ तथापि जल-प्रवाह की तरह एक की जगह दूसरा आने के कारण मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है, और संसार उसे सत्य मालूम होने लगता है। जल-प्रवाह के अनुसार पानी बराबर बहता रहता है; वह कूड़े-कचरे के साथ आगे चला जाय, तथापि उसकी जगह खाली नहीं रहती; क्योंकि पीछे आनेवाला पानी उसकी जगह लेते ही रहता है, इसी कारण यह किसी के ध्यान में नहीं आता कि प्रवाह का यह पानी चला गया। जल-प्रवाह के इसी दृष्टान्त की ही तरह दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण अलात-चक्र का है। मसाल हाथ में लेकर उसे चारों ओर फिराने पर जो तेजोवलय देख पड़ता है, उसे 'अलात-चक्र' कहते हैं। असली मसाल छोटी ही होती है, तथापि उसे गोलाकार फिराने पर उसका तेजोवलय कितना बड़ा देख पड़ता है। परन्तु वास्तव में वह तेजोवलय मिथ्या है। ये ही दृष्टान्त जगन्मिथ्यात्व के लिए ठीक ठीक लगते हैं। यद्यपि यह हम देखते हैं कि जगत् की वस्तुएँ नष्ट होती हैं, तथापि दूसरी वस्तुएँ उत्पन्न होती रहती हैं, इस कारण वस्तुओं का नाश होना बुद्धि में नहीं आता और हम जगत् को शाश्वत तथा सत्य ही समझते रहते हैं। ज्ञान के ऊपर माया का दृढ़ आच्छादन होने के कारण ही ऐसा भ्रम होता है। यद्यपि माया की ऐसी विचित्रता है, तथापि सम्यक् विचार करने से वह क्षण ही में नष्ट हो जाती है, अन्य किसी विचार से वह नष्ट नहीं होती। जिस कोठरी में निबिड़ अन्धकार भरा हुआ हो उसमें दीपक लेकर जाइए और फिर अन्धकार को ढूँढ़िए। दीपक के भीतर जाते ही अन्धकार का पता नहीं लगता। यही हाल

माया-भ्रम का है। सम्यक् विचार-रूपी दीपक के जलाते ही माया का अँधेरा नष्ट ही हो जाता है।

माया ज्ञान को पाँच प्रकार से आच्छादित करती है। उन पाँच प्रकारों को पातंजल योगशास्त्र में पंचकोश और वेदान्त में पंचपर्व संज्ञा दी गई है। वे पाँच प्रकार ये हैं :—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश। उनके लक्षण इस प्रकार हैं :—जिसके कारण स्व-स्वरूप पर आवरण पड़ जाता है, उसे अविद्या कहते हैं। देह ही आत्मा है, यह विपरीत बुद्धि होना अस्मिता है। देह के तईं अतिप्रीति होना राग कहलाता है। और प्रीति के विषय देह के लिए घातक जितने प्रतिकूल पदार्थ होते हैं, उनको देखकर क्षोभयुक्त बुद्धि होने को द्वेष कहते हैं। और देह के विषय में जो यह चिन्ता होती है कि यह कृश है अथवा स्थूल है, बाल है अथवा वृद्ध है, जीवित है अथवा मृत है—इसे अभिनिवेश कहते हैं।

हमारा आत्मा स्व-प्रकाश, निर्मल और निरंजन है। उसके तईं इन पाँच प्रकार के देह-विकारों का आरोप करना माया का कर्म है। यह माया सम्पूर्ण विश्व की मोहिनी है। यह स्व-स्वरूप को भुला कर मोह उत्पन्न करती है। इस मोह का मोहकत्व भी ऐसा विचित्र है कि यद्यपि यह आत्मा इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रहा है कि जैसे अनेक मनकों में एक सूत हो, तथापि वह मोह इस आत्मा को आच्छादित कर डालता है; मनुष्य में विपरीत का भान उत्पन्न हो जाता है और इस कारण उसका ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है ; स्व-स्वरूप जो नित्य ज्ञान है उसके लिए प्रपंचाकार बन जाता है और उसे सत्य मान कर वह दारुण मोह में फँस जाता है।

वेदान्त-शास्त्र में यह बात अनेक दृष्टान्तों से व्यक्त की गई है कि सम्पूर्ण विश्व में आत्मा अखण्ड भरा हुआ है। शक्कर चाहे जितने प्रकार की हो ; पर मिठाई सबकी एक ही होगी। दीपक चाहे नाना प्रकार के हों तथापि प्रभा सबकी एक ही होगी। अनेक अग्नियों की चिनगारियाँ क्यों न हों ; पर उनका विदाहित्व गुण एक ही होगा। अथवा

पट चाहे अनेक प्रकार के हों ; परन्तु तन्तु एक ही होगा। बस इसी तरह आत्म-स्वरूप एक ही है और वह अखण्ड भरा है। माया-रूप जगत् सत्य नहीं है।

यदिदं दृश्यते किंचित्तन्नास्ति किमपि स्फुटं।
यथा गंधर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले॥

—योगवासिष्ठ।

संसार में जितनी वस्तुएँ दृग्गोचर होती हैं, अथवा किसी भी बहिरिन्द्रिय से जिनका ज्ञान होता है वे सब वस्तुएँ मिथ्या हैं। जिन वस्तुओं को हम कहते हैं, कि हैं वे सब वस्तुएँ सम्यक् विचार के बाद सत्य नहीं ठहरतीं, यह सिद्धान्त है। इस पर यह शंका हो सकती है कि प्रपंच जब प्रत्यक्ष दीख रहा है तब फिर उसे मिथ्या क्यों कर कह सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह सब मनुष्य के भ्रम की करतूत है। जैसे आकाश में गन्धर्वनगर का भास होता है अथवा मारवाड़ देश में मृग-जलौघ आभास होता है वास्तव में वे सत्य नहीं होते—वैसे ही जगत् का सिर्फ भासनेवाला सत्यत्व मिथ्या है।

स्वज्ञानदर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुजातयः।
इमास्ताः प्रतिबिंबन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥

— योगवासिष्ठ।

सरोवर के तीरवाले वृक्षों का प्रतिबिम्ब उस सरोवर में पड़ता है। वह प्रतिबिम्ब जिस प्रकार वस्तुतः सत्य नहीं है, उसी प्रकार स्व-ज्ञान-रूप दर्पण में दिखनेवाला जगत् का प्रतिबिम्ब भी सत्य नहीं है। इस पर फिर यह शंका होती है कि सरोवर के किनारे के वृक्ष सत्य होते हैं, इसीलिए उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि वे वृक्ष सत्य न होते तो उनकी प्रतीति ही न होती।

इस पर नैयायिकों का कथन है कि प्रपंच सत्य ही है और इसीलिए उसका भ्रम होता है। हमें शुक्ति में रजत-भ्रम होता है अर्थात् सीप में जो रूपे का भास होता है, वह तीन कारणों से होता है। पहला सीप का साधारण ज्ञान हमें होता, दूसरा उसके पीछे जो एक नील-त्रिकोण

भाग होता है, उसका ज्ञान हमें नहीं रहता; और तीसरा देशान्तर में हम जो रूपा देखते हैं, उसका स्मरण होता है। इसी प्रकार (१) हमें ब्रह्म का साधारण ज्ञान होता है। (२) उसके विशेष पदार्थ का अज्ञान रहता है। (३) प्रपंच जो सत्य है, उसका हमें स्मरण होता है, इसीलिए हमें यह भास होता है कि जगत् सत्य है। हमने यदि सत्य वस्तु देखी होगी, तभी उसके सादृश्य की याद होना सम्भव है। वह यदि हमने नहीं देखी होगी तो उसके सादृश्य का स्मरण होना और उससे भ्रम होना असम्भव है। सारांश नैयायिकों की कोटी यह हुई कि प्रपंच सत्य है और इसीलिए उसका भास होता है।

इस पर वेदान्ती लोगों का यह उत्तर है कि इस प्रकार का भास होने के लिए सीप का मुख्य ज्ञान होना ही बस होता है। वहाँ अन्य किसी सामग्री की भी आवश्यकता नहीं होती। कभी कभी स्वप्न में हम देखते हैं कि हमारा सिर किसी ने काट डाला ; परन्तु अपने शिरच्छेदन का अनुभव क्या किसी को होता है ? तथा कभी कभी ऐसी भी स्वप्नचेष्टा होती है कि हमारे पंख फूट आये हैं और हम आकाश में पक्षियों की तरह संचार कर रहे हैं ; परन्तु इसका अनुभव क्या जागृतावस्था में किसी को होता है ? यही हाल जगत् के सत्य भासने का है। नैयायिकों का यह तत्त्व कि सादृश्य के बिना भ्रान्ति नहीं होती, टिक नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि प्रपंच ब्रह्म का भास है तो फिर उन दोनों में सादृश्य होना चाहिए, परन्तु उनमें किसी प्रकार का भी सादृश्य नहीं है। ब्रह्म निर्गुण, सर्वव्यापक, स्व-प्रकाश और स्व-संवेद्य अर्थात् आत्मानुभवी है और प्रपंच उसके विरुद्ध सगुण, परिच्छिन्न अर्थात् मर्यादित, पर-प्रकाशित और पर-संवेद्य है। अतएव इस प्रकार जो परस्पर विरुद्ध धर्म की दो वस्तुएँ हैं, उनमें सादृश्य-भ्रम होने का कोई कारण नहीं। अतः यही मानना चाहिए कि वह भ्रम केवल अज्ञान से होता है। ब्रह्म के तईं सामान्य या विशेष का भेद हो ही नहीं सकता। क्योंकि वह निस्सामान्य और निर्विशेष है। ब्रह्म के तईं सामान्य और विशेष भेद यदि मान लिया जाय तो :—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानास्ति किंचन।

—बृहदारण्यक।

यह श्रुति अप्रमाण हो जायगी और श्रुति विरुद्ध बोलना पाखंड है, अतएव श्रुति के अनुसार ही चलना चाहिए। यह नहीं है कि ब्रह्म के तईं सामान्य और विशेष का भेद नहीं है। परन्तु वह अर्थ भिन्नत्व से है। सामान्य शब्द का अर्थ समस्त लेना चाहिए और विशेष शब्द का अर्थ व्यक्त समझना चाहिए। समस्त शब्द से निर्विकारक अर्थ लेकर व्यक्त शब्द से प्रपंचाकार का अर्थ समझना चाहिए। विशेषाकार के न रहने पर निर्विशेष सामान्य ही शेष रहता है। इस रीति के भ्रम की सामग्री परब्रह्म के तईं लग सकती है। ब्रह्म सोने की तरह निर्विकार है। सोना जैसे सर्वत्र एक ही है, पर अलंकार के रूप से व्यक्त होता है अर्थात् स्पष्ट और व्यक्त रूप होता है, वैसे ही ब्रह्म निर्विकार है और वही प्रपंचकार भासता है।

इस पर यह शंका होती है कि सोने का विकार होने के बाद अलंकार रूप से जैसे उसका परिणाम होता है वैसे ही विश्व भी परब्रह्म का परिणाम है। परन्तु ऐसा परिणामवाद स्थापित करना यहाँ ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि ब्रह्म विकार-शून्य है और इस कारण उसका परिणाम जगदाकार कभी हो नहीं सकता। एक और बात है। वह यह कि जिस जिस वस्तु का परिणाम होता है, वह वस्तु भिन्न भिन्न नाम रूप पाकर नाश हो जाती है। इसके लिए व्यवहार का उत्कृष्ट दृष्टान्त दही है। दूध का जब दही बनता है, तब पहले के उसके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं। श्रुतियों में सर्वत्र ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है कि जिसका परिणाम होता है उसका नाश होता है; परन्तु ब्रह्म अविनाशी और अविकारी है ब्रह्म का यदि प्रपंचाकार परिणाम हुआ होता तो वेदों ने "नेति नेति" इत्यादि शब्दों से विश्व का निषेध कदापि न किया होता।

अपूर्वं, अनपरं, अनन्तरं, अबाह्यं, अस्थूलं, अनणु, अदीर्घं, अह्रस्वं,

—बृहदारण्यक।

इस प्रकार वेद में ब्रह्म का वर्णन है और प्रपंच का स्पष्ट निषेध किया गया है।

अपूर्व, अनपर, अस्थूल इत्यादि विशेषणों से मालूम होता है कि ब्रह्म और जगत् में किसी प्रकार का भी सादृश्य नहीं है और प्रपंच को ब्रह्म का परिणाम बतलाना मिथ्या ठहरता है। वेदान्ती मानते हैं कि जगत् के सत्यत्व के विषय में जो भ्रम होता है उसका कारण केवल अज्ञान ही है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ज्ञान और अज्ञान ही सुख-दुःख तथा मोक्ष-बन्धन के कारण हैं। ज्ञान से सुख और अज्ञान से दुःख होता है। अज्ञान से बन्ध होता है और ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति होती है। मन की चंचलता के कारण विश्व-प्रतीति उपजती है।

मनः संपद्यते तस्मान्महतः परमात्मनः।
सुस्थिरादस्थिराकारं तरंगा इव वारिधेः॥

—योगवासिष्ठ।

ब्रह्म जो परमात्म-स्वरूप है, उससे मन की उत्पत्ति होती है और मन की उत्पत्ति के कारण विश्व-प्रतीति होती है। इस पर यह शंका होती है कि जब ब्रह्म स्थिर और निश्चल है, तब उससे अस्थिर और चंचल, अतएव विरुद्ध गुण के मन की उत्पत्ति क्यों कर सम्भव है? इस शंका का उत्तर यह है कि स्थिर पदार्थ से भी चंचल पदार्थ की उत्पत्ति होती है। समुद्र का उदाहरण लीजिए। वह स्थिर, गम्भीर और निश्चल है, तथापि उससे क्षणिक और अस्थिर बुलबुले उत्पन्न होते हैं। मन बाजीगर की तरह नाना प्रकार के संकल्प करके जगत् में विचित्रता लाता है। मन यदि कल्पना ही न करे, तो यह जगत् कुछ भी नहीं है। मन जब स्व-स्वरूप में निमग्न रहता है, तब कोई भी विकल्प उत्पन्न नहीं होते, इसका अनुभव आत्मानुभवी योगियों को होता ही है। सर्व-साधारण लोगों को इसका अनुभव सुषुप्ति काल में होता है। शरीर में "पुरीतत" नामक एक नाड़ी है। मन सुषुप्ति काल में उसी नाड़ी में लीन रहता है। यह बात न्याय, वैशेषिक दर्शन में कही है। उस दशा में एक आत्मा ही शरीर में स्थिर रहता है और मन के अभाव के कारण जगत् का अस्तित्व

नहीं रहता। यह अनुभव सभी को है। अब यदि जगत् सत्य होता तो सुषुप्ति काल में भी वह भासमान हुआ होता। क्योंकि जो वस्तु सत्य है उसका किसी हालत में भी नाश नहीं हो सकता। परन्तु जगत् का यह हाल नहीं है। वह जाग्रतावस्था में एक प्रकार से देख पड़ता है; स्वप्नावस्था में भिन्न प्रकार का बन जाता है और सुषुप्ति काल में बिलकुल ही नहीं रहता। अतएव इस प्रकार जो भिन्न-भिन्न स्वरूपों से देख पड़नेवाला जगत् है, वह सत्य क्यों कर कहा जा सकता है? वह नश्वर ही वस्तु है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सोने के दृष्टान्त से यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती है कि ब्रह्म के तईं प्रपंच का आभास कैसे होता है। नाना प्रकार के अलंकार सुवर्ण से ही बनाये जाते हैं; परन्तु अविद्वान् मनुष्य प्रत्येक अलंकार के विषय में भिन्न-भिन्न समझ रखता है और भिन्न-भिन्न नामों तथा आकारों से वह उसे पहचानता है। उसे जिस अलंकार का जो नाम और जो आकार देख पड़ता है, वही यथार्थ जान पड़ता है; परन्तु अलंकार का मुख्य अधिष्ठान जो सोना है, उसमें उसकी बुद्धि नहीं प्रवेश करती। दृष्टि से यद्यपि प्रत्यक्ष सुवर्ण देख पड़ता है; तथापि अविद्वान् की चित्त-वृत्ति सुवर्णाकार नहीं होती, वह सिर्फ नाम-रूप की भ्रान्ति में डूबा रहता है और यद्यपि प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तु-दर्शन हो रहा है, तथापि उसके चित्त को और ही कुछ विपरीत भास होता है। बस इसी प्रकार यद्यपि आत्मा अपरोक्ष और स्वतःसिद्ध है, तथापि मनुष्य भ्रम में पड़कर नाम-रूपात्मक विरुद्ध पदार्थों को ही सत्य समझता है। अर्थात् केवल नाम-रूप के कारण भिन्न-भिन्न पदार्थ सत्य मानकर मुख्य आत्म-स्वरूप वस्तु को मनुष्य भूल जाता है। अतएव वेदान्ती कहते हैं कि यदि शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति करना हो, तो तप इत्यादि परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य को सिर्फ नाम रूप छोड़कर रहना चाहिए; फिर सब शुद्ध ब्रह्म ही है। वेदान्त-शास्त्र में नाम-पंचक की व्याप्ति इस प्रकार वर्णन की गई है कि—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ —योगवासिष्ठ।

अर्थात् ब्रह्म सत्ता-प्रकाश-सुखात्मक है और जगत् नाम-रूपात्मक है। इस भूतल पर जितने सुन्दर शहर, हवेलियाँ, वृक्ष इत्यादि देख पड़ते हैं और जिनके कारण पृथ्वी को विचित्रता प्राप्त हुई है, उनमें से अज्ञानी लोग प्रत्येक को सत्य ही मानते हैं। अज्ञान के कारण उन्हें यह नहीं समझ पड़ता कि ये सब वस्तुएँ असल में पृथ्वी ही हैं और इस कारण उनका भ्रम और भी बढ़ता ही जाता है। परन्तु जो परमार्थ-द्रष्टा है वह क्या शहर, क्या हवेलियाँ और क्या वनोपवन—सब को पृथ्वीमय ही समझता है। Reduce thing to their first principles, यह राजनीति का तत्त्व है; यही वेदान्त-शास्त्र में भी है। पृथ्वी पर देख पड़नेवाले पदार्थों पर लदे हुए नामरूप-विकार छोड़कर उनका मूल ढूँढ़ना चाहिए, फिर सभी ब्रह्म है।

एक विचित्रता और है। वह यह कि जिसकी जैसी अन्तर्वृत्ति होती है तद्रूप उसे सारी वस्तुएँ दिखने लगती हैं। जो तृप्त है उसे सारा विश्व तृप्त देख पड़ता है, क्षुधित को सब क्षुधित ही देख पड़ता है। अंधे को चाहे राज-भवन में ले जाकर बैठा दीजिए; पर वह यही समझता है कि मैं किसी अंधकूप ही में पड़ा हूँ। अथवा जो धनवान् होता है वह समझता है कि लोग हमारी ही तरह रोज घी-शक्कर क्यों नहीं उड़ाते? यही हाल अज्ञानी का भी है। उसे यह सारा संसार दुःख-मय प्रतीत होता है, परन्तु जिसे स्व-स्वरूप की पहचान है, उसे सब आनन्द-मय ही देख पड़ता है। हारेस वानपाल नामक महान् तत्त्ववेत्ता ने अंगरेजी में यह सिद्धान्त लिखा है कि—

Life is a comedy to those who think;
But life is a tragedy to those who feel.

सब सुखमय है योगी को,
सब दुखमय है रोगी को।

इन अँगरेजी और हिन्दी दोनों पद्यों का तात्पर्य एक ही है। स्व-स्वरूप के विषय में जो अंधा है उसे यह सारा विश्व दुख-रूप है। अंधे को जो राज-मन्दिर अंधकूप-सा जान पड़ता है वही राज-मन्दिर नेत्र वाले

(ज्ञानी) को प्रकाश-मय और मनोहर देख पड़ता है। तात्पर्य यह कि यह विश्व ज्ञाताओं को प्रकाश-रूप और सद्रूप देख पड़ता है।

इस सिद्धान्त पर कि ब्रह्म से विश्वोत्पत्ति होती है, एक और शंका उठती है कि जब शुद्ध ब्रह्म अजड़ अर्थात् अविनाशी है, तब फिर यह कथन कि उस ब्रह्म से इस विश्व-रूपी जड़ वस्तु की उत्पत्ति होती है, क्यों कर सम्भव हो सकता है? इसका उत्तर अगले श्लोक में है:—

यथा विशुद्ध आकाशे सहसैवाभ्रमंडलम्।
भूत्वा विलीयते तद्वदात्मनीहाखिलं जगत्॥

—योगवासिष्ठ।

आकाश यद्यपि वस्तुतः निर्मल, अनन्त, अगाध और सर्वव्यापक है, तथापि उसमें अकस्मात् अभ्र-मण्डल उत्पन्न होते हैं और कुछ काल में वे बिला जाते हैं। बादल आते हैं और जाते हैं; पर अन्त में आकाश जैसा का तैसा ही अभंग रहता है। बादलों का मैल आकाश में नहीं लगता अथवा बादलों की और उसकी एक-रूपता भी नहीं होती। बादल सिर्फ आते हैं और जाते हैं। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा के तईं जड़ विश्व का आभास होता है और कुछ काल बाद जब विश्व का लय हो जाता है, तब भी आत्मा जैसा का तैसा ही शुद्ध बना रहता है। तथा रूप-रहित और विशुद्ध ब्रह्म पर अज्ञान के कारण विश्व का आरोप चाहे हो जाय, तथापि उसका लेप ब्रह्म पर नहीं लग सकता। वेदान्ती लोगों का कथन है कि यह कहना कि विश्व है, मानो वाणी की विडम्बना करना है। क्योंकि—

आदित्याव्यतिरेकेण रश्मयो येन भाविताः।
आदित्या एव ते तस्य निर्विकल्पः स उच्यते॥

—योगवासिष्ठ।

जो जिसके बिना नहीं हो, उसे तद्वस्तु-रूप ही मानना चाहिए। सूर्य के बिना यदि किरणें हो ही नहीं सकतीं, तो सूर्य को किरण-रूप ही मानना चाहिए। तथा सूर्य का उदय होने पर किरणें दृष्टि पड़ती हैं और सूर्यास्त होने पर किरणें भी अस्त हो जाती हैं। अतएव किरण को सूर्य-रूप ही

जानना चाहिए। उन्हें कदापि अलग नहीं मान सकते। यह ज्ञान जिसे निश्चयात्मक हो जाय, उसी को कहना चाहिए कि रवि-किरणों का ज्ञान हो गया। बस ब्रह्म और विश्व के लिए भी यही दृष्टान्त दिया जा सकता है। एक ब्रह्म सर्वत्र भरा हुआ है। विश्व यदि उससे भिन्न भास हो तो यह भ्रम मुख्य अधिष्ठान के तईं नहीं हो सकता; किन्तु यह समझना चाहिए कि वह सिर्फ आरोपित है। अतएव जो ब्रह्म और विश्व में द्वैत नहीं समझता, वही निर्विकल्प और सर्वज्ञ है तथा वही ब्रह्मानन्द भोगने का पात्र है। निर्विकल्प समाधि की पहचान यही समझनी चाहिए कि उस दशा में ब्रह्म के अतिरिक्त विश्व की स्फूर्ति ही नहीं होती। यदि कोई कहे कि मैं मन को रोककर शान्त रहूँगा, तो उसके लिए यह कहना कि उसे समाधि-सुख प्राप्त हुआ, मानो उस शब्द की विडम्बना करना है।

यथा न तोयतो भिन्नाः फेनोर्मिहिमबुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्॥

—योगवासिष्ठ।

पानी भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न रूप से देख पड़ता है। अर्थात् कभी फेन के रूप से, कभी लहर के रूप से और कभी बुलबुले के रूप से वह देख पड़ता है; तथापि असल में वह सब पानी ही है। समुद्र का पानी जिस समय बढ़ता है, उस समय जान पड़ता है कि मानो लहरों के रूप से उसमें द्वैत आ गया। परन्तु पीछे से जब वह सपाट हो जाता है, तब वहाँ यह भास नहीं रहता कि यहाँ कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न हुई है। जो वस्तु आदि अन्त में नहीं रहती; किन्तु बीच ही में जिसका भास होता है, वह वस्तु पहली से भिन्न नहीं होनी चाहिए। उसकी मध्य-स्थिति में जो भिन्नता का भास होता है उसे वेदान्त में "नाम-रूप का दृश्य" कहा गया है। उस भ्रम का निरास होने पर पानी का वह कल्पित द्वैत अवश्य ही नहीं रहता और उस जगह एक पानी को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं रहता। बस सर्व-व्यापक ब्रह्म की भी यही पानी की सी स्थिति है। विश्व यद्यपि भिन्न देख पड़ने लगता है, तथापि वह ब्रह्म ही है। वस्तु एक होने पर भी भिन्न-भिन्न रूपों से देख पड़ती है, सो केवल भ्रम का कार्य है।

तात्पर्य यही कि अधिष्ठान वस्तु के तईं जो दूसरी वस्तु अध्यारोपित होती है, वह उस असली अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती यह सिद्धान्त है। पहले मृत्तिका और उससे बना हुआ घट, तन्तु और पट, सुवर्ण और अलंकार तथा पानी और लहर इत्यादि जो समर्पक दृष्टान्त दिये गये हैं, उनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि यह जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। ब्रह्म के तईं जो जगत् का भास होता है, उसे वेदान्त में विवर्तवाद कहते हैं। मूल-रूप जैसा का तैसा स्थिर रहते हुए सादृश्य के कारण उसके विषय मे दूसरी वस्तु की भ्रान्ति होना विवर्त कहलाता है। इसके लिए सीप का उदाहरण लीजिए। सीप जैसी की तैसी ही बनी रहती है; परन्तु उसमें मिथ्या चाँदी की कल्पना होने लगती है। सीप के तईं परिणाम-वाद नहीं लग सकता; क्योंकि उसका स्वरूप बिलकुल भिन्न है। एक वस्तु का रूपान्तर होकर अर्थात् अधिष्ठान नष्ट होकर उसकी जगह अन्य वस्तु उत्पन्न होना—जैसे दूध का दही बनना—इसे परिणामवाद कहना चाहिए। दूध का जो दही बनता है, उसमें प्रथम दूध का रूप और मध्य में तथा अन्त में भिन्न रूप बनता है। विवर्तवाद में ऐसा नहीं होता। उसमें सीप की तरह अधिष्ठान निर्बाध बना रहता है। सीप में चाँदी का भास केवल भ्रम के कारण होता है। इस सम्पूर्ण विवेचन से मन में यह विश्वास हो जाता है कि यह सर्व जगत् मिथ्या है और यह विचार दृढ़ होने पर वैराग्य होता है और वैराग्य होने पर 'जीवन्मुक्ति' नामक जिस अवस्था का निरूपण आगे होनेवाला है, वह आप-ही-आप मनुष्य के गले में माला पहना देती है। यहाँ तक जगन्मिथ्यात्व के विषय में विचार किया गया अब अगले प्रकरण से "मनोलय" नामक महत्त्व-पूर्ण भाग का प्रारम्भ करते हैं। पाठकों को ऐसे समय में जब कि उनका मन प्रशान्त हो, इस विषय का बार-बार मनन करना चाहिए। इससे आध्यात्मिक ज्ञान का लाभ उन्हें अवश्य ही होगा।

तीसरा प्रकरण

मनोलय

आत्मतत्वानुबोधेन न संकल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहः ॥

—गौड़पादाचार्य ।

वैराग्य प्राप्त होना वेदान्त का मुख्य आधार है और वैराग्य की दृढ़ता होने के लिए सम्पूर्ण विषयों की ओर दोष दृष्टि का होना और प्रपंच का मिथ्या भासना अर्थात् जगन्मिथ्यात्व-दर्शन उसके बाद का उपाय है कि जिसका विवेचन गत प्रकरण में किया गया है। अब तीसरी सीढ़ी मनोलय की है, उसका विचार करना चाहिए। वैराग्य दृढ़ होने के लिए सद्गुरु का पाद-संवाहन करना चाहिए। इसके बाद वे कृपा करके जो मार्ग दिखलाते हैं उसका अभ्यास अर्थात् निदिध्यासन करते समय मन और वासना से बहुत पीड़ा होती है। अतएव मन और वासना की शान्ति अवश्य होनी चाहिये। जहाँ सद्गुरु ने तत्त्वोपदेश किया और महावाक्य के योग से वह दृढ़ हो गया, तथा जहाँ उससे साक्षात्कार होने लगा कि बस सब काम हो जाता है। परन्तु वैसा होने में मन और वासना ये दोनों विघ्न डालते हैं और इस कारण असम्भावना, विपरीत-भावना इत्यादि क्षुब्ध होते हैं। उनकी शान्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि उपायों से करनी पड़ती है। असम्भावना दो प्रकार की है। एक प्रमाणासम्भावना और दूसरी प्रमेयासम्भावना। कोई वस्तु जिन प्रमाणों से सिद्ध होती है, वे प्रमाण ही यथार्थ नहीं हैं—ऐसी जो आशंका होती है, उसे प्रमाणा-सम्भावना कहते हैं और कोई बात यद्यपि वह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है, तथापि यह कैसे कहा जाय कि वह बात सत्य ही है—ऐसी जो शंका होती है उसे प्रेमयासम्भावना कहते हैं। तथा किसी वस्तु की सत्य स्थिति के विरुद्ध कल्पना करने को विपरीत-भावना कहते हैं। ये जो तीन प्रकार की भावनाएँ हैं, उनको दूर करने के लिए एकाग्रचित्त करके और प्रपंच का निरसन करके निदिध्यासन

करना पड़ता है। स्व-स्वरूप का अनुसन्धान करने लगने पर मन और वासना, ये दोनों विषारी नागिनें फुफकारती हुई बीच में विघ्न डालती हैं और प्रपंच-भान उत्पन्न करती हैं। इसलिए मनोलय और वासना-शान्ति का अभ्यास करना पड़ता है और इसी से ब्रह्म-प्राप्ति होती है। अन्य चाहे जो उपाय किये जायँ, कोई लाभ नहीं होता। जीवनमुक्ति जो सम्पूर्ण वेदान्त-शास्त्र में श्रेष्ठ है, उसकी प्राप्ति मनोलय के ही मार्ग से होती है। मानव प्राणी को सुख-दुख का जो अनुभव होता है, वह मन और वासना के कारण ही होता है। अतएव इन दोनों का क्षय करना अत्यन्त आवश्यक है।

एष स्वभावाभिमतः स्वतः संकल्प्य धावति।
चेतसा स्वयमम्लानस्तदेव मन आत्मनः॥

—योगवासिष्ठ।

इस श्लोक में मन का लक्षण बतलाया गया है। आत्मा को जो पदार्थ स्वभावतः प्रिय लगते हैं और अज्ञान के योग से जो रमणीय भासते हैं, वे पदार्थ ग्राह्य हैं—यह संकल्प करके उनके पीछे जो स्वयं दौड़ता जाता है, वह मन है। आत्मा स्वयं प्रकाश्य और जैसा का तैसा ही है; परन्तु कोई न कोई संकल्प करके जो इधर-उधर भटकता फिरता है, वही मन है। यह देह, ये इन्द्रियाँ, ये प्राणापानादि वायु, यह जगड्-वाल ये घट-पटादि पदार्थ इत्यादि जितनी भेद-कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे सम्पूर्ण विभाग-कल्पनाएँ मन ही उत्पन्न करता है। वास्तव में देखिए तो आत्मा के तईं विकल्प भेद बिलकुल ही सम्भव नहीं है। वह आकाश की तरह निर्विकल्प, नित्य, शुद्ध और सर्व-साक्षी है। उसके पड़ोस में बस कर भेद-सृष्टि की चेष्टा करनेवाली व्यक्ति ही मन है। आत्म-स्वरूप से और उपर्युक्त भेद-कल्पना से मन का लक्षण और स्वभाव पहचानना चाहिए। आत्मा का स्वरूप यदि नहीं मालूम होता, तो मन का स्वभाव भी नहीं मालूम होता। अज्ञ लोगों को वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं। सफेद, लाल, हरे इत्यादि भिन्न-भिन्न रंगों के वस्त्र एकत्र करके यदि किसी अंधे के हाथ में दिये जायँ तो क्या उसे रंग-ज्ञान हो सकता है? अंधत्व

के कारण—अज्ञान के कारण—उसे रंग-ज्ञान हो नहीं सकता। बस यही दशा आत्म-ज्ञान-विरहित पुरुष की है। निश्चल और निर्विकल्प आत्मा के तईं द्वैत का भान बिलकुल ही नहीं उठता। तिस पर भी भेदशक्ति उत्पन्न करके जो सकल सृष्टि का भास करता है, उसे मन कहना चाहिए। इस मन में बड़ी विचित्रता है। वह जब संकल्प करता है, तब विश्व का भास होता है और जब विकल्प करता है, तब वही विश्व उसे शून्यवत् देख पड़ता है। यहाँ एक शंका उठती है कि एक ही पदार्थ से ऐसे दो प्रकार के अनुभव क्यों होने चाहिए! इसके लिए अग्नि का उदाहरण देना ही योग्य उत्तर है। अग्नि की ज्वाला वायु के योग से ही उत्पन्न होती है और उसका अस्त भी उसी के योग से होता है।

मन की वृत्तियाँ दो प्रकार की हैं। एक मलिन-वृत्ति और दूसरी शुद्ध-वृत्ति। मन की मलिन-वृत्ति के कारण द्वैत-प्रतीति, विश्वाभास और देहादिकों की स्फूर्ति होती है; परन्तु यह स्थिति मन की शुद्ध-वृत्ति होने से तत्काल उड़ जाती है। मन का स्वरूपाकार बनना ही उसकी शुद्ध-वृत्ति है। अतएव यह सिद्धान्त सत्य निश्चित होता है कि मनोवृत्ति से ही विश्व उत्पन्न होता है और मनोवृत्ति से ही विश्व का लय होता है। मन द्वैत का मूल है। वह सिर्फ मिथ्या-भ्रम है। वह भ्रम स्वरूप का ज्ञान न होने कारण ही उत्पन्न होता है। 'मन' का नाम ही वृथा है। उसे भ्रम का केन्द्र कहना ही ठीक होगा। स्व-स्वरूप की अज्ञान-दशा में मन का भाव देह में उत्पन्न होता है। हम स्वप्न में मर जाते हैं, यही नहीं, बल्कि कभी-कभी यहाँ तक दिखता है कि हमारे शरीर की दहन-क्रिया हो रही है; परन्तु जागने पर क्या कुछ सत्य जान पड़ता है? बस जैसा वह सब भ्रम है, वैसा ही भ्रम भी है। मन, मनमाना भ्रमण करता है और उस भ्रमण के कारण ही उसे सुख-दुःखादि प्राप्त होते हैं। परन्तु सम्यक् विचार करने पर आत्म-प्राप्ति होती है और तत्काल मन का नाश हो जाता है। अतएव मन का नाश करने के लिए आत्मज्ञान को छोड़ कर अन्य कोई भी साधन नहीं है।

असम्यग्दर्शनं यस्मादनात्मन्यात्मभावनम् ।
तदवस्तुनि वस्तुत्वं तन्मनो विद्धि राघव ॥

—योगवासिष्ठ ।

सम्यग्दर्शन को ज्ञान और असम्यग्दर्शन को अज्ञान कहना चाहिए। जिसके योग से किसी वस्तु का भी यथार्थ दर्शन होता है, वही सच्चा ज्ञान है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में स्पष्ट कहा है कि यथार्थ और अनुभव-सिद्ध जो ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है। यथार्थ शब्द से अयथार्थ अर्थात् मिथ्या भान का निरसन किया जाता है। शुक्ति-रजताभास, मृग-जल, स्वप्नभ्रम इत्यादि अयथार्थ ज्ञान हैं। इस अयथार्थ ज्ञान की यथार्थ शब्द से व्यावृत्ति की जाती है।

स्मृत्यनुभवश्च तर्कसंग्रह ।

अर्थात् न्याय-शास्त्र में ज्ञान के दो भाग कहे हैं; १ स्मृति, २ अनुभव। इनमें से स्मृति-व्यतिरिक्त ज्ञान को अनुभव कहना चाहिए, अतएव अनुभव शब्द से स्मृति की व्यावृत्ति होती है। इसलिए सम्पूर्ण शास्त्र यही गर्जना करते हैं कि जो कुछ यथार्थ, स्मृति-व्यतिरिक्त अनुभव-सिद्ध और प्रत्यक्ष-भूत है, उसी को ज्ञान कहना चाहिए।

अब यथार्थ ज्ञान का स्वरूप देखना चाहिए। जगत् में जिसके कारण अनात्मा प्रकाश पाता है, वह अयथार्थ ज्ञान है। हमें जो बाह्य प्रपंच देख पड़ता है और देह, इन्द्रिय आदि जो सब नश्वर पदार्थ देख पड़ते हैं, वही अनात्मा है और जिसके योग से यह भावना होती है कि इस अनात्मा के तईं आत्मा है तथा जिसके योग से देहादि मिथ्या वस्तुओं के तईं वस्तु-बुद्धि होती है, वह मन है। यह एक पदार्थ, वह दूसरा पदार्थ इत्यादि प्रकार के विभाग और भेद रचने के लिए मन ही कारण है। इस भेद का अभावन अर्थात् न होने की भावना, विचार-पूर्वक करने पर मन सर्वथा लय हो जाता है।

उपादेयानुपतनं हेयैकांतविसर्जनम् ।
यदेतन्मनसो रूप तद्बन्धं विद्धि नेतरम् ।

—योगवासिष्ठ ।

इस श्लोक में मन का लक्षण बहुत अच्छी तरह बतलाया गया है। जितने विषय उपादेय हैं और जितने पदार्थ आत्मा को अत्यन्त प्रिय जान पड़ते हैं, उन पर जो टूट पड़ता है, वही मन है। स्त्री आदिक रमणीय विषय और पदार्थ देख कर जो तदाकार वृत्ति कर लेता है और जो विषयातुर होकर नाना प्रकार से उनका उपभोग करने के लिए तैयार होता है, वह मन है। उसी प्रकार केवल दर्शन से ही भय, कम्प इत्यादि विकार उत्पन्न करनेवाली सर्पादिक वस्तुओं की ओर जो किसी तरह भी आत्म-प्रवृत्ति नहीं करता, वह मन है। इस मन को विषयों से जो विलक्षण प्रीति होती है, उसके लिए गुड़-चीटे की उपमा बहुत अच्छी है। गुड़ के टुकड़े में चीटे इतने मुग्ध होकर लिपटे रहते हैं कि चाहे आप उन्हें बीच से तोड़ ही क्यों न डालिए, तथापि वे वहाँ से छूटते नहीं। मन भी ऐसा ही परम विषय-लुब्ध है। परन्तु—

मानो हि जगतां कर्त्ता मनो हि पुरुषः स्मृतः।
मनःकृतं कृतं राम न शरीर-कृतं कृतम्॥

मन की इस प्रकार स्थिति होने के कारण उसका निग्रह करना अर्थात् मनोलय करना आवश्यक है। यह अखिल विश्व मन के कारण ही भासमान होता है, अतएव मन ही जगत् का कर्त्ता है और बाह्य प्रपंच की भावना नष्ट करनेवाला मन ही है। जब मन के योग से जगत् का उदय होता है, तब मन की ही तरफ जगत् का कर्तृत्व भी आना चाहिए। मन को जो पुरुष संज्ञा दी गई है सो इसी कारण कि पुरुषत्व और स्त्रीत्व की भेद-भावना उस मन से ही उत्पन्न हुई है। मनोलय होने पर स्त्री-पुरुष का भेद नहीं रहता है। हमारे प्राज्ञ पाठकों में से मिल्टन साहब का "पैरा डाइज लास्ट" ग्रन्थ बहुतों ने देखा होगा। उसकी आदम और हौवा दोनों व्यक्तियाँ बिलकुल दिगम्बर वृत्ति में रहती थीं। उनमें स्त्री-पुरुष की भावना प्रथम बिलकुल ही न थी। परन्तु ज्ञान-वृक्ष का फल खाने के कारण आगे चल कर स्त्री-पुरुष का भेद-भाव उनमें संचरित हुआ। तात्पर्य यही कि पुरुषत्व, स्त्रीत्व इत्यादि मन की भावनाएँ हैं।

जो कार्य मन से किया जाता है, उसी के लिए हम कह सकते हैं कि यह कार्य हमने किया। परन्तु जो क्रिया सिर्फ शरीर से होती है, उसके लिए हम यह नहीं कह सकते कि यह क्रिया हमसे हुई। हम जागृतावस्था में मन से जो बात करते हैं, उसके पाप-पुण्य के हम अवश्य अधिकारी होते हैं; परन्तु स्वप्न की पाप-पुण्य क्रिया का फल हमको नहीं भोगना पड़ता। स्वप्न की पाप-क्रिया का प्रायश्चित्त जागृत होने पर आज तक क्या किसी ने दिया है? अथवा किसी ने लिया है? इसी प्रकार स्वप्न के भोजन-दान से संतृप्त होकर क्या किसी ने डकार ली है? नहीं। मन से की हुई सत्क्रिया ही पुण्य-कर्म है। मन ठिकाने न रहते समय चाहे हमसे पुण्य-कर्म हो जाय तथापि वह व्यर्थ है। यह भी नहीं है कि केवल शरीर से जो कुछ किया वह हमने किया। किसी ने बड़े प्रेम से अपनी स्त्री का सर्वावयव से आलिंगन किया और उसी शरीर से और बहुत प्रीति से अपनी लड़की का भी आलिंगन किया, तो क्या इसके लिए उसे अधोगति मिल सकती है? नहीं। कान्ता का दृढ़ालिंगन करते समय और कन्या का आलिंगन करते समय यद्यपि उसका शरीर एक ही था, तथापि मन बिलकुल भिन्न होने के कारण वह दोषी नहीं ठहर सकता। पाप-पुण्य की प्राप्ति मन की स्थिति के अनुसार होती है। परस्त्री की अभिलाषा प्रत्यक्ष शरीर से ही नहीं, किन्तु यदि मन से भी हुई, तो अधोगति प्राप्त होती है। यही मन जब स्वरूप में लीन हो जाता है, तब शरीर से चाहे जो अधर्माचरण हो जाय, तथापि उससे अधोगति नहीं होती; क्योंकि उस दशा में मन का अस्तित्व ही नहीं रहता। मन यदि स्व-स्वरूप की पहचान कर लेता है अथवा सगुण-रूप का ध्यान करता है, तो अतिपुण्य प्राप्त होता है; परन्तु सिर्फ शरीर से चाहे जितने कष्ट उठाये जायँ, तथापि उनसे कुछ लाभ नहीं होता। उन कष्टों को वृथा ही समझना चाहिए। जिन कर्मों में मन नहीं है, उनसे कोई फल-प्राप्ति नहीं होती। फिर वे कर्म तीर्थ-यात्रा, व्रत-वैकल्य, जप-तप, यज्ञ-याग, अध्ययन, देवतार्चन इत्यादि कोई भी हों। उनमें यदि मन नहीं है, तो वे सब व्यर्थ हैं। वेदान्त मत से जीवन्मुक्त अवस्था सर्वश्रेष्ठ है, उसमें

शरीर द्वारा चाहे जो हो उसका दोष उस सत्पुरुष को नहीं लगता; क्योंकि वह कर्मफल से अलिप्त रहता है।

यहाँ तक इस विषय का वर्णन किया गया कि मन का लक्षण क्या है और प्रत्येक कर्म करते समय मन की कितनी आवश्यकता है। अब यह देखना चाहिए कि उस मन का लय अर्थात् नाश कैसे हो सकता है। जैसे रोगी की निदान पहले वैद्य से कराकर तब औषधोपचार करना हितकारक होता है, वैसे ही पहले मन की चिकित्सा करने के बाद उसे विचार-रूपी मात्रा देनी चाहिए। और चित्त-रूप जो रोग है, उसे अत्यन्त साहस से नष्ट कर डालना चाहिए। यह उत्तम मार्ग है। वासना-बाहुल्य से चित्त में मालिन्य आता है, इसलिए मन को वासना रहित करना चाहिए। चित्तशुद्धि होने के लिए वासना का क्षय पहले अवश्य होना चाहिए। जहाँ मन वासना से मुक्त हुआ कि बस फिर जीवात्मा सहज ही मुक्त हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

इस देवीभागवत के वचनानुसार जीवात्मा का बन्ध अथवा मोक्ष होने के लिए केवल मन ही कारण है। पानी यदि मलिन होता है, तो उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी अस्वच्छ ही होता है। पर यदि वही पानी शुद्ध होता है, तो उसका प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ होता है। वैसे ही यदि पानी हिलता हुआ हो, तो उसका प्रतिबिम्ब भी हिलता है और वह यदि स्थिर होता है तो प्रतिबिम्ब भी स्थिर रहता है। शीशे का भी ऐसा ही उदाहरण है। शीशे में यदि कुछ दोष होता है, तो प्रतिबिम्ब भी उसमें ठीक नहीं देख पड़ता। किसी किसी शीशे में राक्षस के समान भयंकर और विकराल मुँह देख पड़ता है अथवा हाथ भर लम्बा मुख देख पड़ता है, इन बातों का सभी को अनुभव है! जैसा यह शीशे का दोष है, वही बात मन के लिए भी है। मनरूप शीशा यदि शुद्ध होता है अर्थात् मन में यदि किसी प्रकार की वासना नहीं होती, तो उसमें स्व-स्वरूप का प्रतिबिम्ब स्वच्छ पड़ कर आत्मज्ञान होता है। अतएव मन को वासना-रहित करना चाहिए।

मन को वासना-रहित करने के अनेक उपाय हैं। उनमें पहला उपाय सद्गुरु के बोध का अन्तःकरण में विवेचन करना ही है। इसी को वेदान्त-शास्त्र में निदिध्यासन कहते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वासना-युक्त अर्थात् बहिर्मुख रहती हैं, वे अन्तर्मुख नहीं होतीं। बलात्कार से ही उनका प्रवेश भीतर की ओर करना पड़ता है अर्थात् उन्हें अन्तर्मुख करना पड़ता है। जितना कुछ अनात्मवर्ग है, उसी के तईं चित्तवृत्ति प्रकाशित होती है, इसलिए उस वृत्ति का महान् प्रयास से नियमन करना पड़ता है। अनात्म पदार्थों के तईं चित्तवृत्ति शान्त करके और सजातीय आत्मा की ओर वृत्ति ले जाकर जब निरन्तर अनुसन्धान किया जाता है, तब वासना-रहित दशा प्राप्त होती है और फिर चित्त में चित्तत्व रहता ही नहीं। स्व-स्वरूप में चित्त-वृत्ति का लगना ही मुक्ति है।

आशा केवल पिशाचवत् है। वह शुद्ध वस्तु में मलिनता लाती है। कोई पदार्थ यदि पृथ्वी पर नहीं भी होता है, तो भी उसे प्राप्त करने का हौसला आशा के कारण ही उत्पन्न होता है और चाहे जितना मिले, तथापि अधिकाधिक पाने की अपेक्षा बनी रहती है। इस प्रकार की आशाओं से जब मन भर जाय, तब समझ लेना चाहिए कि अब हमें आशा-पिशाच ने घेर लिया। बस विषयासक्ति इसी को कहते हैं। इस आशा ही के कारण चित्त-विक्षेप होता है और इसी से मनुष्य आत्म-स्थिति से भ्रष्ट हो जाता है। आशा से अज्ञान बढ़ता है और उन अज्ञान-रूप बादलों से स्व-स्वरूप-रूपी चन्द्र बिलकुल ही ढँक जाता है तथा विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। इन सब बातों का कारण जब हम देखते हैं तब एक मन ही को पाते हैं। इस मन के योग से ही अनेक वस्तुओं की अयथार्थ प्रीति होती है। इस विषय में बृहदारण्यक श्रुति में यह वचन है :—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

अर्थात् बाह्य संकल्प-विकल्प, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, भीति ये सब मन के खेल हैं। मन का यह सारा आडम्बर लय होने के

लिए यही उपाय है कि—

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम् ।
जुह्वतोऽस्तनिवर्तन्ते राम चित्तादिविभ्रमाः ॥

—योगवासिष्ठ ।

अपने मन और अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके सम्पूर्ण जगत् को तृण की तरह समझ कर चिद्रूप अग्नि में उसका हवन करना चाहिए; इससे चित्तादि विभ्रम तत्काल नष्ट हो जाते हैं। सर्वदा विषय-चिन्तन, देहादि वस्तुओं की सर्वकाल भावना और जगत् को सत्य समझना इत्यादि बातों को मन की बहिर्मुखता कहते हैं। इसी की विरुद्ध-स्थिति को अन्तर्मुखता कहते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या समझना, सब विषयों का सदोष जान पड़ना और सर्वदा ब्रह्माकार स्फूर्ति होना इत्यादि बातों को मन की अन्तर्मुखता समझना चाहिए। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों को अनात्मा समझकर स्व-स्वरूप के तईं चित्तवृत्ति का निमग्न होना ही अन्तर्मुखता है। यह अन्तर्मुखता प्राप्त होने पर सम्पूर्ण विश्व तृण प्राय होकर चिद्रूप अग्नि में भस्म हो जाता है; फिर चित्त ही कहाँ रह सकता है! तरु-कोटरांतर्गत वह्नि के रहते हुए यदि उस जगह तृण-बीज बोया जाता है, तो उसमें अंकुर नहीं निकलता अथवा दावानल के जलते समय वहाँ चाहे जितना धान्य बो दिया जाय, तथापि उसमें अंकुर नहीं फूटता, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान-रूपी अग्नि प्रदीप्त होने पर चित्तादि भ्रम नष्ट हो जाते हैं।

हेय अर्थात् त्याज्य और उपादेय अर्थात् ग्राह्य पदार्थों की कल्पना भी मन में न लाना चाहिए, इससे चित्त का लय हो जाता है और द्वैत की प्रतीति नहीं होती तथा चित्त में अचित्तत्व आ जाता है। स्पष्ट ही है कि इन सब का कारण जो अज्ञान है, वही जब बिलकुल नष्ट हो जायगा, तब कार्य-रूपी मन किसके आधार से रहेगा? और मनोलय होने पर ग्राह्य-अग्राह्य बातें भी उसी के साथ नष्ट हो जायँगी। कारण के अभाव में कार्य रहता ही नहीं, यह सिद्धांत है।

मन की वृत्तियों का नष्ट करना ही मन का नाश करना है। मन को

तीन वृत्तियाँ हैं—रज, सत्त्व और तम। ये तीनों क्रमशः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में भासमान होती हैं। जाग्रतावस्था में चित्त रजोमय रहता है और उसे घोर-रूप प्राप्त होता है तथा मन की चंचलता अधिक होती है। स्वप्नावस्था में मन सत्त्वगुण के कारण शांत रहता है और सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण की प्रबलता के कारण मन को मूढ़ता प्राप्त होती है। ये तीनों अवस्थाएँ जहाँ नहीं है, वहीं मन मृत होता है अर्थात् मनोलय होता है और वेदान्त-शास्त्र में कही हुई चौथी अवस्था का अनुभव होता है।

अब अगले श्लोक में यह बतलाया गया है कि चित्त के योग से मनुष्य की चलन-वलन क्रिया कैसी होती है :—

चित्तं जानीहि संसारं बन्धश्चित्तमुदाहृतः।
पादपः पवनेनेव देहश्चित्तेन चाल्यते॥

योगवासिष्ठ।

वायु के योग से वृक्ष में चलन-वलन होता है और उसकी शाखा उपशाखाएँ हिलने लगती हैं तथा उसकी स्थिरता नहीं रहती, इसी प्रकार चित्त देह को चालित करनेवाला है। स्वस्थ रहनेवाली अपनी इन्द्रियों को वह बलात्कार से चेताता है और इस कारण सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि संसार-रूपी जो दृढ़ बन्ध है, वह मन के कारण ही होता है। यदि हमें निर्विकार स्थिति प्राप्त करनी है, तो मनोजय ही करना चाहिए। मनोजय से अज्ञान नष्ट होता है और शम-दमादि संपत्ति मिलती है तथा स्व-स्वरूप की भेट होती है। यदि हम यह कहें कि मनोजय से सुख का सुकाल होता है और दुःख का दुष्काल पड़ जाता है, तो इसमें सब आ जाता है। लोग मनोजय करने के लिए तीर्थ, व्रत, तप, दान आदि लौकिक व्यवहार करते हैं; परन्तु वे कोई ठीक उपाय नहीं हैं। ये सिर्फ संसृति के कारण होकर जगत् का बन्ध करते हैं। यद्यपि ये साधन सुख के लिए स्वीकार किये जाते हैं, तथापि वे दुःख ही के कारण होते हैं, उनसे सिर्फ देह कष्ट होता है; स्व-स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु पूर्वोक्त साधनों से क्षण भर

मनोलय करने से सुख से स्व-स्वरूप-प्राप्ति होती है। दोनों साधन अपने हाथ ही के हैं। अतएव ऐसे ही साधन करने चाहिए कि जिनसे सच्चे सुख की प्राप्ति हो। यही श्रेयस्कर है।

जिस पर सद्गुरु का अनुग्रह हुआ हो, उसे एकान्त-वास का सेवन करना चाहिए और गुरु-वाक्य के अनुसार योग्य रीति से मनोजय करना चाहिए। श्वास-निरोध के द्वारा जो मनोजय किया जाता है, उससे सिद्धियाँ अवश्य होती हैं, परन्तु ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्म-प्राप्ति होने के लिए विचार करना चाहिए, वेदों में कहे हुए "नेति नेति" वचनों का निदिध्यास करके द्वैत-निरसन करना चाहिए, इससे मनोलय होता है। तथा विजातीय पदार्थों को सम्मुख न होने देना चाहिए और स्व-रूपाकार में—जो सजातीय है,—तद्रूप होकर रहना चाहिए। यह समझने के लिए कि स्व-स्वरूप में विक्षेप होता है, वेदान्त-शास्त्र में मनोवृत्ति के पाँच दोष बतलाये गये हैं। उन्हें पहले अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उन दोषों का ज्ञान न होते हुए यों ही मन रोकने से कोई फल नहीं होता। प्रपंच में बिलकुल फँस कर सिर्फ बाहर से समाधि का रूप दिखाने से लौकिक परमार्थ चाहे भले ही सध जाय, पर आत्महित जिसे कहते हैं, वह नहीं प्राप्त हो सकता। सच्चे परमार्थ की यदि प्राप्ति करना हो, तो लौकिक दम्भ को छोड़ कर सद्गुरु के ही चरण पड़ना चाहिए। सद्गुरु के पाद-सेवन से तत्काल मनोजय होता है; अन्य साधनों की जरूरत ही नहीं रहती। काम-क्रोधादि षड्-रिपुओं का दमन करने के लिए श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में उत्तम उपाय बतलाये गये हैं; उनका यहाँ निरूपण करना आवश्यक है।

श्रीमद्भागवत में मनोलय के उपाय इस प्रकार कहे गये हैं:— कामरिपु के जीतने का मुख्य साधन संकल्प-विहीन होना है। काम को जीत लेने पर क्रोध भी अवश्य ही जीत लिया जाता है। यह दृष्टि होना कि जगत् में दृग्गोचर होनेवाले सारे पदार्थ अनर्थकारक हैं, लोभ जीतने का साधन है। हृदय में भय मालूम होने की जो दुष्ट-वृत्ति है, वह तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जल जाती है। शोक और मोह सांख्यशास्त्र

के अभ्यास से नष्ट होते हैं। अब दम्भ के नाश का विचार करना चाहिए। इस विकार को श्रीमान् शंकराचार्य ने "स्वधर्म प्रकटीकरण" कहा है। ज्ञानेश्वर नामक प्रसिद्ध महाराष्ट्र साधु ने इसका स्पष्टार्थ इस प्रकार किया है:—

अन्तःकरण को दूसरी ओर रखकर यों ही तिलक-मुद्रा लगाकर कर बैठना दम्भ है। यह दोष दूर होने के लिए साधु-चरण-सेवा के सिवाय अन्य उपाय नहीं है। योगाभ्यास करते समय बीच में जिसके कारण विघ्न उत्पन्न होते हैं, उस दुष्ट-वृत्ति का नाश, मौन से करना चाहिए। आशा को निरिच्छता से जीतना चाहिए। भूतमात्रों से जो हमें आधिभौतिक दुःख होते हैं, उन्हें अन्तःकरण में सर्वदा कृपा धारण कर के जीतना चाहिए। योग-सामर्थ्य के द्वारा अध्यात्म दुःखों से दूर रहना चाहिए। निद्रा-दोष सत्त्वसेवन से नष्ट करना चाहिए। सत्वगुण के प्रकर्ष से रज और तम गुणों को जीतना चाहिए। सत्वगुण को भी शान्ति द्वारा लीन करना चाहिए। ये गुणातीत होने के मार्ग हैं।

परन्तु यदि इतना क्लेश न सहना हो और एक-एक रिपु के जीतने का प्रयास न उठाना हो; किन्तु एकदम सब शत्रुओं को जीतना हो, तो इसका सुलभ उपाय यही है कि भक्ति-पूर्वक सद्गुरु के चरणों की शरण लेनी चाहिए। परम भक्ति से ईश्वर का अनन्य भजन करने से तत्काल सब दुष्ट-वृत्तियों का लय हो जाता है और पूर्णत्व का लाभ होता है। सच पूछिए तो सद्गुरु को छोड़ कर जो कि केवल ज्ञान-दीप और प्रकाशमय है, भजन करने योग्य और कौन है? सद्गुरु अपने भक्त को ब्रह्म-स्थिति तक पहुँचा कर रक्षा करनेवाला है। सद्गुरु को छोड़कर अन्य देवता का पूजन करना व्यभिचार है! गुरु-कृपा का फल जिसे नहीं मिला और जो भक्ति से विमुख है, उसका सम्पूर्ण अध्ययन व्यर्थ है। ऐसे पुरुषों का शास्त्र-पठन और वेदाभ्यास "कुंजर-शौचवत्" समझना चाहिए। अधिक क्यों, चाहे उन्होंने महावाक्य का विचार ही क्यों न किया हो, तथापि सद्गुरु-भजन के बिना वह भी व्यर्थ है। अतएव सद्गुरु की शरण में जाकर विमल भक्ति से उसका भजन करना

चाहिए और उसके दिखलाये हुए मार्गों से मन को जीतना चाहिए। मन शोक-मोह-रूपी है। योग-शास्त्र में उसे जीतने का यह उपाय बतलाया गया है:—

हस्तं हस्तेन संपीड्य दंतैर्दन्तांश्च पीडनम्।
अङ्गान्यंगैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥

—योगवासिष्ठ।

जैसे किसी शूर और पराक्रमी पुरुष को जीतने के लिए क्रोध-चेष्टाएँ होती हैं, उसी प्रकार मन को जीतने के लिए विचेष्टन करना पड़ता है। चरण तोड़ कर दृढ़ासन लगाना चाहिए, हाथ से हाथ को मरोड़ कर बल-पूर्वक दबाना चाहिए और दाँत-ओंठ क्रोध से चाब कर मन को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। मन को जीतने पर विश्व-भ्रान्ति का पसारा टूट जाता है और मनुष्य सुख-सागर में निमग्न हो जाता है। जन्म-मरण का डर उसे नहीं रहता। गुरु संप्रदाय को छोड़-कर मन का दमन करने के लिए हम जो जो उपाय करते हैं उनसे मन स्थिर नहीं होता; किन्तु और भी अधिक चंचल हो जाता है।

मन की पाँच प्रकार की वृत्तियों का निरोध करने से निवृत्तिक स्थिति प्राप्त होती है। वही मन का पराजय अथवा मनोलय है। उन पंच वृत्तियों को न जीतते हुए मनोजय करने की डींग मारना परमात्मा के दिये हुए मुख का दुरुपयोग करना है। सद्गुरु-मुख से मनोवृत्तियों का ज्ञान करके फिर मनोजय करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से विशेष प्रयास न पड़ते हुए मनोजय हो जाता है। वृत्तियों का निरोध करने से मन आप ही आप निवृत्तिक होता है। मन की वृत्तियाँ अर्थात् शाखाएँ कौन कौन सी हैं, सो पहले अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और फिर उन शाखाओं का छाँटना प्रारम्भ करना चाहिए; इससे अच्छी सफलता प्राप्त होती है। यदि किसी महान् शूरवीर को मारना हो तो पहले उसके हाथ-पैरों का छाँट डालना ही ठीक होगा। श्री परशुराम ने जब देखा कि सहस्रार्जुन युद्ध में अनिवार हो गया है, तब उन्होंने पहले उसके हजार हाथ काट कर ढेर कर दिया और फिर उसका संहार किया।

यह पुराण-प्रसिद्ध कथा पाठकों को मालूम ही होगी। किसी के हाथ-पैर काट कर यदि उसे एक जगह बैठा दिया जाय तो वह पंगु किसी तरह भी बाहर नहीं जा सकेगा। बस यही हाल मन का भी है। मन के हाथ-पैर अर्थात् पाँचों वृत्तियाँ काट कर यदि उसे पंगु बना डाला जाय तो फिर वह कहाँ दौड़ कर जायगा? अवश्य ही उसका नियमन हो जायगा और वह अपनी जगह से टल नहीं सकेगा अर्थात् स्व-स्वरूप के तईं स्थिर होगा। फिर कुछ भी किया जाय, चित्त-वृत्ति चंचल नहीं हो सकती। केवल परब्रह्म में वह निश्चल हो जायगी, किसी बाह्यवृत्ति से भी उस स्थिति में मलिनता नहीं आ सकेगी।

अब मन की पाँच वृत्तियाँ और उनके लक्षणों का निरूपण किया जाता है। वे पाँच वृत्तियाँ ये हैं :— १ प्रमाण, २ विपर्यय, ३ विकल्प, ४ निद्रा और ५ स्मृति। इनमें से प्रमाण-वृत्ति छः प्रकार की है:— १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ शाब्द, ५ अर्थापत्ति और ६ अभाव। इनमें से प्रत्येक का यहाँ पर कुछ विवेचन करना आवश्यक है। गदाधर भट्टाचार्य नामक महान् नैयायिक के ग्रन्थ में प्रत्यक्ष प्रमाण का सर्वोत्कृष्ट निरूपण किया गया है। घट-पटादि जो हमें नेत्रों से भासमान होते हैं, जिन जिन वस्तुओं की श्रवण से प्रतीति होती है, जिन जिन गंधों का घ्राणेन्द्रिय से ज्ञान होता है, जो जो स्पर्श त्वगिन्द्रिय से व्यक्त होता है और जो जो रस-वृत्ति रसनेन्द्रिय को गोचर होती है, वह वह प्रत्यक्ष समझना चाहिए और वह वह प्रत्यक्ष प्रमाण समझना चाहिए।

पर्वतो वह्निमान् धूमात्।

अर्थात् धुआँ देख कर वहाँ अग्नि का अनुमान करना अनुमान करना कहलाता है।

गोसदृशो गवयः।

अर्थात् यह कहने से कि गवय गाय के समान होता है, जो परस्पर सादृश्य का ज्ञान होता है उसे उपमान कहते हैं। वह मानो सिंह ही है, उसका मुख चन्द्र के जैसा है इत्यादि रीति से एक वस्तु को दूसरी वस्तु की उपमा देकर जो ज्ञान किया जाता है उसी को उपमान कहते हैं।

शब्दों से बतलाने के कारण जो वस्तु-ज्ञान होता है उसे शाब्द कहते हैं।

नदीतीरे पंच फलानि सन्ति।

एक ने दूसरे से कहा कि "नदी के किनारे पाँच फल हैं", अब यह सुनकर दूसरे को जो ज्ञान हुआ उसे शाब्द-प्रमाण कहना चाहिए। सद्गुरु-मुख से महा-वाक्य का ज्ञान करके पूर्णब्रह्म का अनुभव होना योगमार्ग के शाब्द-प्रमाण की पहचान है। अब अर्थापत्ति के विषय में विचार करते हैं।

पीनो देवदत्तः दिवा भुंक्ते।

किसी ने कहा कि "देवदत्त नामक पुरुष दिन को भोजन तो नहीं करता, तथापि वह खूब हृष्ट-पुष्ट है।" अब इससे यह भावना होना कि—

रात्रौ भोजनमन्विष्यते।

अर्थात् वह रात्रि को भोजन करता होगा, अर्थापत्ति है। अब छठे प्रकार अभाव को लीजिए।

यत्र घटो नास्ति तत्र घटाभावः।

अर्थात् जहाँ घट नहीं है वहाँ घटाभाव समझना चाहिए। इस प्रकार षड्विध प्रमाणों का होना चित्त की पहली वृत्ति है।

शुक्ताविदं रजतं

अर्थात् सीप में रजत की भावना होना अथवा किरण के तईं मृग-जल का अथवा रज्जु के तईं सर्प का भ्रम होना विपर्यय-वृत्ति कहलाती है। जो वस्तु हमें अच्छी तरह मालूम है, उसके तईं अन्य कुछ भास होना विपर्यय समझना चाहिए। अब विकल्प का लक्षण यह है:—

"वन्ध्या-पुत्रः। व्योम-सुमनः" अर्थात् बाँझ का लड़का, आकाश-पुष्प इत्यादि शब्दों से जो तद्विषयक चित्त-वृत्ति होती है उसको विकल्प कहते हैं। विकल्प शब्द का लौकिक अर्थ 'असत्य का स्मरण होना' है; परन्तु उसका मुख्य अर्थ संशय या सन्देह है। जब 'अमुक वस्तु है या नहीं' इस प्रकार सन्देह उत्पन्न होता है, तब उसको विकल्प का लक्षण

जानना चाहिए।

मन की पाँच वृत्तियों में से प्रमाण, विपर्यय और विकल्प का वर्णन हो चुका। अब निद्रा और स्मृति का वर्णन किया जायगा। निद्रा-वृत्ति के कारण आत्म-स्वरूप-स्थिति से च्युति हो जाती है। यही वृत्ति आत्म-स्वरूप का विघात करती है और मनुष्य को भवसागर में डुबा देती है। पूर्व समय में अनुभूत वस्तु का जो यथार्थ स्मरण होता है, उसको स्मृति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब उक्त पाँच प्रकार की मनोवृत्तियों का यथोचित नियमन किया जायगा, तब कहीं निवृत्तिक स्थिति प्राप्त होगी और मन का जय किया जा सकेगा।

इन पाँचों वृत्तियों का समावेश जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नामक अवस्थाओं में किया जा सकता है, अतएव इन तीनों अवस्थाओं के परे होते ही "साक्षित्व" नामक सर्वोत्तम अवस्था का अनुभव प्रतीत होता है। साक्षि-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होते ही मनोवृत्तियों का अभाव हो जाता है, इसलिए मनोलय का यही मुख्य उपाय है। जो लोग अपने चित्त का नियमन करके मन को जीत नहीं सकते, किन्तु लोगों को दिखाने के लिए ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि आडम्बर किया करते हैं, उनको सचमुच लज्जित होना चाहिए। वशिष्ठ जी कहते हैं:—

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्जितः।
ध्यानवार्तां वदन्मूढः स किं लोके न लज्जते॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जो मनुष्य अपने चित्त को जीत नहीं सकता, उसकी स्वाधीनता का नाश हो जाता है। यदि चित्त का जय किया न जाय तो विषय वासनाओं की वृद्धि होती है और ज्ञान का नाश हो जाता है। जो मनुष्य मनोजय किये बिना यह कहता है कि मैं ध्यानस्थ हूँ, वह सब लोगों के उपहास का पात्र हो जाता है। अस्तु।

अपने चित्त को जीतने का यत्न करना प्रत्येक मनुष्य के अधीन है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मनुष्य विषयासक्त क्यों हो जाता है? चित्त के नियमन करने के अभ्यास में शिथिलता या उदासीनता क्यों आ जाती

है ? और यत्न करने पर भी फल की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? इन तीनों प्रश्नों का विचार करना चाहिए। पहली बात यह है कि वैराग्य के अभाव से विषयासक्ति उत्पन्न होती है; दूसरी बात यह है कि परमार्थ के सम्बन्ध में अनास्था या अनादर करने से अभ्यास में उदासीनता आ जाती है और तीसरी बात यह है कि अभ्यास निरन्तर नहीं किया जाता, इसलिए फल की प्राप्ति नहीं होती। अतएव वैराग्य, आदर और निरन्तरता की बहुत आवश्यकता है। वैराग्य से विषयों की आसक्तिता का नाश हो जायगा और चित्त में कसी प्रकार का विक्षेप उत्पन्न न होगा। अभ्यास के विषय में आदरभाव अथवा श्रद्धा रखने से उदासीनता या शिथिलता आने नहीं पाती। मनोजय का मुख्य उपाय अभ्यास ही है, इसलिए यह अभ्यास निरन्तर किया जाना चाहिये। ज्ञानी लोग अपने मन को जीतने का अभ्यास निन्तर करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वैराग्य और आदर-भाव का अवलम्ब करके यदि निरन्तर अभ्यास किया जाय, तो मनोजय की प्राप्ति अवश्य होगी।

एक एव मनो देवो ज्ञेयः सर्वार्थसिद्धिदः।
अन्यत्र विफलक्लेशः सर्वेषां तज्जयं विना॥

—योगवासिष्ठ।

अनेक क्लेशदायक कर्मों का त्याग करके केवल एक मन ही का जय करना चाहिये; क्योंकि मन-रूप देव सब प्रकार की सिद्धियों-का दाता है, सब इन्द्रिय वृत्तियाँ केवल मन की सहायता से प्रकाशित होती हैं इसलिए मन को 'देव' कहते हैं। देव शब्द संस्कृत के दिव् धातु से बना है जिसका अर्थ 'प्रकाशित करना' होता है। श्रीमद्भागवत में इस मन-रूप देव के विषय मे कहा है—"भीष्मोहि देवः सहसः सहीयान्"—अर्थात् मन का स्वरूप बहुत उग्र है, इसलिए प्रथम उसी को अपनी ज्ञेय-वस्तु अर्थात् ज्ञान-गम्य वस्तु बनाना चाहिए। मन ही सब वस्तुओं का ज्ञान करा देता है, इसलिए सब से पहले उसकी भिन्न-भिन्न वृत्तियों को भली भाँति जान लेना चाहिए। और तब उनके नियमन करने का अभ्यास करना चाहिए। इससे यह विदित होगा कि किस प्रकार ज्ञेय होता है।

अनुद्वेगः श्रियोमूलमनुद्वेगात्प्रवर्तते ।
जंतोर्मनोजदयादन्यत् त्रैलोक्यविजयस्तृणम् ॥
—योगवासिष्ठ ।

जब किसी प्रकार का संकल्प मन में उत्पन्न नहीं होता, तब उस अवस्था को अनुद्वेग कहते हैं । अनुद्वेग-रूप मनोजय से मोक्ष-रूप लक्ष्मी प्राप्त होती है । यदि त्रिभुवन की प्राप्ति हो जाय, तो भी वह मनोजय के बिना व्यर्थ है । जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसी को महाशूर कहना चाहिये । सम्भव है कि बड़े-बड़े अतिरथी और महारथी तीनों लोक को जीत लें; परन्तु मन को जीतनेवाला इस दुनिया में विरला ही महात्मा होता है ।

मनोजय के मुख्य चार उपाय हैं—सत्संग, वासना-त्याग, आत्मज्ञान-विचार और प्राण-स्पंद-निरोधन । इनमें सत्संग ही सार वस्तु है । मनोजय के सब साधनों में सत्संग को मुकुटमणि कहना चाहिये । इसकी महिमा सब साधुजनों ने गाई है । इसके द्वारा यह जीव असंग हो जाता है, उसकी देह-बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसको सदाचरण में अनुराग उत्पन्न होता है । सत्संग से मनुष्य जप-तपादि साधनों में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार अभ्यास करते-करते कुछ दिनों में वह पूर्ण विरक्त हो जाता है और सत्संग के प्रभाव से आत्मानंद का अनुभव करके अपने जीवन को सार्थकता कर लेता है । मन को पूरी तरह अपने अधीन करने के लिए साधु पुरुषों के चरणों का आश्रय करना चाहिए । श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्ननेन सेवया" अर्थात् यदि उत्तम ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा हो तो संतजनों की सेवा करनी चाहिए । संतजन ज्ञान के आगार हैं । इसलिए निरभिमानिता पूर्वक काया, वाचा और मन से संतजनों की सेवा करके अपेक्षित ज्ञान की प्राप्ति कर लेनी चाहिए । उनके उपदेशामृत का प्रवाह जब हमारे अंतःकरण में बहने लगता है, तब उसके प्रभाव से मन तुरन्त ही कल्पना-रहित होता है । गुसाईं तुलसी-दासजी ने सत्संग को तीरथराज की उपमा दी है । सत्संग की महिमा सचमुच अवर्णनीय है । देखिए, गुसाईं जी क्या कहते हैं:—

विधि हरिहर कवि कोबिद बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ॥
सो मोसन कहि जात न कैसे । साक बनिक मनि गुन गन जैसे ॥
—रामचरित मानस ।

मनोजय का दूसरा साधन वासना-त्याग है । चित्त की जो भिन्न-भिन्न अनेक वृत्तियाँ हैं, उन्हीं को वासना कहते हैं । जब अन्तःकरण से कोई वृत्ति उठने लगती है, तब साक्षि-स्वरूप की ओर ध्यान देकर उस वृत्ति का लय करना चाहिए । ज्यों ही वासना जाग्रत हो और मन में विषयाकार संकल्प होने लगे, त्यों ही उसको वहीं दबा देना चाहिए—वासना अथवा वृत्ति को कभी पदार्थाकार होने न देना चाहिए । इस प्रकार स्व-स्वरूप से भिन्न अनात्म-विषयों को स्व-रूपाकार करने से वासना का आप-ही-आप त्याग हो जाता है ।

आत्मज्ञान विचार तीसरा उपाय है । आत्म-विद्या से मन का मनत्व नष्ट हो जाता है । आत्मा और अनात्मा का विवेक करने से मनोजय प्राप्त होता है । आत्मज्ञान की प्राप्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि साधनों से होती है । अतएव जब इन साधनों की सहायता से आत्मज्ञान का विचार किया जाता है, तब मन की चंचलता सहज ही नष्ट हो जाती है ।

आर्य-तत्वज्ञान में प्राण-स्पंद-निरोधन नाम का चौथा उपाय बताया गया है, जिसके द्वारा वायु-धारण करने की शक्ति प्राप्त होकर मनोजय भी किया जा सकता है । अब उसी का निरूपण किया जाता है ।

यह सिद्धान्त है कि वायु का निरोध करने से मन का लय हो जाता है और मन का निरोध करने से वायु की स्थिरता होती है । इस परस्परावलंबन के विषय में योगशास्त्र में लिखा है:—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥
मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयेते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥
—हठयोगप्रदीपिका ।

अर्थात् जो मनुष्य प्राण-वायु को अपने अधीन कर लेता है, वह मन को भी अपने अधीन कर सकता है। इसी तरह जो मनुष्य अपने मन को अधीन कर लेता है, वह प्राण-वायु को भी अपने अधीन कर सकता है। जिस आधार-चक्र के स्थान में मन का लय होता है, उसी स्थान में प्राणवायु का भी लय होता है; इसी तरह जिस स्थान में प्राण-वायु का लय होता है, उसी आधारचक्र-स्थान में मन भी आप-ही-आप लीन हो जाता है। योगशास्त्र में वायु-निरोधन का अभ्यास करने के लिए जिन चक्र स्थानों का वर्णन किया गया है उनके नाम ये हैं:—१ आधारचक्र, २ लिंगचक्र, ३ नाभिचक्र, ४ हृदयचक्र, ५ कंठचक्र और ६ आज्ञाचक्र (भृकुटि मध्य)। योगीजन प्रत्येक चक्र-स्थान में एक-एक देवता कल्पित करके वहाँ वर्णात्मक देवता की स्थापना करते हैं। यह कार्य केवल भावना-शक्ति के आधार पर किया जाता है। परशुरामसूत्र में यह वचन है "भावना-दार्ढ्यात् निग्रहानुग्रहसामर्थ्यात्" इसका भावार्थ वही है जो ऊपर लिखा गया है। अर्थात् योगी को प्रथम अपने शरीर से भिन्न-भिन्न चक्र-स्थानों में वर्णात्मक देवताओं की भावना करनी पड़ती है और जब तक वह अभ्यास में लगा रहता है, तब तक उसको अपनी उक्त भावना स्थिर रखनी पड़ती है। इसके बाद प्राण-वायु और अपान-वायु की एकता करके कुंडलिनी नामक नाड़ी को जागृत करना पड़ता है। योगशास्त्र में इस नाड़ी का अद्भुत महात्म्य बताया है। इसी को "शांभवी शक्ति" भी कहते हैं। उत्तेजित होने के पहले यह नाड़ी निद्रित नागिन के समान रहती है। ज्यों ही यह नाड़ी जागृत होती है, त्यों ही सुषुम्ना का द्वार खुल जाता है और प्राण-वायु ऊर्ध्व-गतिक होकर षट्चक्रों का भेद करने लगती है। जिस चक्र में प्राण वायु का प्रवेश होता है, उसमें मन भी वायु के साथ चला जाता है अथवा जिस चक्र में मन का प्रवेश होगा, उसमें प्राण-वायु भी उसके साथ अवश्य चली जायगी। इस तरह जब प्राण-वायु सचमुच षट्चक्रों में से ऊर्ध्वगतिक होकर चलने लगती है, तब उसको हठयोग कहते हैं। केवल भावना के आधार पर जब किसी चक्र में प्राण-वायु और मन का

प्रवेश कल्पित करके वहाँ देवता का ध्यान किया जाता है, तब उसको राजयोग कहते हैं।

जब हठयोग अथवा राजयोग करके मनोजय किया जाता है तब योगी के अभ्यास की पूर्ण सिद्धि होती है—तब वह मोक्ष प्राप्त करके केवल सुख-स्वरूप हो जाता है।

पूर्णे मनसि संपूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवै।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः॥

—योगवासिष्ठ।

जैसे पाँव में जूता पहनने से सब जमीन 'चर्मास्तृत'—अर्थात् चमड़े से मढ़ी हुई या नरम—मालूम होती है, वैसे ही जिसका मन पूर्ण ब्रह्माकार हो जाता है, उसको सारा जगत् ब्रह्म-रूप ही देख पड़ता है।

मन को जीतने के लिए अथवा चित्त का नाश करने के लिए दो उपाय अत्यन्त श्रेष्ठ हैं:—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव।
योगश्चित्तनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणं॥

—योगवासिष्ठ।

चित्त का नाश करने के लिए योगमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग का अवलम्ब करना चाहिए। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं और सम्यक् अर्थात् उत्तम प्रकार से आत्मानात्म वस्तु को जानना ज्ञान कहलाता है, जिसको सांख्य भी कहते हैं। इन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन करना आवश्यक है। पहले योग का वर्णन किया जायगा। योग के आठ अंग या प्रकार हैं। उनके नाम ये हैं:—१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ ध्यान, ७ धारणा और ८ समाधि। अब संक्षेप में यह देखना चाहिए कि इनमें से प्रत्येक अंग का लक्षण और स्वरूप क्या है।

१ यम

यम-योग के बारह भेद हैं, जैसे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, ह्री, असंचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा, और अभय।

योगाभ्यास करनेवाले को पहले इन्हीं गुणों का अभ्यास करना चाहिए। (१) अहिंसा का साधारण अर्थ 'किसी जीव का वध न करना' होता है; परन्तु योगियों की दृष्टि से इस शब्द का दूसरा अर्थ होता है। शब्द इत्यादि के द्वारा कभी किसी को दुःख न देना ही अहिंसा का परम लक्षण माना गया है। (२) सत्य किंचित् लाभ के लिए भी अनृत भाषण न करना, किन्तु सदा सत्य ही बोलना चाहिए। परमहंस ब्रह्मानन्द स्वामी ने अपने योगकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ में सत्य की व्याख्या इस प्रकार की है—किसी भी इंद्रिय से किसी भी वस्तु का जैसा ज्ञान हो ठीक वैसा ही वाणी से उच्चारण करना तथा इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान पर से न्याय-शास्त्रानुमोदित अनुमान द्वारा जो निश्चय किया जाता है, उसके अनुसार भाषण करना सत्य कहलाता है। सत्य का एक और अर्थ है—अपने गुरु अथवा परम पूज्य माता-पिता के मुख से जो कुछ हम सुनें, उसको ठीक वैसा ही मानना और ठीक वैसा ही वाणी से उच्चारण करना तथा ऐसा भाषण करना कि जिससे सब भूतों का कल्याण हो सत्य कहलाता है। (३) अस्तेय—दूसरे की किसी वस्तु को—चाहे वह तृण के समान क्षुद्र क्यों न हो—हाथ न लगाना तथा मन, वाणी और शरीर से परद्रव्य की अभिलाषा न करना अस्तेय कहलाता है। (४) असंग—इसका अर्थ यह है कि किसी के साथ संसर्ग न होना। (५) ह्री—इसका अर्थ लज्जा है। साधारण लज्जा नहीं, किन्तु इस बात की लज्जा कि जीव स्वयं ब्रह्मरूप होकर देहादि अनात्म वस्तुओं में आसक्त हो गया है और इस प्रकार आत्मघात करने को प्रवृत्त हो गया है। (६) असंचय—अर्थात् वित्तादि पदार्थों का संग्रह न करना। द्रव्य-संचय करने से मनुष्य को बहुत दुःख भोगना पड़ता है, इसलिए ज्ञानी लोग द्रव्य का संग्रह नहीं करते। वे लोग सदा निष्किंचन और निष्परिग्रह अवस्था में रहते हैं। (७) आस्तिक्य—अपने गुरु, वेदान्त अथवा परमार्थ-सम्बन्धी जो उपदेश करें, उसमें किसी प्रकार का संदेह न मानना, किन्तु उसको सत्य मानकर पूरा विश्वास रखना और उसी के अनुसार आचरण तथा अभ्यास करना। (८) ब्रह्मचर्य—मैथुन के जो आठ प्रकार बताये गये

हैं, उनका त्याग करके अपने अन्तःकरण को सदा शुद्ध रखना ब्रह्मचर्य का मुख्य लक्षण है। मैथुन के आठ प्रकार ये हैं:—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।

दक्षसंहिता।

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए उक्त सब बातों से अलिप्त रहना चाहिए। (९) मौन—ग्राम्य-वार्तालाप अर्थात् नीच और वीभत्स भाषण का सर्वथा त्याग करना चाहिए। (१०) स्थैर्य—जब योगाभ्यास करते समय अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, तब उनसे भयभीत न होना, उनकी कुछ परवा न करना और अपने अभ्यास कार्य में लगे रहना ही स्थिरता का लक्षण है। इसी स्थिरता को धैर्य भी कहते हैं। इसका वर्णन भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है:—

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति॥

(११) क्षमा—दुर्जनों से ताड़ित, पीड़ित, अपमानित या निन्दित होने पर भी उसका बदला न लेना—उनको दुःख न देना, किन्तु स्वयं सब दुःख भोग कर उनकी भलाई ही की चिंता करना क्षमा का लक्षण है। ज्ञानी जनों के मत से शीतोष्ण, राग-द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वभावों को सह कर केवल निर्द्वंद्व स्थिति में रहना क्षमा का परम लक्षण है। (१२) अभय योगाभ्यास करते समय यह संदेह उत्पन्न होता है कि 'मेरा अभ्यास सफल होगा या नहीं? क्या और भी विघ्न उपस्थित होंगे?' इस प्रकार के संदेहों से जो भय मन में उत्पन्न होता है, उससे बचे रहने को अभय कहते हैं।

२ नियम

इस योग के ग्यारह भेद हैं; जैसे—

शौचं जपस्तपो होमं श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ —योगवासिष्ठ।

(१) शौच—अर्थात् शुद्धि को कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है। पहली बाह्यशुद्धि और दूसरी आंतरिक शुद्धि। मृत्तिका, जल इत्यादि से शरीर को शुद्धि करना बाह्यशौच कहलाता है और प्राणायामादि के द्वारा शरीरांतर्गत नाड़ियों की शुद्ध करके तथा देवताओं की उपासना करके मन की जो शुद्धि की जाती है, उसको आंतरिक शौच कहते हैं। (२) जप—गायत्री, प्रणव इत्यादि पवित्र मन्त्रों में से किसी एक मंत्र का उपदेश श्रीगुरुमुख से ग्रहण करके उसका आवर्तन करना तथा वेद और अध्यात्म-शास्त्र का अध्ययन करना जप कहलाता है। (३) तप—अर्थात् कृच्छ्र, चांद्रायण आदि कर्मों का श्रद्धा-युक्त अन्तःकरण से आचरण करना। (४) होम—अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों के द्वारा अग्नि की उपासना करना। (५) श्रद्धा—अपने गुरु के विषय में ईश्वर-भाव से श्रद्धा या विश्वास रखना। गुरु की योग्यता ईश्वर के तुल्य समझनी चाहिये। कहा है—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" अर्थात् जो मनुष्य ईश्वर की परम भक्ति करता है और जो यह मानता है कि गुरु में ईश्वर ही के समान परम शक्ति है उसको श्रद्धावान् कहते हैं। (६) आतिथ्य—अर्थात् श्रद्धा-पूर्वक अतिथि की पूजा और सत्कार करना। (७) अर्चन—अर्थात् ईश्वर का भजन, पूजन इत्यादि। (८) तीर्थाटन—चित्त की शुद्धि के लिए पवित्र तीर्थस्थानों में भ्रमण करना, वहाँ पवित्रोदक से स्नान करना और देवताओं का दर्शन-पूजन करना। (९) परार्थेहा—अर्थात् परोपकार करने तथा परहित सिद्ध करने के लिए सदा उत्सुक और तत्पर रहना। (१०) तुष्टि—यदृच्छा से जो कुछ मिल जाय उसी में आनंदित रहना या संतोष मानना तुष्टि का लक्षण है। (११) आचार्य-सेवन—एकाग्र मन से अपने गुरु का भजन करना; काया, वाचा और मन से अपने गुरु की सेवा करना और अपने सद्गुरु को संतुष्ट करके ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लेना ही आचार्य-सेवन कहलाता है।

३. आसन

आसन-जय अथवा आसन की सिद्धि को प्राणायाम का मुख्य

आधारस्तंभ समझना चाहिए । सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि अनेक प्रकार के आसन हैं । इन आसनों से अनेक लाभ होते हैं । सबसे बड़ा और प्रथम लाभ यह है कि शरीर में स्वभावतः उत्पन्न होनेवाले आलस्य का नाश हो जाता है । दूसरा लाभ यह है कि उपस्थ-बल का क्षय हो जाता है । लिंग-स्थान और गुदा-स्थान के बीच में जो एक सीवनसी है, उसमें एक ऐसी नाड़ी है, जिसके द्वारा सदा वीर्य का निर्गमन होकर उपस्थेन्द्रिय का बल बढ़ता रहता है । आसनों के द्वारा उस बल का क्षय हो जाता है । तीसरा लाभ यह है कि अनिल-निरोध-पटुता प्राप्त होती है—अर्थात् प्राण-वायु के निरोध करने की शक्ति प्राप्त होती है । आसन से अनूर्मिता नामक चौथा लाभ होता है—अर्थात् भूख, प्यास, राग, द्वेष, शीत, उष्ण आदि ऊर्मियों (लहरों) का दमन किया जाता है पवन-मंथरता पाँचवाँ लाभ है—अर्थात् आसनों की सहायता से प्राण-वायु की गति बहुत मंद हो जाती है । प्राणवायु की मंद गति प्राणायाम के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

आसन की सिद्धि से इस बात की परीक्षा की जाती है कि योगाभ्यास करनेवाला मनुष्य अपना अभ्यास किस प्रकार कर सकेगा । जो मनुष्य एक आसन पर नियत समय तक बैठ नहीं सकता, वह योग की कठिन क्रियाओं का अभ्यास कैसे कर सकेगा ? आसन-सिद्धि के लिए प्रथम शेषनाग को प्रणाम करना चाहिए । हठप्रदीपिका ज्योत्स्ना में लिखा है "अनन्तं प्रणमेद्देवं पीठसिद्धये ।" अस्तु । इस प्रकार जब आसन सिद्धि हो जाय, तब प्रणव का जप करके प्राणायाम का आरंभ करना चाहिए । पहले विद्यागुरु को नमन करना चाहिए और आधारादि षट् चक्रों में गणेशादि देवों की भावना करके उचित वर्णों की स्थापना करनी चाहिये । यह बात नीचे लिखे कोष्ठक से मालूम हो जायगी कि किस चक्र में किस देव की भावना की जाती है और वर्णमय देवों की स्थापना कैसे की जाती है:—

चक्र	देव	वर्ण
१ आधार	गणेश	व, श, ष, स।
२ लिंग	ब्रह्मा	ब, भ, म, य, र, ल।
३ नाभि	विष्णु	ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ।
४ हृदय	महादेव	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ,
५ कंठ	जीवात्मा	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।
६ आज्ञा	गुरु	ह, क्ष।

साधक पुरुष को उचित है कि वह मत्स्येन्द्रनाथादि योगियों को, विघ्न-विनाशक गणपति तथा महादेव को विनम्र-भाव से प्रणाम करके प्राणायाम का आरंभ करे।

४ प्राणायाम

इसमें पूरक, कुंभक और रेचक के द्वारा प्राण-वायु को रोकने-का अभ्यास किया जाता है। पूरक प्राणायाम में नासिका के दाहिने या बाएँ छेद से बाहर की वायु भीतर खींच ली जाती है। इसके बाद श्वासोच्छ्वास को बंद करके, शरीर के सब अवयवों को स्थिर रख कर प्राण वायु का जो संयम किया जाता है (अर्थात् भीतर खींची हुई वायु को भीतर ही कुछ समय तक रोक रखने का अभ्यास किया जाता है) इसको कुंभक प्राणायाम कहते हैं। यह प्राणायाम जितने अधिक समय तक किया जायगा, उतना ही योगाभ्यास के लिए वह अधिक सहायक होगा। इस प्राणायाम के द्वारा जो वायु भीतर रोक कर रक्खी गई थी, उसको बाहर छोड़ देना रेचक कहलाता है। जब नासिका के एक छेद से पूरक प्राणायाम किया जाय, तब दूसरे छेद से रेचक प्राणायाम करना पड़ता है अर्थात् जब इड़ा नामक नाड़ी से पूरक किया जाता है, तब पिंगला नामक नाड़ी से रेचक करना चाहिए। यदि पिंगला नाड़ी से पूरक किया जाय, तो इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए।

प्राणायाम की सिद्धि के लिए तीन प्रकार के 'बंध' करने पड़ते हैं, जिनको मूल-बंध, उड्डियान-बंध और जालंधर-बंध कहते हैं। इस बात का उल्लेख पहले किया गया है कि लिंग-स्थान और गुदास्थान के मध्य-भाग में एक प्रकार की सीयन है। उस सीयन को बाँए पाँव की एड़ी से दबा कर अधोगत अपान-वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करने से जब गुदा-द्वार का आकुंचन होता है तब मूल-बंध सिद्ध होता है। इस विषय में यह वचन प्रमाण है :—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोभिधीयते॥

—हठयोगप्रदीपिका।

जब रेचक-पूर्वक प्राण-वायु का प्राणायाम करते समय अपना पेट पीठ की ओर आकर्षित किया जाता है और नाभि-स्थान किंचित् ऊपर की ओर खींच लिया जाता है, तब उड्डियान-बंध सिद्ध होता है। इसके लिए यह प्रमाण है—

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डियानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी॥

—हठयोगप्रदीपिका।

जब अपने कंठ अर्थात् गले को संकुचित करके ठुड्डी हृदय स्थान पर स्थिरता पूर्वक टिका दी जाती है, तब जालंधर-बंध सिद्ध होता है। जैसे,

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बंधो जालंधराख्योयं जरामृत्युविनाशकः॥

—हठयोगप्रदीपिका।

इन तीनों बंधों में से मूल-बंध का उपयोग पूरक प्राणायाम के समय, जालंधर-बंध का उपयोग कुंभक-प्राणायाम के समय और उड्डियान-बंध का उपयोग रेचक-प्राणायाम के समय किया जाना चाहिए।

इस प्रकार बंधत्रय-युक्त प्राणायाम से कुंडलिनी नामक नाड़ी जाग्रत होती है। जब मूल-बंध किया जाता है, तब अपान-वायु का ऊपर की ओर आकर्षण होता है और जब जालंधर-बंध किया जाता है, तब

प्राण-वायु का नीचे की ओर आकर्षण होता है—इसका परिणाम यह होता है कि प्राण-वायु तथा अपान-वायु की एकता हो जाती है और जठरानल इतना प्रदीप्त हो जाता है कि उसमें साक्षात् अग्नि के समान उष्णता उत्पन्न होती है। इसी उष्णता से कुंडलिनी का उत्थान होता है और सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुल जाता है। सुषुम्ना नाड़ी में जब प्राण-वायु का प्रवेश होने लगता है, तब शरीरान्तर्गत सब प्राण-वायु एकत्र होकर ब्रह्मरंध्र तक चली जाती है। उसी समय समाधि अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार के प्राणायाम ही को श्रीमद्भगवद्गीता में 'यज्ञ' कहा है :—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

प्राणायाम के अभ्यास से अनेक लाभ होते हैं। इस बात की ओर ध्यान न देने के कारण वर्तमान समय में आर्य-सन्तानों के सामर्थ्य की बहुत हानि हुई है। अतएव यहाँ इस विषय की कुछ अधिक चर्चा करना आवश्यक जान पड़ता है। प्राणायाम से प्रथम लाभ यह होता है कि शारीरिक सब नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है। हम जो अन्न खाते और जल पीते हैं, उसका उद्देश यही है कि उस अन्न और जल से ऐसे रस और वायु (गैस) उत्पन्न हों, जो शारीरिक स्वास्थ्य तथा पुष्टि के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। परंतु जब यह अन्न और जल पेट में अपक्व रह जाता है, तब उनसे ऐसे रस और वायु (गैस) उत्पन्न होते हैं, जो शारीरिक स्वास्थ्य और पुष्टि के लिए अत्यंत प्रतिकूल तथा हानिकारक हैं। इस प्रकार के मलिन, प्रतिकूल तथा हानिकारक रस और वायु की उत्पत्ति से शरीरांतर्गत शुद्ध प्राण-वायु की स्वास्थ्यकारक गति में रुकावट हो जाती है। ऐसे दुष्ट रस और वायु का प्राणायाम के योग से नाश किया जा सकता है। कपिलगीता में लिखा है कि जल-स्नान से शरीर की सिर्फ बाहरी मलीनता दूर होती है। परंतु शरीर के भीतर की मलिनता का नाश करने के लिए प्राणायाम-रूप आंतरिक स्नान ही करना चाहिए।

प्राणायाम से लाभ यह होता है कि जठरानल की उन्नति होती है। इस बात का उल्लेख पहले किया गया है कि जब मूलबंध तथा जालंधर-बंध द्वारा प्राण-वायु और अपान-वायु की एकता की जाती है, तब जठराग्नि बहुत प्रदीप्त हो जाती है। योगीजनों के और साधारण लोगों के भोजन करने की रीति में बहुत भेद है। वे लोग भोजन के समय साधारण मनुष्यों की नांई प्रत्येक व्यञ्जन की रुचि और स्वाद की ओर ध्यान नहीं देते, किन्तु प्राणों की रक्षा के लिए अपने जठरानल में सब व्यञ्जनों की आहुति एकदम डाल देते हैं, उनका जठरानल अत्यंत प्रदीप्त रहता है, इसलिए वह सब अन्न को तुरंत ही पचा डालता है। जठरानल की उन्नति अथवा प्रदीप्ति के अनेक चमत्कार योगियों के समाज में देखे गये हैं। अस्तु।

प्राणायाम से अन्न-दोषापचय नामक तीसरा लाभ होता है। जब शरीर में अशुद्ध मल, रस या वायु की उत्पत्ति होती है, तब स्वाभाविक रीति से अन्न अर्थात इंद्रियों में भी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों का नाश बंध युक्त प्राणायाम के द्वारा सहज ही किया जा सकता है। जिस प्रकार सुवर्णादि धातुओं की मलिनता अग्नि के संयोग से नष्ट की जाती है, उसी प्रकार इंद्रिय जन्य दोषों का क्षय प्राणायाम के अभ्यास से किया जाता है। अमृतबिंदु उपनिषद् में लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दाह्यन्ते धमनान्मलः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥

प्राणायाम से अंगलाघव नामक चौथा लाभ है। कहते हैं कि जो लोग शिकार अच्छी तरह खेलते हैं, उनके शरीर की मेदा का नाश हो जाता है, उदर कृश हो जाता है और शरीर बहुत हलका हो जाता है। उन लोगों में फुरतीलापन (चपलता) बहुत रहता है। इसी तरह प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में लघुता अर्थात् हलकापन आ जाता है और शरीर सदा निरोगी तथा अपने अधीन रहता है। इसी को अंगलाघव कहते हैं। इसके सिवाय एक और लाभ होता है। स्वभावतः इंद्रियों की प्रवृत्ति विषय की ओर होती है—प्राणायाम के द्वारा इस

स्वाभाविक प्रवृत्ति का प्रतिबंध होता है और जब सुषुम्ना नाड़ी के द्वार के जाने से प्राण-वायु का प्रवेश उसमें होने लगता है, तब एक प्रकार की अद्भुत शक्ति का बोध होता है। यह पाँचवाँ लाभ है। प्राणायाम से बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि धारणा नामक योगांग के साधन करने की योग्यता प्राप्त होती है। जब तक प्राणायाम की सिद्धि नहीं होती, तब तक धारणा-योग का अभ्यास नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि रजोगुण और तमोगुण के कारण शरीर में जो मलिनता का संचय हो जाता है, उसको प्राणायाम के अभ्यास द्वारा नष्ट करने से मन की स्थिति धारणा के योग्य हो सकती है। अतएव यह प्राणायाम का अंतिम और महत्त्व का लाभ है।

योगाभ्यास के महत्त्व के विषय में प्राचीन ग्रंथों में बहुत वर्णन किया गया है। पातंजल-सूत्रों से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि प्राचीन समय में इस विषय की ओर कितना ध्यान दिया जाता था। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य को योगाभ्यास का कुछ अनुभव अवश्य करना चाहिये। इसका कारण यह है कि मनुष्य की दिनचर्या तथा शरीर के साथ इस विषय का अतिनिकट संबंध है। जब मनुष्य की आधी आयु व्यतीत हो जाती है, तब उसका शरीर वात-बद्ध होने लगता है और तोंद बढ़ने लगती है। ऐसा न होने देने के लिए योगाभ्यास-रूप नियमित व्यायाम बहुत उपयोगी है। यह बात सब लोगों को विदित है कि नियमित व्यायाम से शरीर वात-बद्ध होने नहीं पाता। व्यायाम का मुख्य तत्त्व यही है कि नाभि के समीप का भाग, जिसको योगशास्त्र में मणिपूर प्रदेश कहते हैं, पीछे की ओर जितना आकर्षित किया जा सके, उतना करना चाहिए। यद्यपि व्यायाम के समय नाभि के समीप का भाग पीछे की ओर आकर्षित हो जाता है तथापि व्यायाम के अनंतर जब मनुष्य स्वस्थ बैठा रहता है और किसी प्रकार की हलचल नहीं करता, तब पेट का भाग सामने की ओर प्रसृत होने लगता है और तोंद बढ़ जाती है। अतएव जैसे व्यायाम के समय पेट का भाग भीतर की ओर खिंचा रहता है, वैसा ही उसको सदा रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस

अभ्यास से शरीर की स्थूलता नष्ट हो जाती है और वह बहुत हलका होकर सदा हमारे अधीन बना रहता है। यही परिणाम प्राणायाम से भी होता है। बन्ध-युक्त प्राणायाम से शरीर की सब नाड़ियों को शुद्धि हो जाती है और स्थूलता का नाश होकर उसमें हलकापन आ जाता है।

यह बात हमारे इतिहास और पुराण ग्रन्थों से सिद्ध है कि प्राचीन समय के आर्य-लोग योगाभ्यास के कारण सदा निरोगी, दीर्घायु होते थे। योगविद्या का ह्रास हो जाने से वर्तमान समय में हम लोगों की शारीरिक दशा कैसी शोचनीय हो गई है, सो भी सब लोगों को विदित है। शरीर-रक्षा का मुख्य आधार-स्तंभ प्राणवायु ही है। प्राचीन समय के आर्य-लोग इस प्राण-वायु को अपनी अधीनता में रखने की ओर विशेष ध्यान दिया करते थे, इसलिए वे नियमित आहार-विहार तथा एकांत-वास का अवलम्ब करके सदा प्राण-दमन का अभ्यास किया करते थे। नियमित भोजन का यह नियम है कि पेट का चौथा भाग खाली रहना चाहिए। इस विषय में सहदेव का कहावत रूप यह मत सुप्रसिद्ध है—"भूखा राखे चौथा कोन।" हठयोगप्रदीपिका ज्योत्स्ना में भी लिखा है कि—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥

अर्थात् पेट के दो भाग अन्न से और एक भाग जल से भर कर चौथे भाग को वायु-संचारार्थ खाली रहने देना चाहिए।

प्राचीन आर्यों की महत्त्वकांक्षा अमर्यादित थी। योगशास्त्र के सिद्धान्तों की ओर ध्यान देने से यह जान पड़ता है कि वे लोग इस देह को जरा, व्याधि और मृत्यु से मुक्त करने का बहुत यत्न किया करते थे। यह मानवी-जीवन शुक्र, धातु अथवा वीर्य पर अवलम्बित है और यह शुक्र, चित्त पर अवलम्बित है। अतएव उन लोगों का ध्यान सदा ऐसे प्रयत्नों की ओर लगा रहता था कि जिनके अवलम्ब से शुक्र और चित्त की यथोचित रक्षा की जा सके। मन की स्थिरता से प्राण-वायु की

स्थिरता प्राप्त होती है, प्राण-वायु की स्थिरता से बिन्दु की स्थिरता प्राप्त होती है और बिन्दु की स्थिरता से शरीर में ऐसा अद्भुत तेज या बल उत्पन्न होता है कि जिससे यह शरीर ही सदा के लिए स्थिर हो जाता है— तब मनुष्य को अपने जीवन के विषय में न संशय रहता है और न उसके मन में मृत्यु का भय रहता है। इस विषय का वर्णन 'अमरत्व' नामक प्रकरण में आगे चलकर और भी किया गया है।

अब यह देखिए कि इस समय हमारे देश-बन्धुओं की क्या दशा है। इस विषय में विस्तार-पूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यह बात सब लोगों को विदित है कि हमारी धार्मिक अवस्था संतोष-दायक नहीं है। नियत समय पर स्नान करने की कोई भी परवा नहीं करते। कोई कोई तो भोजन के अनंतर स्नान करते हैं और कोई कोई दो-दो चार-चार दिनों तक स्नान ही नहीं करते! जब बाह्य शुद्धि का यह हाल है, तब आंतरिक शुद्धि की परवा कौन करता है। सन्ध्यावन्दन और प्राणायाम का प्रायः अभावसा हो गया है। आहार-विहार में भी कोई नियम देख नहीं पड़ता। सबेरे पलंग पर से उठते ही कलेवा या जलपान—चाय काफी या बिस्कुट—इत्यादि का प्रबन्ध पहले किया जाता है! जो समय स्नान, संध्या, पूजा, प्रार्थना आदि उपासना के लिए नियत है, वह समय पेट-पूजा और इधर उधर की गप्पों में व्यतीत किया जाता है। कलश और कमंडलु के स्थान में अब चीनी मिट्टी के प्याले तथा टीन और काँच के बरतन देख पड़ते हैं! दिल बहलाव के लिए नाटक या नाच में रातभर जागरण करके निद्रा का नाश किया जाता है; परंतु जब किसी महत्त्व के विषय की चर्चा की जाती है, तब नींद आ घेरती है! वीर्य की रक्षा करने की ओर कुछ भी ध्यान दिया नहीं जाता। ऐसी कठिन दशा में उदर-निर्वाह के लिए विदेशी भाषा और विद्या का असह्य बोझ सिर पर उठाना पड़ता है। इससे शारीरिक स्वास्थ्य की हानि हो जाती है। यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि वर्तमान समय में हमारे विद्वान् और शिक्षित भाई अल्प अवस्था ही में परलोक को सिधारने लगते हैं! कुछ लोगों ने तो अपने

शरीर को पुष्ट करने के लिए मांसादि त्याज्य वस्तुओं का स्वीकार किया है। परंतु खेद की बात है कि इससे भी शिक्षित विद्वानों की अल्प अवस्था की मृत्यु संख्या किसी प्रकार घटी नहीं! उन लोगों के शारीरिक स्वास्थ्य में भी किसी प्रकार का हितदायक परिवर्तन नहीं हुआ और अब तो पश्चिमी लोग भी इस बात को मानने लगे हैं कि हिंदुओं की शाकाहार पद्धति अत्यन्त शुद्ध और कल्याणकारक है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए प्राचीन योगशास्त्र की पद्धति ही से विचार करना और और उसी शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करना श्रेयस्कर तथा लाभदायक होगा। अतएव प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह अपने आहार-विहार इत्यादि सब कार्यों को नियमित करके प्राणायाम का अभ्यास करे और उससे अपना हित संपादन कर ले। जरा, रोग इत्यादि की निवृत्ति तथा शरीर की पुष्टि के लिए प्राणायाम का अभ्यास बहुत उपयोगी है।

५ प्रत्याहार

यह योग का पाँचवाँ अंग है। यहाँ से लेकर समाधि तक जिन चार अंगों का वर्णन किया जायगा, उससे पाठकों को प्राचीन आर्य-धर्म की उज्ज्वलता का कुछ परिचय निस्सन्देह हो जायगा। किसी विद्वान् पुरुष का कथन है कि यदि सर्वोत्तम व्यवहार-निपुणता का नमूना देखना चाहो, तो वह अँगरेज लोगों में मिलेगा और यदि धर्म-सम्बन्धी उच्च विचार तथा साक्षात् ईश्वर-स्वरूप की प्राप्ति की योग्यता ढूँढ़ना चाहो, तो प्राचीन सनातन वैदिक-धर्म की ओर देखना चाहिए। यह बात सत्य है, इसकी प्रतीति पाठकों को अब शीघ्र ही हो जायगी।

जब प्राणायाम का अभ्यास दृढ़ हो जाय, इंद्रियों के दोष नष्ट हो जायँ और कुंडलिनी नाड़ी के उद्बोध से मन धारणा करने के योग्य हो जाय, तब प्रत्याहार का आरंभ करना चाहिए। अब यह जानना चाहिए कि प्रत्याहार किसे कहते हैं। नेत्र, जिह्वा आदि पंचेन्द्रियाँ रूप, रस इत्यादि पाँच विषयों की ओर स्वभावतः आकृष्ट हुआ करती हैं; इस स्वाभाविक आकर्षण को रोकना—अर्थात् अपने अंतःकरण में विषयों

के संबंध में सदा अनासक्ति उत्पन्न करके उनकी ओर दोष-दृष्टि से देखना और इन्द्रियों को अपने चित्त के अनुकूल करना—प्रत्याहार कहलाता है। याज्ञवल्क्य संहिता में लिखा है:—

इंद्रियाणां विचारतां विषयेषु स्वभावतः।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥

इन्द्रियों की विषय-निवृत्ति विवेक से हो जाती है; परन्तु विवेकबल के लिए विषयों के संबंध में दोष-दृष्टि होनी चाहिए। इस दोष-दृष्टि ही को वैराग्य कहते हैं। इसके बिना विषयों का परित्याग हो नहीं सकता। यह दोष-दृष्टि बहुत समय तक स्थिर रहनी चाहिए। क्षणिक दोष-दृष्टि से कुछ लाभ नहीं होता। इससे प्रत्याहार का कार्य हो नहीं सकता। यह बात सब लोगों को विदित है कि मनुष्य को विषयों के सम्बन्ध में कभी कभी विरागता आ जाती है, जैसे आकण्ठ मिष्टान्न भोजन करने के बाद या किसी आप्त-जन की मृत्यु के बाद श्मशान में जाने के समय या स्त्री-संभोग के अनन्तर। परन्तु यह वैराग्य-बुद्धि चिरस्थायी नहीं होती। यदि यही वैराग्य चिरस्थायी हो जाय, तो संसार के बंधन से कौन मुक्त न होगा? हमारे सनातन वैदिक-धर्म का यही यत्न है कि मनुष्य के अंतःकरण में विषयों के सम्बन्ध में दोष-दृष्टि सदा जागृत रहे। इसी लिए योगवासिष्ठ में कहा है:—

कुरंगालिपतंगेभमीनास्त्वेकैकशो हताः।
सर्वैर्युक्तैरनर्थैस्तु व्याप्तस्याज्ञ कुतः सुखम्॥

अर्थात् हिरन, गीत से मुग्ध होकर मारा जाता है, भ्रमर सुगंध में निमग्न हो जाने के कारण कमल में फँस जाता है, पतंग रूप से मोहित होकर दीपक की ज्योति में नष्ट हो जाता है, हाथी, स्पर्श के अधीन होने के कारण पकड़ा जाता है और मछली, रस से लुब्ध होकर अपने प्राण का नाश कर लेती है। यदि एक ही एक विषय के अधीन होने के कारण उक्त जीवों की यह दुर्दशा हो जाती है, तो पंच विषय-रूप अनर्थों से घिरे हुए मनुष्य को सुख की प्राप्ति क्यों कर हो सकती है? तात्पर्य यह है कि सुख-प्राप्ति के लिए विषयाकर्षित इन्द्रियों को अपने अधीन रखकर

चित्त को सदा स्थिर और शांत रखना चाहिए—अर्थात् प्रत्याहार का अभ्यास करते रहना चाहिए।

प्रत्याहार का दूसरा प्रकार यह है—ऐसी भावना करनी चाहिए कि मन, इन्द्रियाँ और विषय सब आत्मस्वरूप ही हैं। इस विषय में अमृत-बिंदु उपनिषद् में लिखा है:—

शब्दादिविषयाः पंच मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिंतयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात् प्रत्याहार में इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि शब्दादि पाँच विषय और उनको ग्रहण करनेवाली इंद्रियाँ तथा मन ये सब आत्मस्वरूप सूर्य की किरण हैं। इस चराचर सृष्टि में जो कुछ है, उसकी ओर आत्म-भाव से देखना ही प्रत्याहार कहलाता है। गोरखनाथ का कथन है कि जो प्रिय अथवा अप्रिय शब्द श्रवणेन्द्रिय से सुना जाता है, उसको आत्म-स्वरूप ही जानना चाहिए। जो जो पदार्थ त्वगेन्द्रिय को कोमल अथवा कठोर मालूम होता है, जो सुरूप अथवा कुरूप पदार्थ नेत्रों से देखा जाता है, जो मधुर अथवा कटु रस जिह्वेन्द्रिय से चखा जाता है और जो सुगंध या दुर्गन्ध घ्राणेन्द्रिय से सूँघा जाता है, उसको आत्म-स्वरूप जानकर योगी को प्रत्याहार करना चाहिए। जैसे कछुवा अपने हस्त-पादादि अवयवों को अपने भीतर सिकोड़ लेता है, वैसे ही योगी को श्रोत्रादि सब इन्द्रियों तथा उनके विषयों और मन को आत्म-स्वरूप में लीन कर देना चाहिए। इसी को प्रत्याहार कहते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के प्रत्याहार राजयोग के सम्बन्ध में बताये गये हैं। हठयोग में भिन्न प्रकार का प्रत्याहार बताया गया है। मनुष्य के शरीर में पचीस मर्म-स्थान हैं—जैसे ब्रह्मरंध्र, ललाट, भृकुटि-मध्य-प्रदेश, नेत्र-मंडल, नासिका-मूल-प्रदेश, तालु, कंठ, हृदय, नाभि इत्यादि। अंगुष्ठ-स्थान से आरंभ करके, क्रमशः एक मर्म-स्थान से दूसरे मर्म-स्थान में होते हुए, ब्रह्मरंध्र तक प्राण-वायु को धारण करना और फिर उस प्राण-वायु को ब्रह्मरंध्र से नीचे उतार कर प्रत्येक मर्म-स्थान में स्थापित

करना हठयोग का प्रत्याहार कहलाता है।

यहाँ तक प्रत्याहार के तीन भेदों और उनके लक्षणों का वर्णन किया गया। अब यह देखना चाहिए कि प्रत्याहार से क्या लाभ होता। प्रथम लाभ को सुर-प्रसाद अर्थात् ईश्वरी साक्षात्कार कहते हैं। जो लोग प्रत्याहार के द्वारा अपनी इन्द्रियों को विषयों से पराङ्मुख करते हैं, उनसे ईश्वर प्रसन्न होता है। जो लोग सदा इंद्रियों के अधीन बने रहते हैं, उन पर ईश्वर की कृपा कदापि नहीं होती। दूसरा लाभ यह है कि प्रत्याहार करने से मन सदा सुप्रसन्न रहता है। जितेन्द्रिय पुरुष सदा प्रसन्न-चित्त होते हैं; परन्तु जो लोग इन्द्रियों के अधीन होते हैं, वे कभी प्रसन्न-चित्त नहीं रहते; क्योंकि जब इन्द्रियाँ विषयासक्त होती हैं, तब स्वभावतः मनुष्य की प्रवृत्ति विषयोपभोग ही की ओर हुआ करती है। ऐसी अवस्था में मन सदा चिन्तायुक्त और दुखी बना रहता है। प्रत्याहार से तीसरा लाभ यह होता है कि तप की वृद्धि होती है। तपःप्रवृद्धि को सनातन वैदिक-धर्म का आधार-स्तंभ जानना चाहिए। इसी के आधार पर सब आचार-विचार स्थापित किये गये हैं। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों का निग्रह करता है, उसी को जितेन्द्रिय कहते हैं। उसके तप की वृद्धि दिन प्रतिदिन होती जाती है। इन्द्रिय-निग्रह ही परम तप है:—

मनसश्चेंद्रियाणां च निग्रहः परम तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥

—स्मृति।

अर्थात् मन और इन्द्रियों को विषयों से परावृत्त करना ही परम तप कहलाता है। सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म यही है। जितेन्द्रिय मनुष्य जो कुछ तपादि क्रिया करता है, वह सब यथोक्त फलदायक होती है। यह तत्त्व अत्यन्त महत्त्व का है; क्योंकि इसका सम्बन्ध समाज में प्रचलित अनेक रूढ़ियों के साथ लगा हुआ है। उदाहरणार्थ, विवाह की पद्धति लीजिए। वेदकाल से लेकर इस समय तक जितने सर्वमान्य ग्रन्थ विवाह-पद्धति के निर्णायक हुए हैं, उनके भावार्थ की ओर देखने से यही बोध होता है कि विवाह-पद्धति के द्वारा इन्द्रिय-निग्रह की सिद्धि ही की ओर विशेष

ध्यान दिया गया है।

प्रत्याहार का चौथा लाभ दैन्य-संक्षय है। जितेन्द्रिय पुरुषों में दीनता का नाम तक नहीं रहता। वे लोग किसी राजा, महाराजा या धनिक की परवा नहीं करते। सच है, जिसने स्वार्थ को जीत लिया है, उसमें दीनता क्यों कर रह सकती है। प्रत्याहार से द्रुतप्रवेश नाम का पाँचवाँ लाभ है, जिससे धारणा, ध्यान और समाधि में शीघ्रता से प्रवेश हो जाता है। प्रत्याहार की सिद्धि होते ही साधक पुरुष योगाभ्यास के उक्त अंगों में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है। इसलिए अब योग के छठे अंग का वर्णन किया जायगा।

६ धारणा

धारणा से लेकर समाधि तक योग के जो तीन अंग हैं, उनको संयम कहते हैं। सनातन वैदिक-धर्म के अनुसार शरीर अनेक देवों और तीर्थों का निवास-स्थान है। योगी के शरीर में पृथ्वी, पर्वत, ऋषि, तारा, तीर्थ, देव, देवालय आदि सब कुछ हैं। इस विषय में उपनिषद् में लिखा है—"यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वावेदविदि ब्राह्मणे निवसंति।" अर्थात् जितने देव हैं, वे सब वेदज्ञ ब्राह्मण में रहते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि का मुख्य तत्त्व यह है कि शरीर के अनेक चक्र-स्थानों में, कमल-स्थानों में और मर्म-स्थानों में जिन जिन देवों की भावना की जाती है, वे देव सुप्रसन्न हो जाते हैं और इस प्रकार की सिद्धि से योगीजन उन देवताओं की आराधना ही में निमग्न रहते हैं। धारणा के विषय में भगवद्गीता में कहा है:—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत॥

अर्थात् आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिक विषयों में से इस चंचल मन को बल-पूर्वक हटा कर केवल आत्म-स्वरूप में लीन करना धारणा कहलाती है। यदि एक बार आत्म-स्वरूप में स्थिर किया हुआ मन, फिर भी विषयों की ओर दौड़ने लगे तो उसका बल-पूर्वक निग्रह करना और उसको फिर से धारणा-प्रदेश में स्थिर रखना बहुत

धीरज और साहस का काम है। यह बात निरंतर अभ्यास करते रहने ही से सिद्ध हो सकती है। यदि इस यत्न में पहले पहल सफलता प्राप्त न हो तो भी खेद न मानना चाहिए; किन्तु उत्साह-पूर्वक बार-बार मनोनिग्रह करके धारणा में स्थिर रहने का अभ्यास करनेवाले साधक जनों को पुराणों में वर्णित टिट्टिभ पक्षी की कथा से शिक्षा लेनी चाहिए। किसी टिट्टिभ पक्षी के अंडे समुद्र ले गया। तब उस जाति के सब पक्षी एकत्र होकर अपनी चोंच से समुद्र का जल खींचकर उसको सुखाने का यत्न निश्चय कर वे वैकुंठ-धाम को गये और वहाँ जाकर गरुड़जी से सब हाल कहा। गरुड़जी समुद्र के पास आकर अपने पंखों से सब जल सुखाने लगे। यह धीरज और साहस देखते ही समुद्र ने टिट्टिभ पक्षी के अंडे लौटा दिये। इस पौराणिक कथा से योगाभ्यास करनेवाले साधक-जन किस प्रकार शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं सो देखिए। टिट्टिभ पक्षी को साधक पुरुष जानिए। समुद्र को सुखाने का यत्न मानो उस साधक का मनोनिग्रह है। नारदमुनि को उस साधक की आंतरिक श्रद्धा या भक्ति और गरुड़ को ईश्वर समझना चाहिए। उक्त रूपक से यह बात सिद्ध होती है कि यदि साधक पुरुष अपने अभ्यास या प्रयत्न में निराश न हो; किन्तु निरंतर अभ्यास ही में लगा रहे, तो उसकी आंतरिक श्रद्धा या भक्ति इतना बढ़ जायगी कि प्रत्यक्ष ईश्वर भी प्रसन्न होकर उसकी सहायता करेगा। तात्पर्य यह है कि साधक पुरुष को निराश न होते हुए सदा अपने अनुसंधान ही में लगा रहना चाहिए। यह धारणा-योग तलवार की धार पर खड़ा रहने के समान अत्यन्त कठिन है, इसलिए साधक पुरुष को बार-बार यत्न करके अपने चंचल चित्त को सदा धारणा-प्रदेश में स्थिर रखने का अभ्यास करते रहना चाहिए।

योगशास्त्र में यह बात अनेक चमत्कृति-जनक उदाहरणों से समझा दी गई है कि धारणा-प्रयोग के समय योगी का मन किस प्रकार एकाग्र होना चाहिए। जब कोई मनुष्य तेल से लबालब भरा हुआ बरतन अपने हाथ में लेकर सीढ़ी पर चढ़ने लगता है, तब उसको अपना मन इस बात के लिए बहुत एकाग्र करना पड़ता है कि कहीं बरतन हिल न जाय

ौर उसमें का तेल गिर न पड़े—उसका सब ध्यान, सब चित्त, उस
तन ही की ओर लगा रहता है। ठीक इसी तरह योगी पुरुष अपने
न को धारणा-प्रदेश में एकाग्रता से स्थिर करके समाधि-सोपान पर
ारोहण करने का यत्न करता है। धारणा-योग में इस भावना का
शेष अभ्यास करना पड़ता है कि यह शरीर केवल पंचभूतात्मक है—
र्थात् इसी भावना के अनुसार योगी को अपने शरीर के भिन्न-भिन्न
वयवों में भिन्न-भिन्न तत्त्वों की स्थापना करनी पड़ती है। शरीर में
ंचभूतों का विभाग इस प्रकार किया जाता है—(१) पैर से लेकर
ुटने तक पृथ्वी-तत्त्व; (२) घुटने से नाभी तक जल-तत्त्व; (३) नाभी
से हृदय तक तेज या अग्नितत्त्व; (४) हृदय से भ्रूमध्य तक वायु-तत्त्व;
और (५) भ्रूमध्य से शिखा तक आकाश-तत्त्व। इस प्रकार पंचभूतों
के विभाग की कल्पना या भावना स्थिर करके योगीजन अपने शरीर में
मानो एक नया जगत् ही निर्माण करते हैं। उक्त पाँच तत्त्वों में जिन
देवताओं की स्थापना करनी पड़ती है, उनका वर्णन यह है:—पृथ्वी-
तत्त्व में सृष्टि की उत्पत्ति करनेवाले चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए;
जल-तत्त्व में पीतांबरधारी नारायण का भजन करना चाहिए; अग्नि-
तत्त्व में त्रिलोचन महारुद्र की उपासना करनी चाहिए; वायु तत्त्व में
सर्वशक्तिमान् ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए और आकाश-तत्त्व में उस
महादेव का ध्यान करना चाहिए जो शुद्ध स्फटिक के समान गौरवर्ण हैं।

७ ध्यान

यह योगाभ्यास का सातवाँ अंग है। इसको समाधि का केवल द्वार
ही कहना चाहिए। अन्य वृत्तियों का आश्रय न करके अपने चित्त को
तेल की धार के समान अखंडित स्थिति में रखना ध्यान कहलाता है।
"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—" इस पातंजल-सूत्र का भी यही भावार्थ
है। ध्यान के मुख्य दो भेद हैं—एक सगुण और दूसरा निर्गुण। सगुण
ध्यान के पाँच भेद किये गये हैं, जैसे विष्णु-ध्यान, अग्नि-ध्यान,
सूर्य-ध्यान, भ्रू-ध्यान, और पुरुष-ध्यान। इसमें से प्रथम विष्णु-ध्यान
का वर्णन यह है—चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्म-किरीट-केयूर-धारी,

कमल-नयन, श्रीवत्साङ्कित-हृदय साक्षात् विष्णु की मूर्ति का ध्यान करके यह भावना करनी चाहिए कि मैं स्वयं विष्णु-रूप हूँ। यह ध्यान वैष्णवों के लिए कहा गया है। जो लोग शैव हैं उनको शंकर का ध्यान करना चाहिए। दूसरा अग्नि-ध्यान—नारायणोपनिषद् में परमात्मा के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है उसी के अनुसार यह ध्यान होना चाहिए, जैसे—

नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा।
नीवारशूकवत्तन्वी सैषा भास्वत्यणूपमा॥
तस्याः शिखाया मध्येतु परमात्मा व्यवस्थितः।

दीपक की स्थिर और शान्त ज्योति में परमात्म-स्वरूप की भावना करके जो ध्यान किया जाता है, उसको अग्नि ध्यान कहते हैं। जो वैश्वानर अर्थात् अग्नि या तेज नील वर्ण मेघों में बिजली के समान चमकता है और जो नीवार नामक तृण के अग्र भाग के समान केवल अणु-रूप है, वह स्वयं मैं ही हूँ ऐसी भावना करना अग्नि-ध्यान कहलाता है। तीसरा सूर्य-ध्यान—जब हृदय में यह भावना की जाती है कि सारे जगत् को प्रकाशित करनेवाला और सब लोकों का साक्षी सुवर्णमय भगवान् सूर्य मैं ही हूँ, तब उसको सूर्य-ध्यान कहते हैं। चौथा भ्रू-ध्यान—प्रकाशमय परमात्मा के तेजोबिम्ब का अपने भ्रूमध्य-स्थान में चिन्तन करके यह भावना करना कि मैं वही बिम्ब-स्वरूप हूँ, भ्रू ध्यान कहलाता है। पाँचवाँ पुरुषध्यान—जिनके शरीर पर चन्द्र-मण्डल से नीचे गिरनेवाली अमृत-धारा का सिंचन हो रहा है और जिसका शरीर अत्यन्त पुष्ट तथा तेजोमय है, उस पुरुष का चिन्तन अपने हृदय में करके यह भावना करता कि मैं ही वह पुरुष हूँ, पुरुषध्यान कहलाता है।

निर्गुण ध्यान के विषय में योगशास्त्र में यह लिखा है कि जो सच्चिदानन्द रूप परमात्मा एक, अद्वितीय, ज्योतिर्मय, आदि-मध्यान्त-रहित अरूप, अरस, अगन्ध, अमूर्त, सर्व-जगद्रूप और सब में अन्तर्बाह्य व्याप्त है, वही ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ, इस प्रकार की जो भावना की जाती है, उसको निर्गुण ध्यान कहते हैं।

ध्यानयोग के और भी अनेक भेद हैं। ऊपर केवल मुख्य-मुख्य भेदों का वर्णन किया है। यदि उक्त प्रकार से ध्यान-योग का अभ्यास किया जायगा तो इसमें सन्देह नहीं कि पर्वत के समान भी बड़े-बड़े पापों का नाश हो जायगा। पापों का क्षय होते ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, रजो गुण और तमोगुण का लोप हो जाता है और केवल शुद्ध सत्वगुण शेष रह जाता है। उसी अवस्था में आत्म-साक्षात्कार का अनुभव होने लगता है। ध्यान-बिन्दु उपनिषद् में लिखा है:—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत्॥

अर्थात् जब दो लकड़ियों का परस्पर घर्षण होता है, तब उनमें से अग्नि की उत्पत्ति होती है; इसी तरह जब अपनी देह में मन-रूप एक लकड़ी का प्रवण-रूप दूसरी लकड़ी के साथ घर्षण अथवा ध्यान-रूप मंथन किया जाता है, तब परम ज्योति-रूप ईश्वर का साक्षात्कार करने योग्य ध्यान की दृढ़ता हो जाती है; तब मोक्ष का द्वार आप ही आप खुल जाता है।

ध्यान-धारणा की महिमा के संबंध में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उसमें संदेह नहीं कि विषय-सुख में निमग्न रहनेवाले पुरुष भी ध्यान-धारणा के योग से साक्षात्कार लाभ करके सन्मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस विषय में श्री एकनाथ और विश्वंभर बाबा की कथा का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। विश्वंभर बाबा अपनी पूर्वावस्था में बड़े स्त्री-लंपट थे। वे श्री एकनाथ के समान भगवद्भक्त साधुओं की सदा निंदा किया करते थे। एक दिन अचानक दोनों की भेंट हुई। श्री एकनाथ ने विश्वंभर बाबा से पूछा कि आप इस दुनिया में किस वस्तु को सब से अधिक विलोकनीय, सुंदर और मोहक समझते हो। इस पर विश्वंभर बाबा ने उस स्त्री का नाम बताया जिस पर वे मोहित थे। तब एकनाथ ने उस स्त्री की सुन्दरता का वर्णन करने को कहा। विश्वंभर बाबा वर्णन करने लगे; परन्तु जब वे उस स्त्री की सुन्दरता का यथोचित वर्णन कर न सके, तब एकनाथ ने उनसे कहा

कि आप उस स्त्री के पास जाकर उसकी सुन्दरता का निरीक्षण करके यहाँ लौट आइए और तब वर्णन कीजिए। उन्होंने ऐसा ही किया। उस पर भी वे उस स्त्री की सुन्दरता का यथोचित वर्णन कर न सके। तब एकनाथ ने फिर उनको उस स्त्री के पास भेजा। इस प्रकार छः महीने तक वे प्रतिदिन उस स्त्री के पास जाते, उसके प्रत्येक अवयव अलंकार की सुन्दरता ध्यान-पूर्वक देखते और एकनाथ के पास आकर उसका वर्णन करते थे। ऐसा करते करते उस स्त्री की सुन्दरता की संपूर्ण मूर्ति उनके ध्यान में स्थिर और अटल हो गई, वे उसकी सुन्दरता में इतने निमग्न हो गये कि अब उन्हें उसके पास जाने की आवश्यकता न रही। तब एक दिन उस स्त्री ने उन्हें अपने घर पर बुलाया; परंतु यह संदेशा भेज दिया कि अब तेरे आने की कोई आवश्यकता नहीं है, तू तो सदा ही मेरे हृदय में निवास करती है, तेरी सुन्दर और मनोहर मूर्ति क्षणभर भी मुझसे अलग नहीं होती, ऐसी अवस्था में वहाँ आकर मुझे और क्या लाभ होगा? जब एकनाथ महाराज ने देखा कि विश्वंभर बाबा उस मोहनी सुन्दरता के ध्यान में अत्यंत निमग्न हो गये हैं, तब उन्होंने उसी ध्यान को परमात्मा के स्वरूप में बदलने का उपदेश किया। थोड़े ही समय में विश्वंभर बाबा आत्म-साक्षात्कार का अनुभव करके बड़े साधु पुरुष हो गये। उन्होंने मराठी भाषा में ज्ञाननिरूपण-विषयक कविता की रचना की है।

योगशास्त्र में आत्म-साक्षात्कार के दो भेद बताये गये हैं। इनमें से पहला यह है कि जब साधक पुरुष अपनी जिह्वा के अग्रभाग में चित्त की एकाग्र-धारणा करता है, तब कुछ समय के बाद उसको दिव्य रस की प्राप्ति होती है, जिह्वा के मध्य भाग में चित्त की धारणा करने से दिव्य स्पर्श की प्रतीति होती है, जिह्वा के मूल-प्रदेश में चित्त की धारणा करने से दिव्य शब्द का अनुभव होता है, तालु-स्थान में चित्त की धारणा करने से दिव्यरूप का और नासिका के अग्र-भाग में चित्त की धारणा करने से दिव्य गंध का साक्षात्कार होता है। इन पाँच विषयों में से जब तक किसी एक का भी साक्षात्कार हो न जाय, तब तक साधक

पुरुष को ध्यान-योग का अभ्यास करना आवश्यक है। दूसरा भेद यह है कि साधक पुरुष अपने चित्त को निस्तरंग समुद्र के समान शांत करके उसमें सूर्य, चंद्र, तारा अथवा हीरा या मणि के तेज का ध्यान करे। ऐसा ध्यान करने से कुछ समय में उसके हृदय में दिव्य तेज का साक्षात्कार होने लगेगा। ऐसा करते-करते वह योगाभ्यासी पुरुष परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार करने के योग्य हो जायगा। उद्दालक ऋषि के आख्यान में इस साक्षात्कार के संबंध में लिखा है—

"तमस्युपरते स्वांते तेजःपुंजं ददर्श सः।" अर्थात् ध्यान-धारणा के अभ्यास से सब तम का नाश हो जाने के बाद हृदय में तेजपुंज का अनुभव होने लगता है। वेदोक्त धर्मप्रकाश नामक ग्रंथ में अनुभव-सिद्ध मानस-पूजा का वर्णन किया गया है। मानस-पूजा करते समय धूप, दीप, गंध इत्यादि जिस सामग्री का केवल काल्पनिक उपभोग किया जाता है, उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति सिर्फ ध्यान करनेवाले पुरुष ही को नहीं, किन्तु उसके समीप बैठनेवाले अन्य सब लोगों को भी होती है। यह बात अनुभव-सिद्ध और सत्य है। इस वर्णन में रत्ती भर अतिशयोक्ति नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि ध्यान-धारणा के योग से अर्थात् दृढ़ चिन्तन के अभ्यास से योगी पुरुष अनेक चमत्कार कर सकते हैं। तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि वे अपने दृढ़ चिन्तन से आत्म-साक्षात्कार लाभ करने को समर्थ होते हैं।

८ समाधि

यह योग का आठवाँ और अन्तिम अंग है। यही योगाभ्यास की अन्तिम मर्यादा है। जिस अवस्था में अपना मन ध्येय वस्तु के स्वरूप को पहुँच कर अन्य प्रकार की सब चिन्तन-क्रिया को भूल जाता है, तथा संकल्प-विकल्प-रहित होकर केवल ध्येय-वस्तु के स्वरूप में लीन हो जाता है, उस अवस्था को योगीजन समाधि कहते हैं। पातंजल योगशास्त्र में लिखा है—"तदेव अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" अर्थात् समाधि-अवस्था में मन अपने मनस्त्व को भूलकर सदा ध्येय रूप ही बना रहता है। योगशास्त्र में यह विषय अनेक दृष्टान्तों के द्वारा भली भाँति

समझा दिया गया है। उनमें से कुछ दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं। पहला दृष्टांत, जैसे जल-बिन्दु समुद्र में प्रविष्ट होते ही तन्मय हो जाता है, वैसे ही मन ध्येय-वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट होकर तल्लीन हो जाता है। दूसरा दृष्टान्त, जब नमक पानी के साथ मिलाया जाता है, तब वह अपने नमकपन का त्याग करके जल-रूप हो जाता है। इसी तरह जो मन आत्म-स्वरूप के साथ संयुक्त होता है, वह अपने मूल-स्वभाव का त्याग करके केवल आत्म-रूप हो जाता है। समाधि-अवस्था में प्राण और मन दोनों का एकत्र लय होता है, जीवात्मा और परमात्मा की एकता होने से समरसता प्राप्त होती है और सब संकल्पों का नाश हो जाता है। समाधि का उक्त वर्णन राजयोग के अनुसार किया गया है। जब तक सद्गुरु के मुख से महा-वाक्य का उपदेश ग्रहण किया नहीं जाता, तब तक उक्त समाधि-अवस्था का अनुभव प्राप्त नहीं होता। यद्यपि यह बात सत्य है कि विषयों के सम्बन्ध में विरागता सहज ही उत्पन्न नहीं होती और यद्यपि यह बात सत्य है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कुछ लड़कों का खेल नहीं है, तथापि ये दुर्लभ बातें भी सद्गुरु की कृपा से अनायास प्राप्त हो जाती हैं। सद्गुरु-कृपा के बिना ये बातें कभी सिद्ध हो नहीं सकतीं। उक्त समाधि को योगशास्त्र में सहजावस्था भी कहा है। इसी अवस्था में आत्म साक्षात्कार की सिद्धि होती है।

समाधि के समान श्रेष्ठ और अत्युत्तम अवस्था ईश्वर के अनुग्रह अथवा सद्गुरु की कृपा के बिना प्राप्त हो नहीं सकती, यह सुनकर प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जीव और शिव की एकता स्वयं-सिद्ध है, तो साधक पुरुष को ईश्वर की आराधना करने या सद्गुरु की कृपा-संपादन करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर यह है कि यद्यपि परमार्थ-दृष्टि से जीव और ईश्वर दोनों एक हैं, तथापि जीव को ईश्वर की आराधना करनी ही चाहिए। इस विषय में श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ, तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

अर्थात् यद्यपि वैराग्य-बल की प्राप्ति हो जाय और यद्यपि वेदान्त के

अभ्यास से जीव और शिव का भेद नष्ट हो जाय, तथापि जीव को ईश्वर के प्रति यह कहना चाहिए कि "हे भगवन् ! मैं तेरा हूँ, तू मेरा नहीं है।" समुद्र और उसकी लहरों के दृष्टान्त से भी यही बात पाई जाती है कि उद्यपि लहरें समुद्र की हैं, ऐसा कहा जाता है, तथापि समुद्र उन लहरों का हो नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि यद्यपि परमार्थ दृष्टि से जीव और शिव की एकता हो जाय, तथापि जीव को ईश्वर की सेवा और आराधना करनी ही चाहिए।

उक्त आराधना के विषय में योगशास्त्र में लिखा है कि साधक पुरुष को प्रणव का जप करना चाहिए। प्रणव ओंकार को कहते हैं और वह परमेश्वर का वाचक शब्द है। प्रणव और ईश्वर में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। जब हम किसी मनुष्य को उसका नाम लेकर पुकारते हैं, तब वह हमारे सम्मुख आकर खड़ा हो जाता है। वैसे ही जब ओंकार का जप किया जाता है, तब ईश्वर प्रसन्न होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। प्रणव और ईश्वर का वाच्य-वाचक सम्बन्ध कुछ आज-कल का नया नहीं है—वह अनादि काल से स्वयं-सिद्ध चला आ रहा है। अतएव विधि-पूर्वक ओंकार का जप करना और उसके अर्थ का चिंतन करना ईश्वर की परम आराधना है। ओंकार शब्द का अर्थ श्रुतियों और स्मृतियों में अनेक प्रकार से किया गया है; परन्तु माण्डूक्य उपनिषद् में इस शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह सब आचार्यों और पंडितों को मान्य है। संक्षेप में उसका वर्णन यह है:— ओंकार शब्द अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा से मिलकर बना है। अकार के अर्थ से जागृतावस्था, विश्व और विराट-रूप का बोध होता है। उकार के अर्थ से स्वप्नावस्था, तैजस हिरण्यगर्भ के स्वरूप का बोध होता है। मकार के अर्थ से सुषुप्तावस्था, प्राज्ञ और ईश्वर की उत्पत्ति होती है अर्धमात्रा के अर्थ से तुर्यावस्था, साक्षी और ब्रह्म की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार ओंकार के अर्थ का चिंतन करते करते अकार से उकार में, उकार से मकार में और मकार से अर्धमात्रा में जब मन का लय किया जाता है, तब प्रणव-रूप ईश्वर की परम आराधना सिद्ध होती

है। हिन्दी भाषा में वेदान्त-विषय का निरूपण करनेवाले जो ग्रन्थ हैं, उनमें विचारसागर अत्यन्त महत्त्व का है। उस ग्रन्थ में ओंकार का अच्छा निरूपण किया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि सब मंत्रों में प्रणव अर्थात् ओंकार ही अत्यन्त श्रेष्ठ है। पराशरस्मृति में कहा है कि यद्यपि चारों वेद मंत्र रूप हैं, तथापि उनमें गायत्री-मंत्र सब से उत्तम है। उसकी उपासना ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को अवश्य करनी चाहिए, परन्तु ओंकार-मंत्र चारों वेदों का सार है, इसलिए वह गायत्रीमंत्र से भी अधिक श्रेष्ठ है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा है कि जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि की रचना की, तब उसने पहले तीन लोक निर्माण किये। अनन्तर जब उनका मंथन किया; गया तब उनमें से ऋक्, यजु और साम ये तीन वेद उत्पन्न हुए। इसके बाद जब वेदों का मंथन किया गया, तब उनमें से भूः, भुवः और स्वः नामक तीन व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं। इन व्याहृतियों के मंथन करने से प्रणव-रूप ओंकार उत्पन्न हुआ। तात्पर्य यह है कि ओंकार ही सार वस्तु है—वह केवल जगद्रूप है। अतएव उसका जप करके उसके अर्थ का चिंतन करना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने से ईश्वर की आराधना सिद्ध होगी और साधक पुरुष को आत्म-साक्षात्कार का लाभ होगा। इससे निष्काम-बुद्धि और ज्ञान की प्राप्ति होगी और अन्त में मोक्ष भी प्राप्त होगा।

यहाँ तक योग के आठों अंगों का वर्णन किया गया और यह सिद्ध किया गया कि योगाभ्यास मनोलय का बहुत उत्तम साधन है। अब मनोलय के दूसरे साधन अर्थात् ज्ञान या सांख्य का संक्षेप में निरूपण किया जायगा।

सब श्रुतियों और स्मृतियों का कथन है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं है। यह ब्रह्मज्ञान वेदान्त-शास्त्र के केवल श्रवण ही से प्राप्त हो नहीं सकता। उसकी प्राप्ति के लिए चित्त की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। इस चित्तैकाग्रता के दो प्रधान उपाय हैं। पहला उपाय योगाभ्यास है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया

है। दूसरा उपाय सांख्य अथवा सम्यग्ज्ञान है। जिस प्रकार योगाभ्यास से चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् मनोलय किया जाता है, उसी तरह सम्यग्ज्ञान अथवा सांख्य से भी मन का लय किया जा सकता है। सांख्य-ज्ञान का तात्पर्यार्थ यह है:—जितने पदार्थ दृष्टि-गोचर होते हैं और जो इंद्रियों को सत्य प्रतीत होते हैं, उन सब पदार्थों को जड़, परप्रकाशित और मिथ्याभूत जानना चाहिए। जो वस्तु परिच्छिन्न है, उसको अनात्मा, अतएव असत्य जानना चाहिए। इस असत्य तथा मिथ्याभूत ज्ञान से जो ज्ञान भिन्न है। उसको स्वयं-प्रकाशित तथा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान केवल साक्षित्व-भाव से अनुभूत होता है। जो ज्ञान मन, बुद्धि और अहंकार के योग से सत्य प्रतीत होता है, उसको असत्य और मिथ्याभूत जानना चाहिए। केवल साक्षि-ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। साक्षि-ज्ञान ही को आत्मज्ञान अथवा स्व-स्वरूप-ज्ञान कहते हैं। शास्त्रोक्त उचित उपायों से इस आत्मज्ञान का बोध करके उसी में सदा निमग्न रहने का अभ्यास करना चाहिए। इससे जगदाभास विस्मरण हो जायगा और पूर्ण विश्राम-स्थान प्राप्त हो जायगा। जैसे रज्जु को सर्प मानना केवल आभास है, वैसे ही साक्षि स्वरूप में अन्य ज्ञान को केवल आभास जानना चाहिए। यही सांख्य-ज्ञान का मथितार्थ है। देहादि जड़ पदार्थों के विषय में अनादि काल से अर्थात् अनेक जन्मों के संस्कारों से आत्म-भाव दृढ़ हो गया है, जो बहुत उपाय करने पर भी नष्ट नहीं होता; परन्तु जब तक उसका नाश किया न जायगा, तब तक आत्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त न होगा। जब उक्त आत्म-भाव का नाश हो जायगा, तब ही अंतःकरण में साक्षि-रूप आत्म-ज्ञान का प्रकाश देख पड़ेगा। अन्य किसी उपाय से इस साक्षित्व-ज्ञान की प्राप्ति न होगी। इस साक्षित्व-ज्ञान की प्राप्ति से मुक्ति का लाभ आप-ही-आप हो जाता है; क्योंकि मुक्ति साक्षित्व-ज्ञान से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, जिसके लिए भिन्न प्रयत्न की आवश्यकता हो। जिसको केवल आत्मवस्तु में आत्मता प्रतीत होती है, वही यथार्थ में मुक्त कहा जा सकता है। योगवासिष्ठ में कहा ही है कि—

देहात्मज्ञानवद् ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥

अर्थात् देहात्म-भाव ही आत्मज्ञान के लिए बाधक होता है—जो लोग देहादि जड़ पदार्थों ही को आत्मा मानते हैं, उन्हें आत्म-विषयक सम्यग्ज्ञान कभी प्राप्त नहीं होता। जिसको केवल आत्मा ही में आत्म-भाव प्रतीत होता है—जिसको आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है—वह यद्यपि मुक्ति की इच्छा न करे, तो भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मज्ञान की सिद्धि होते ही मन लय हो जाता है अर्थात् उस मन के आधार पर स्थिर रहनेवाली संसार अथवा प्रपंच-रूप इमारत नष्ट हो जाती है।

अब यह जानना चाहिए कि मनोलय के जो उक्त दो उपाय बताये गये हैं, उनमें श्रेष्ठ कौन है—अर्थात् योगाभ्यास और सांख्य-ज्ञान में से अधिक उत्तम कौन है? दोनों मार्ग अपने अपने तौर पर बहुत उपयोगी और लाभ-दायक हैं। दोनों का उद्देश भी एक ही है—दोनों से एक ही फल की प्राप्ति अभीष्ट है। ऐसा होने पर भी साधक जन अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि के अनुसार इन दोनों उपायों में किसी एक का स्वीकार करते और उसी की विशेष प्रशंसा किया करते हैं। इस अवस्था में यद्यपि इस बात का निर्णय करना बहुत कठिन है कि योगाभ्यास और सांख्य ज्ञान में से अधिक उत्तम मार्ग क्या है, तथापि उन दोनों के गुण और दोषों का कुछ वर्णन किया जा सकता है। जिन साधक पुरुषों ने इन दोनों मार्गों का अनुभव प्राप्त किया है, उनका कथन है कि सांख्य-ज्ञान से जिस प्रकार मनोलय की स्थिरता दृढ़ होती है, उस प्रकार योगाभ्यास से नहीं होती। उसका कारण यह है कि योगाभ्यास के अवलंबन से उत्पन्न होनेवाला मनोलय चिरस्थायी नहीं होता। योग-बल से जब तक चित्त की वृत्तियाँ निरोधित रहती हैं, तब तक मन मूर्च्छित अवस्था में रहता है; परन्तु ज्योंही चित्त-वृत्ति का उत्थान होता है, त्योंही मन का व्यापार पूर्ववत् होने लगता है अर्थात् जगत् की सत्यता का भास होने लगता है। इस प्रकार जगत् की सत्यता का भास होते ही मनुष्य सुख-दुःखादि द्वन्द्वों

का अनुभव करके संसार-चक्र में फँस जाता है। यह परिणाम सांख्यज्ञान से नहीं होता। जिस मनुष्य को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसको यद्यपि किसी समय प्रपंच का भास हो जाय, तथापि उसको सुख-दुःखादि द्वन्द्व भोगना नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि सांख्य-ज्ञान के प्रधान तत्त्व के अनुसार वह जानता है कि मैं सुख-दुःखादि कर्मों का भोक्ता नहीं हूँ—प्रारब्ध-कर्म के अनुसार उक्त द्वन्द्वों का भोक्ता केवल यह शरीर है। आत्मा विकार-रहित होने के कारण सुख-दुःखादि भोगों से अलिप्त रहता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान प्राप्ति के कारण ज्ञानी पुरुष को सुख-दुःखादि भोगों की बाधा बिलकुल नहीं होती। अतएव अनुभव-प्राप्त महाजनों का मत है कि योगाभ्यास से चित्त-वृत्तियों का निरोध करने की अपेक्षा सांख्य अर्थात् आत्म ज्ञान की सहायता से मनोलय करना अधिक श्रेष्ठ है।

यदि साधक पुरुष की बुद्धि मन्द होगी और चित्त अशुद्ध अथवा मलिन होगा, तो वह आत्मज्ञान का ग्रहण कदापि कर न सकेगा। 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का अर्थ मलिन अन्तःकरण में प्रवेश कर नहीं सकता। ऐसी अवस्था में गुरु का उपदेश निष्फल हो जाता है। आत्मज्ञान के लिए तीक्ष्ण बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा की बहुत आवश्यकता है। गुरु के मुख से सुने हुए महावाक्य का सम्यक अर्थ केवल तीक्ष्ण-बुद्धि (प्रज्ञा) ही में प्रतिबिंबित हो सकता है, अतएव यह बात सिद्ध है कि यदि साधक पुरुष प्रज्ञावान् न होगा अर्थात् यदि उसकी बुद्धि में महा-वाक्य का अर्थ ग्रहण करने कि योग्यता होगी, तो उसको पहले योगाभ्यास करके मनोलय करना चाहिए। योगाभ्यास से उसके चित्त का निरोध होगा और उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होगी, तब उसमें निदिध्यासन करने की योग्यता प्राप्त होगी। निदिध्यासन, आत्मज्ञान-प्राप्ति की तीसरी सीढ़ी है। इससे पूर्व की पहली और दूसरी सीढ़ियों को श्रवण तथा मनन कहते हैं। योगाभ्यास के द्वारा चित्त की शुद्धि हो जाने पर जब महा-वाक्य का उपदेश किया जायगा, तब साधक पुरुष के अन्तःकरण में उसका यथार्थ बोध शीघ्र हो सकेगा। इसके अनन्तर ही वह पुरुष निदिध्यासन पर आरूढ़ हो

सकेगा। अस्तु।

यहाँ प्रस्तुत प्रकरण समाप्त हुआ। यद्यपि साधक पुरुष मनोलय प्राप्त केरके तथा महा-वाक्य का उपदेश ग्रहण करके निदिध्यासन की सीढ़ी पर आरूढ़ हो जाता है। तथापि पूर्व-कर्मों के संस्कारों के कारण उसके अन्तःकरण में विविध वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं, जिससे उसके मन की एकग्रना नष्ट हो जाती है। अतएव मनोलय के अनन्तर उसको विघ्नकारक वासनाओं के उपशम का यत्न करना पड़ता है। इसी यत्न को वासनोपशम कहते हैं, जिसका विवेचन आगामी प्रकरण में किया जायगा।

चौथा प्रकरण

वासनोपशमन

पुण्यस्य फलमिच्छंति पुण्यं नेच्छंति मानवाः।
न पापफलमिच्छंति पापं कुर्वंति यत्नतः॥

—जीवन्मुक्तिविवेक।

गत प्रकरण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि मनोलय का अभ्यास करने के बाद साधक को वासनाओं का उपशम करना पड़ता है। जिस साधक के मन का लय हो जाता है और जिसकी सब वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, वही जीवन्मुक्ति-पद पर आरूढ़ हो सकता है। अतएव अब इस प्रकरण में वासनोपशमन का विवेचन किया जायगा। वासनाओं का उपशम करने के लिए आत्मानात्म-विचार की अत्यन्त आवश्यकता है। सबसे पहले इस बात का बिचार करना चाहिए कि आत्मा किसे कहते हैं और आनात्मा किसे कहते हैं। इन दोनों का भेद जानने के लिए सदा आत्म-विचार करते रहना चाहिए और बुद्धि को केवल आत्म-वस्तु में स्थिर रखना चाहिए। जब बुद्धि निश्चय करके आत्म-वस्तु में स्थिर रहने लगेगी तब अनात्म-वस्तु आप-ही-आप सार रहित और निरुपयोगी प्रतीत होने लगेगी। मुख्य आत्म-विचार यही है कि "मैं" स्थूल

देह, लिंग-देह और कारण-देह में से कोई भी देह नहीं हूँ; "मैं" शरीरान्तर्गत अस्थि, मज्जा, मांस और सप्त धातुओं में से भी कुछ नहीं हूँ; "मैं" मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों में से भी कुछ नहीं हूँ। इस प्रकार निषेध-रूप से जिसका वर्णन किया जाता है वह "मैं" क्या हूँ? उस "मैं" के विषय में जो विचार किया जाता है, उसको आत्म-विचार कहते हैं। इस विचार से यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि "मैं" इन्द्रियों का केवल प्रेरक हूँ, "मैं" मन, बुद्धि, अहंकार आदि का केवल प्रकाशक हूँ, "मैं" केवल साक्षि-रूप आत्मा हूँ। जब उक्त विश्वास की प्रतीति निरन्तर अखंडित हो जाती है, तब कल्पनारूप सब वासनाओं का अन्त हो जाता है। सारांश यह है कि अविद्या अर्थात् अज्ञान का नाश करने के लिए केवल आत्मानात्म-विचार ही समर्थ है।

इस संसार में जितनी विद्याएँ और कलाएँ प्रचलित हैं, उनमें अध्यात्म-विद्या ही सब से अधिक श्रेष्ठ है। संत और साधुजन इसी विद्या का आदर करते हैं। वे लोग न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि को अनात्म-दर्शन समझते हैं। इन दर्शनों का केवल यही उपयोग है कि इनके अभ्यास से बुद्धि सूक्ष्म होती है और अध्यात्म-विद्या का विचार करने के लिए सहायता मिलती है। आत्म-विचार ही सब विद्याओं का राजा और मुकुटमणि है। ज्ञानी तत्त्ववेत्ता लोग आत्म-विचार ही को मुख्य ज्ञान मानते हैं। निर्मल ब्रह्मवाचक ज्ञेय इसी ज्ञान से प्राप्त होता है। जैसे ईख में मिठास, मधु में माधुर्य, और समुद्र-जल में खारापन होता है, वैसे ही उपर्युक्त ज्ञान में आत्म-वस्तु की प्रतीति होती है। परन्तु जब तक गुरु-चरणों का या संतजनों का समागम नहीं होता, तब तक इस बात की प्रतीति नहीं होती कि शब्द-रूप आत्मज्ञान ही में अर्थ-रूप ज्ञेय वस्तु अर्थात् ब्रह्म स्वयं-सिद्ध और समाविष्ट है।

जो सब इन्द्रियों को चेतना-युक्त करता है, वह कौन है? बुद्धि, अहङ्कार आदि को सचेतन करनेवाला कौन है? सोकर उठने पर 'सुखमहमस्वाप्सम्'—अर्थात् 'मैं सुख से सोया था'—यह बात कौन कहता है? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का विचार करने से आत्मा का

बोध होता है। जब मनुष्य कुछ काम करने लगता है, तब पहले उसके मन में कोई विचार उत्पन्न होता है—उस समय उसको कार्य में कौन प्रवृत्त करता है? कोई इस प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं कि सब पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला सूर्य ही उसको कार्य में प्रवृत्त करता है। इसपर यह शंका की जाती है कि यदि सूर्य सब को सचेतन करता है, तो सूर्यास्त के बाद सब लोगों को कार्य में प्रवृत्त करनेवाला कौन है? इसका समाधान करते समय कोई चंद्रमा को कहते हैं, कोई तारागण को कहते हैं, कोई अग्नि को कहते हैं, कोई मन को कहते हैं—कोई कुछ कहते हैं, और कोई कुछ। इस प्रकार अनेक उत्तर दिये जाते हैं; परन्तु पूर्ण समाधान किसी से भी नहीं होता। इसका समाधान कारक उत्तर केवल वेदान्त-शास्त्र या अध्यात्म-विद्या में पाया जाता है। वह उत्तर यह है—एक साक्षिरूप आत्मा सब वस्तुओं को अन्तर्बाह्य प्रकाशित करता है, वही सब को सचेतन करता है, वही सब को कार्य में प्रवृत्त करता है। आंतरिक सुख और दुःख का जाननेवाला वही आत्मा साक्षी है! सोकर उठने पर 'मैं सुख से सोया था' यह कहनेवाला भी वही साक्षि-रूप आत्मा है। इस साक्षि-स्वरूप में जाति-भेद, वर्णाश्रम, नातेदारी वगैरह कुछ भी नहीं है। निर्वाणदशक में कहा है:—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः।
न माता पिता वा न देवा न लोकाः॥

ऐसी अवस्था में आत्मा केवल शुद्ध चैतन्यमय रहता है। इस स्थिति में वासनाओं का नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वासनाओं का क्षय करने के लिए आत्मानात्म-विचार द्वारा शुद्ध, चैतन्मय, साक्षि-रूप आत्मा का साक्षात्कार होना अत्यन्त आवश्यक है।

वासनाओं का नाश करने के लिए ग्रन्थों में अनेक उपाय बताये गये हैं। निम्न वचन में एक उपाय सूचित किया गया है:—

यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात्।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्यांबुमतिर्मरौ॥

—योगवासिष्ठ।

यह भावना हो जाने पर कि सब जगत् ब्रह्म है, मूर्खता का अर्थात् अज्ञान आप ही-आप नाश हो जाता है और फिर वासनाओं का बिलकुल उदय नहीं होता। इसका दृष्टान्त यह है, मारवाड़ देश में भ्रमण करनेवाले मनुष्य के मन में यह विचार कभी नहीं रहता कि यहाँ मार्ग में कहीं पानी मिलेगा, क्योंकि उसको इस बात का स्मरण बना रहता है कि मारवाड़ निर्जल प्रदेश है। इसी तरह जब 'सर्व ब्रह्म' यह भावना अन्तःकरण में दृढ़ हो जाती है, तब वहाँ अज्ञान के लिए स्थान ही नहीं रहता। उस अवस्था में सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। अतएव वासनाओं का नाश करने के लिए यह एक अच्छा उपाय है कि सर्वत्र ब्रह्म-भावना स्थिर रखने का अभ्यास किया जाय। पूर्व-जन्म के धर्माधर्म-युक्त संस्कार को वासना कहते हैं और पुण्य उसी का अंकुर है। जब किसी विषय की अपेक्षा होती है, तब वासना का उदय होता है। जो मनुष्य वासनाओं का त्याग करता है, वह अपने प्रारब्ध ही का क्षय करता है। जो मनुष्य देहाभिमान को धारण करता है, वह सुख और दुख दोनों भोगता रहता है। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष वासनाओं का त्याग करके प्रारब्ध का क्षय करता है, उसको सुख या दुख की कोई बाधा नहीं होती; क्योंकि वह सुख और दुख दोनों को समान मानता है। श्रीमद्भगवद्-गीता में कहा है:—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनात सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

दुःख में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख की प्राप्ति के विषय में जिसकी कोई इच्छा नहीं है, जिसके मन में किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रेम, भय और क्रोध नहीं है और बुद्धि स्थिर है, उसको मुनि कहते हैं। श्रुति और अन्य ग्रन्थों में मुनि-शब्द के अर्थ की बहुत व्यापकता बताई है। 'मनुते स मुनिः—' अर्थात् जो सदा मनन करता रहता है, वही मुनि है, वही ज्ञानी है, वही ब्रह्मवेत्ता है। उसके अन्तःकरण में वासना का कदापि उदय हो नहीं सकता। इस बात का निरूपण पहले कर चुके हैं कि योगाभ्यास से प्रारब्ध का नाश कैसे होता है। योग-सामर्थ्य से प्रारब्ध

भोग भोगने में कोई कठिनता मालूम नहीं होती। सारांश यह है कि योगाभ्यास से प्रारब्ध-कर्म को भोग कर उसका नाश किया जा सकता है अथवा आत्मानात्म-विचार करने से और सर्वत्र ब्रह्म-भावना दृढ़ करने से भोगार्थ प्राप्त हुए सुख या दुख का स्मरण नहीं होता। अतएव यह बात सिद्ध है कि पूर्वजन्म के संस्कारों का नाश करने से या योगाभ्यास के द्वारा वासनाओं का क्षय हो जाता है।

दूसरा उपाय इस श्लोक में सूचित किया गया है:—

साधुसंगमसच्छास्त्रपरो भवसि सन्मते।
तद्दिनेनैव नो मासैः प्राप्तोसि परमां धियम्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जिस दिन मनुष्य सत्समागम और स्वच्छास्त्र-श्रवण के लिए तत्पर हो जायगा, उसी दिन उसको सद्बुद्धि प्राप्त हो जायगी। इसके लिए कुछ महीनों की आवश्यकता नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वासनाओं की शक्ति को घटाने के लिए—वासनाओं का उपशम करने के लिए शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है। यह शुद्धि-बुद्धि तभी उत्पन्न होती है, जब कि साधु-समागम द्वारा या सद्गुरु-मुख से महा-वाक्य का उपदेश ग्रहण किया जाता है और अध्यात्म-शास्त्र का श्रवण तथा मनन किया जाता है। इन उपायों का अवलंबन करने से सारी सृष्टि ब्रह्ममय देख पड़ती है। उस अवस्था में वासनाएँ कैसे उत्पन्न हो सकती हैं?

वासनोपशमन का एक और उपाय है:—

असंगाव्यवहारित्वाद्भयभावनवर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते॥

—योगवासिष्ठ।

पहली बात यह है कि जब मनुष्य संसार के सब कार्य करता रहता है, परन्तु अपने मन को उन कार्यों में लिप्त नहीं कर देता, तब उसको असंग अर्थात् अलिप्त या अनासक्त कहते हैं। इस प्रकार असंग, अलिप्त या अनासक्त होकर कार्य करने से कर्तृत्व या भोक्तृत्व का अभिमान नष्ट हो जाता है और मनुष्य का अन्तःकरण वासनाओं के बन्धन से मुक्त

हो जाता है। दूसरी बात यह है, भव अर्थात् प्रपंच या संसार को सत्य कभी न मानना चाहिए; क्योंकि सत्य वस्तु केवल एक ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ सत्य-सा मालूम होता है वह यथार्थ में सत्य नहीं है—वह मिथ्या भ्रम है। सत्यासत्य के विषय में उक्त सिद्धान्त यदि मनुष्य के हृदय में सदा जागृत रहे, तो उसकी विषय-वासनाएँ आप-ही-आप नष्ट हो जायँगी। तीसरी बात यह है, शरीर को कभी नित्य या चिरस्थायी समझना न चाहिए। बुद्धि में यह विवेक सदा जागृत रहना चाहिए कि शरीर नाशवान् और अनित्य है—उसका कभी-न-कभी अन्त या नाश अवश्य होगा। जिसके हृदय में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और जिसकी बुद्धि सदा आत्मानात्म-विवेक पर आरूढ़ रहती है, वही यथार्थ में इस शरीर को नाशवान् और अनित्य समझ सकता है और वही वासनाओं के बीज का नाश कर सकता है। सारांश यह है कि उक्त तीनो बातों से अर्थात् सब कार्य असंग होकर करने से, संसार को मिथ्या मानने से और शरीर-नाश का विचार सदा जागृत रखने से वासनाओं का क्षय हो जाता है। इस प्रकार वासनाओं का क्षय हो जाने पर फिर उसका उदय कभी नहीं हो सकता।

वासनोपशम के जो उपाय बताये गये, उनका रहस्य केवल भावना में है। इसलिए देह-भावना का त्याग करके सदा ब्रह्म-भावना का अभ्यास करते रहना चाहिए। भावना में अद्भुत सामर्थ्य है। भावना-शक्ति के विषय में कहा है—

दृढभावानुसंधानाद्विमूढा अपि राघव।
विषं नयन्त्यमृततामसृतं विषतामपि॥

—योगवासिष्ठ।

यदि किसी पदार्थ के विषय में भावना दृढ़ की जाय, तो मूर्ख मनुष्य भी तदाकार हो जाता है। जैसे यदि विष के स्थान में अमृत की भावना की जाय तो विष का कुछ परिणाम नहीं होता और यदि अमृत के स्थान में विष की भावना की जाय तो अमृत का कुछ परिणाम नहीं होता—अमृत विष हो जाता है। इस परसे यह सिद्ध है कि जैसी

भावना की जाती है, वैसा ही फल मिलता है। देह-भावना के विषय में लिखा है—

सत्यभावेन दृष्टोऽयं देहो देह मदत्ययम्।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः॥

—योगवासिष्ठ।

जब हम आत्मा को देह मानने लगते हैं, तब देह ही आत्मा के समान मालूम होती है; परन्तु जब यह निश्चय हो जाता है कि देह आत्मा नहीं है, तब देह असत्य मालूम होने लगता है। देह की असत्यता प्रतीत हो जाने से भय, शोक, दुःख आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। अतएव वासनाओं का नाश करने के लिए देह-भावना का त्याग कर देना चाहिए। जब आत्मा के विषय में देह-भावना की जाती है, तब स्व-स्वरूप आच्छादित हो जाता है। इसलिए आत्म-भाव ही वासनोपशम का सर्वोत्तम उपाय है। देखिए—

ब्रह्मैकं भावयन्साधुः शांतस्तिष्ठन्नतन्द्रयः।
यतस्तेऽसावहंभावः स्वयमेव विनश्यति॥

—योगवासिष्ठ।

आत्मानात्म विचार करते-करते जब यह भावना दृढ़ हो जाती है कि प्रपंच मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है, तब काम, क्रोध आदि विकार नष्ट हो जाते हैं, बुद्धि शांत हो जाती है और किसी प्रकार की विपरीत भावना उत्पन्न नहीं होती। सच है; जब यह संसार और प्रपंच ही मिथ्या हो गया, तब राग, द्वेष सुख और दुःख कहाँ रह सकते हैं? ऐसी अवस्था में वह अहंभाव ही नष्ट हो जाता है, जो इस देह में अनेक जन्मों से आसक्त रहता है। इस प्रकार जब अंतःकरण निर्मल हो जाता है, तब द्वैत-भाव जो सब दुःखों का कारण है, नष्ट हो जाता है, सर्वत्र आनन्द का अनुभव होने लगता है और वासनाओं का पूर्ण रीति से क्षय हो जाता है।

पाँचवाँ प्रकरण

आत्म-मनन

प्रत्यगर्थमनालिंग्य न पराग्वर्ति किंचन।
विज्ञानं जायते यस्मादात्मोपास्तिः सदा ततः ॥

—योगवासिष्ठ।

पहले इस बात का वर्णन किया गया है कि मन और वासना के कारण स्व-स्वरूप की प्राप्ति में विघ्न कैसे उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सद्गुरु का दर्शन करके महावाक्य का उपदेश ग्रहण कर लिया जाता है और यह बात मालूम हो जाती है कि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है, तथापि अनेक जन्मों के अज्ञान के संस्कारों के कारण अन्तःकरण में बार-बार भ्रम उत्पन्न हो जाता है और यह मालूम होने लगता है कि जगत् सत्य है। इसी को असंभावना कहते हैं। यह हमारे मन और वासना का परिणाम है। इसी लिए गत दो प्रकरणों में मनोलय और वासनोपशम की आवश्यकता तथा उनकी प्राप्ति के उपायों का उल्लेख किया गया है। उनकी ओर ध्यान देने से यही मालूम होता है कि अध्यात्म-शास्त्र के श्रवण के सिवाय अन्य सब उपाय व्यर्थ हैं। अध्यात्म-शास्त्र के श्रवण से अन्तःकरण में यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि वेद-वाक्य प्रमाण-भूत हैं अर्थात् वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्तों का निरन्तर श्रवण करने से प्रमाणासंभावना नष्ट हो जाती है और यह अटल विश्वास हो जाता है कि सम्पूर्ण सृष्टि के व्यापारों की उत्पत्ति का मेल केवल श्रुति-वचनों में है, अन्यत्र कहीं नहीं है। यही कारण है कि अध्यात्म-शास्त्र के श्रवण की बड़ी महिमा गाई गई है। जैसे वेदवाक्य प्रमाणभूत हैं, वैसे ही गुरु वचन भी प्रमाणभूत है अतएव वेद अर्थात् ईश्वर में जैसी श्रद्धा और भक्ति होनी चाहिए, वैसी ही श्रद्धा और भक्ति गुरु के विषय में भी होनी चाहिए। कहा है कि—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

—श्वेताश्वतर-उपनिषद्।

अर्थात् जिसकी ईश्वर-भक्ति विमल है और जो गुरु की वैसी ही भक्ति करता है, जैसी परमेश्वर की, उस महात्मा पुरुष को वेदोक्त सिद्धान्त निर्मल दर्पण के समान स्पष्ट देख पड़ते हैं। अब तीसरा विघ्न देखिए। यद्यपि श्रवण करते-करते यह भावना दृढ़ हो जाती है कि वेद-वचन और गुरु-वचन सत्य हैं (अर्थात् प्रमाणा-संभावना का नाश हो जाता है) और यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है (अर्थात् असंभावना का नाश हो जाता है), तथापि अपने विश्वास और अपनी भावना के अनुसार आत्मरूप का अनुभव प्राप्त नहीं होता। उस समय प्रमेयासंभावना नामक विघ्न उत्पन्न हो जाता है अर्थात् इस सन्देह को दूर करने के लिए अर्थात् प्रमेयासंभावना नामक विघ्न का नाश करने के लिए आत्म-मनन की अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव इस प्रकरण में आत्म-मनन का विवेचन किया जायगा।

अनेक प्रकार की युक्तियों से आत्मा के स्वरूप का जो चिन्तन किया जाता है, उसको आत्म-मनन कहते हैं। आत्म-मनन से आत्मानुभव कैसे प्राप्त होता है सो देखिए—

शुद्धो निरंजनोऽनंतो बोधोहं प्रकृतेः परः।
चेष्टमानमिमं देहं पश्याम्यन्यशरीरवत्॥

—योगवासिष्ठ

अर्थात् यह भावना करनी चाहिए कि मैं शुद्ध, बुद्ध और स्वयं-प्रकाश हूँ; मै निरंजन हूँ अर्थात् आकाश के समान उपाधिरहित हूँ; मैं अनंत और सर्वव्यापी हूँ अर्थात् जैसे यह जगत् देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न है वैसा मै नहीं हूँ; मैं ज्ञान-रूप और स्वयं-बोध हूँ और यद्यपि मैं प्रकृति का नियंता हूँ, तथापि मैं उससे भिन्न हूँ। अंतःकरण में यह धारणा दृढ़ करने का अभ्यास होना चाहिये कि मैं जिस तरह अन्य लोगों के शरीरों को अनेक कार्य करते हुए देखता हूँ, उसी तरह पूर्वसंस्कारों के कारण अनेक कार्य और व्यवहार करनेवाला मेरा भी यह शरीर मुझसे भिन्न है। सारांश, "मैं केवल साक्षी हूँ, मैं किसी भी कर्म का कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ" इस भावना को उपर्युक्त अनेक युक्तियों से अपने हृदय

में स्थिर रखने को आत्म-मनन कहते हैं। इस प्रकार निरंतर आत्म-मनन करते-करते आत्म-बोध दृढ़ हो जाता है और आत्मानुभव होने लगता है।

आत्म-बोध और आत्मानुभव होने के लिए अनेक प्रकार से भावना की जा सकती है। जैसे—

आपद्यचलचित्तोस्मि जगन्मित्रं च संपदि।
भावाभावविहीनोऽस्मि तेन जीवाम्यनामयम्॥

योगवासिष्ठ।

अर्थात् यह भावना करनी चाहिए कि यद्यपि नाना प्रकार के संकट आ जायँ, तथापि मुझे कुछ परवा नहीं, क्योंकि मेरा चित्त अचल और स्व-स्वरूपस्थ है। संकटों और आपत्तियों से वही मनुष्य दुखित होगा, जो अपने विषय में देहभाव धारण करेगा; परतु मैं देह और इन्द्रियों से भिन्न हूँ, इसलिए मुझे किसी आपत्ति से दुःख हो नहीं सकता। इसी तरह यदि भाग्यवशात् मुझे सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तो मेरा वर्ताव जगन्मित्र का-सा होना चाहिए—सम्पत्ति के मद से उन्मत्त न हो जाना चाहिए। जैसे पवन के झकोरों से पर्वत की स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती, या जैसे वर्षाऋतु के जल से समुद्र में कभी बाढ़ नहीं आती, वैसे ही आत्मभाव (ब्रह्म-भाव) धारण करनेवाले सत्पुरुष का चित्त सम्पत्ति और विपत्ति में समान रहता है—उसके चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य इस प्रकार के आत्म-मनन में सदा निमग्न रहता है कि "मैं देह-रूप नहीं हूँ और मुझमें देह का अभाव भी नहीं है; अर्थात् मैं भावाभाव-रहित—विकार-रहित—केवल साक्षी हूँ;" वही आत्म-बोध और आत्मानुभव प्राप्त कर सकता है। आत्ममनन का यह भी एक प्रकार है—

निरीहोस्मि निराशोस्मि खवत् स्वस्थोस्मि निःस्पृहः।
शांतोस्म्यहमरूपोस्मि चिरायुरचलस्थितिः॥

योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है कि यद्यपि मैं देहेन्द्रियों का संचालक हूँ,

यद्यपि मैं देहेन्द्रियों से सब कर्म कराता हूँ, तथापि मैं स्वयं कुछ नहीं करता—मैं उन सब कर्मों से अलिप्त रहता हूँ। जैसे दीपक के प्रकाश में सब तरह के भले-बुरे काम किये जाते हैं और वह दीपक ज्यों का त्यों अलग बना रहता है, वैसे ही मैं भी अलिप्त रह कर सब कुछ कराता रहता हूँ। मैं आकाश के समान कूटस्थ हूँ। मुझे किसी कर्तव्य की अपेक्षा नहीं है। मैं शांत-स्वरूप और गुण-रहित हूँ। मेरा न तो कोई रूप है, न रंग है। मैं आकाश के समान स्थिर और सर्वव्यापी हूँ। यदि उक्त रीति से आत्म-चिंतन निरन्तर किया जाय, तो आत्म-बोध की प्रतीति अवश्य होगी। आत्म-चिंतन के द्वारा यह भी अनुभव प्राप्त होता है कि सारा ब्रह्माण्ड मुझमें समाया है और सब प्राणियों का जी नित्य मुझमें भरा हुआ है। देखिए—

मय्यनंते चिदंभोधावाश्चर्यं जीववीचयः।
समुल्लसंति खेलंति प्रविशंति स्वाभावतः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् मैं चिद्रूप अगाध समुद्र हूँ। नाना प्रकार के जो जीव हैं, वे उस समुद्र की लहरों के समान मुझमें उत्पन्न होते हैं, मुझमें रहते हैं और मुझ ही में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चाहे जितनी लहरें मुझमें उत्पन्न होती रहें, तो भी उनके कारण मुझमें क्षय या वृद्धि कुछ भी नहीं होती; क्योंकि मैं तो केवल आनन्द-रूप हूँ। इस रीति से आत्म-मनन करते-करते आत्मानुभव इतना बढ़ जाता है कि मनुष्य स्वयं अपने ही आत्म-रूप को सर्वत्र मनन करता है। जैसे—

सर्वभूतांरस्थाय नित्यमुक्तिचिदात्मने।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः॥

—योगवासिष्ठ।

सब भूतों में निवास करनेवाले अपने स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ। मैं अपने नित्य-मुक्त और केवल चैतन्य-रूप को नमस्कार करता हूँ। मैं अपने स्वयं-प्रकाश और प्रत्यग्-रूप को नमस्कार कहता हूँ। जब कि विश्व-रूप लहरें केवल चिद्रूप देख पड़ रही हैं, जब कि नेत्रों में

केवल आत्म-रूप छा गया है, तब मुझे अपने सिवाय और क्या देख पड़ेगा ? अतएव केवल आनन्द-स्वरूप मुझको बार-बार नमन करता हूँ। सारांश यह है कि जब उक्त प्रकार की भावनाओं से दिन-रात आत्म-मनन किया जाता है, तब आप-ही-आप मन का लय और वासना का क्षय हो जाता है। उसी अवस्था में आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है।

छठा प्रकरण

शुद्ध-निरूपण

बहुशास्त्रकथाकंथारोमंथेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरांतरम्॥

—जीवन्मुक्तिविवेक।

गत प्रकरण में इस विषय का निरूपण किया गया है कि अध्यात्म-शास्त्र के श्रवण करने से प्रमाणसम्भावना का नाश होकर श्रुति और गुरु के वचनों में विश्वास उत्पन्न हो जाता है तथा आत्म-मनन के द्वारा प्रमेयासम्भावना का नाश होकर यह विश्वास और अनुभव हो जाता है कि "मैं ब्रह्म हूँ।" यद्यपि उक्त विश्वास और अनुभव प्राप्त हो जाता है, तथापि अनेक जन्मों के संस्कारों के कारण देहादिक प्रपंच सत्य मालूम होने लगता है और मनुष्य अपने स्व-स्वरूप से च्युत हो जाता है। आत्मानुभव की स्थिति में यही चौथा विघ्न है, जिसको विपरीत-भावना कहते हैं। इस विघ्न को दूर करने के लिए निदिध्यासन की आवश्यकता है। योगवासिष्ठ के जिस प्रकरण में निदिध्यासन का वर्णन किया गया है, उसका नाम शुद्ध निरूपण है, इसलिए हमने भी प्रस्तुत प्रकरण का वही नाम रक्खा है। निदिध्यासन के द्वारा प्रपंच का निरसन हो जाता है, उपाधियों का पूर्ण क्षय हो जाता है और केवल ब्रह्म शेष रह जाता है। जैसे किसी पदार्थ का सत या अर्क निकालने के लिए उसको कई बार छानना पड़ता है, उसी तरह अनेक प्रकार की उपाधियों का क्षय करते-करते आत्मा की शुद्ध स्थिति का अनुभव होता है। इसीलिए इस

विधि को शुद्ध-निरूपण कहते हैं। इस निरूपण से यह बात भली भाँति ध्यान में आ जाती है कि निदिध्यासन किस प्रकार किया जाता है, निदिध्यासन करनेवाले मनुष्य का आचरण किस प्रकार का होता है और उसकी आन्तरिक स्थिति कैसी होती है।

शुभेच्छा आध्यात्मिक ज्ञान की पहली सीढ़ी है। इस सीढ़ी पर आरूढ़ होने से संसार-भय का नाश हो जाता है और आत्म-मनन तथा निदिध्यासन करने से निःसंगता अटल हो जाती है। उस अवस्था में किसी कर्म की आसक्ति या बाधा नहीं होती। जैसे—

बहिः कृत्रिमसंरंभो हृदि संरंभवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्ता च लोके विहर राघव॥

—योगवासिष्ठ।

विषयों की अभिलाषा के कारण उनकी प्राप्ति के सम्बन्ध में मन में जो तीव्र उत्कण्ठा या आसक्ति उत्पन्न होती है और जिससे मन अत्यन्त चञ्चल हो जाता है उसको संरंभ कहते हैं। आत्मचिंतन और निदिध्यासन करनेवाला सत्पुरुष उक्त संरंभ का त्याग करके केवल औपचारिक रीति से सब लौकिक कार्य करता रहता है। प्रकट रूप से यद्यपि वह अनेक प्रकार के व्यावहारिक कार्य करता हुआ देख पड़ता है, जिनसे साधारण लोगों को यही बोध होता है कि उस सत्पुरुष में भी विषय-सुख की इच्छा बनी है, तथापि उसके हृदय में विषयों की अभिलाषा का लेश मात्र नहीं होता—उसका अन्तःकरण संरंभ-रहित होता है। यद्यपि उसके बाहरी बर्ताव से कर्तृत्व-भाव प्रकट होता है, तथापि उसका अन्तःकरण उस भाव से अलिप्त रहता है। इस पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब तक किसी बात की इच्छा मन में न होगी, तब तक मनुष्य कार्य में कैसे प्रवृत्त होगा? पहले जब मन में किसी विषय की इच्छा उत्पन्न होगी, तभी मनुष्य उसके अनुसार आचरण करेगा। बृहदारण्यक में भी यही कहा है—'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' अर्थात् पहले मन जिस प्रकार किसी पदार्थ का ध्यान करता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा कार्य होता है। यहाँ 'वाचा' शब्द केवल उपलक्षणार्थ है अर्थात् सब उससे इन्द्रिय-

गए का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि यह बात सत्य है कि मन में किसी विषय के सम्बन्ध में इच्छा उत्पन्न हुए बिना इन्द्रियों के द्वारा कोई कार्य नहीं हो सकता, तो यह कैसे मान लिया जाय कि साधु पुरुष अपने अन्तःकरण में कोई कर्तृत्व-भाव न रखते हुए भी सब व्यवहार करते रहते हैं। इस शंका का समाधान यह है:—विषयों के सम्बन्ध में जितनी विपरीत-भावनाएँ हैं, वे सब ज्ञानी पुरुष को मिथ्या प्रतीत होती हैं। ऐसी अवस्था में वह विषयों के सम्बन्ध में मिथ्या संकल्प, और विकल्प, चिंतन, मनन या इच्छा क्यों करेगा? जो अपूर्ण-काम है अर्थात् जिसकी इच्छा तृप्त नहीं हुई है, वही विषयों की अभिलाषा करता है और उसी के अन्तःकरण में संरंभ रहता है; परन्तु जो पूर्ण काम है अर्थात् जिसकी इच्छा तृप्त हो गई है, वह विषयों की अभिलाषा कभी न करेगा—इसके हृदय में संरंभ कभी रह नहीं सकता। इसके सिवाय एक और कारण है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा या कामना तभी उत्पन्न होती है, जब कि वह अपने से भिन्न और श्रेष्ठ देख पड़ती है। परन्तु ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में अपने से भिन्न उत्तम और श्रेष्ठ कोई वस्तु देख नहीं पड़ती, इसलिए उसके मन में किसी वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा या कामना उत्पन्न नहीं होती। इस संसार के व्यवहार की ओर देखा जाय, तो यही मालूम होता है कि प्रत्येक मनुष्य को सुख की इच्छा है, दुःख की इच्छा कोई नहीं करता। केवल मनुष्य ही नहीं, वरन् सब जीवधारी प्राणियों की यही इच्छा होती है कि हमको सुख मिले, दुःख न मिले। अब यदि यथार्थ रीति से विचार किया जाय, तो यही कहना पड़ता है कि दुःख नाश और सुख-प्राप्ति की इच्छा आत्म-सुख के बिना कदापि सफल हो नहीं सकती। जिसने आत्म-सुख प्राप्त कर लिया है वह साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य आदि राज्यों को भी क्षुद्र समझता है। सच है; जो निरन्तर परमानन्द में निमग्न रहता है, वह इन क्षुद्र विषयों की अभिलाषा क्यों करेगा। सारांश यह है कि जो ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म-रूप हो गया है और सदा ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है, उसके अन्तःकरण में विषयेच्छा कदापि उत्पन्न हो नहीं सकती। वह विषयेच्छा-रहित होकर अन्य जनों के

समान सब लौकिक कार्य करता रहता है। अब यह जानना चाहिए कि उसके लौकिक कार्यों में और अन्य साधारण-जनों के कार्यों में क्या भेद है। भेद यही है कि उसके सब कार्य अहेतुक अर्थात् हेतु-रहित होते हैं और अन्य जनों के कार्य सहेतुक अर्थात् हेतु-सहित होते हैं। वह अन्य जनों के समान किसी कार्य में लिप्त या आसक्त नहीं होता। जब कि वह निरहंकार और अनासक्त स्थिति में सब कार्य करता है, तब यही कहना चाहिए कि उसका अन्तःकरण कामना रहित है। इस अवस्था का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार किया गया है:—

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥
यस्य नाहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

निदिध्यासन का तात्पर्य यही है कि अन्तःकरण में ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों का स्फुरण न होना चाहिए। जब तक इस त्रिपुटी के भेद का स्मरण बना रहता है, तब तक समझना चाहिए कि ज्ञान-दृष्टि अपूर्ण है। जब मनुष्य त्रिपुटी का त्याग करके केवल स्वरूपस्थ हो जाता है, तभी उसको जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होती है। उस अवस्था में मनुष्य को देहादि प्रपंच का भान नहीं रहता और विपरीत-भावना भी नष्ट हो जाती है। आत्म-साक्षात्कार में असम्भावना और विपरीत भावना से जो विघ्न उत्पन्न होते हैं, उनका नाश केवल श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा किया जा सकता है।

द्वैतभाव का निरसन करने के लिए सदा एकान्त में बैठ कर आत्म-स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। जब चिंतन करते समय अपने सिवाय अन्य पदार्थ का स्फुरण हो, तो उसका त्याग कर देना चाहिए और केवल अपने स्वरूप पर आरूढ़ होना चाहिए। उस समय केवल उन्हीं वस्तुओं का स्वीकार और अवलम्ब करना चाहिए, जो आत्मा के सजातीय हैं। आत्मा के सजातीय-रूप की पहचान गुरु से करा लेना चाहिए। इस प्रकार आत्म-रूप का ध्यान करते-करते आत्म-साक्षात्कार होने

लगता है।

मनुष्य को इस संसार में निदिध्यासन द्वारा सदा निर्विभाग स्थिति में रहने का प्रयत्न करना चाहिए। निर्विभाग-स्थिति भावना की उस दशा का नाम है, जहाँ वस्तु में भेद, भिन्नता या विभाग की कल्पना नहीं होती। जब तक हृदय में यह भाव जाग्रत रहता है कि वस्तु में भेद या भिन्नता है—जब तक चित्त में विभाग-कल्पना बनी रहती है—तब तक वह उसी विकार से व्याप्त रहता है, तब तक मनुष्य को संसार की सब वस्तुओं में भिन्नता ही देख पड़ती है। यही विभाग-स्थिति मनुष्य के सांसारिक सुख और दुख का कारण है। परन्तु मनुष्य को आत्म-चिंतन और निदिध्यासन के द्वारा यह विश्वास हो जाता है कि यद्यपि संसार में अनेक पदार्थों में भिन्न-भिन्न रूप और नाम के कारण भिन्नता देख पड़ती है, तथापि उनका अधिष्ठान एक ही है; जैसे यद्यपि सोने के अनेक अलंकार भिन्न-भिन्न रूप और नाम के कारण भिन्न-भिन्न देख पड़ते हैं, तथापि वस्तुतः वे सब एक ही समान हैं; क्योंकि उनमें एक ही सोना व्याप्त है। यही निर्विभाग-स्थिति मनुष्य के आत्यन्तिक सुख, आत्मज्ञान या मोक्ष का कारण है।

निम्न दो श्लोकों में यह बात स्पष्ट रीति से बताई गई है कि निदिध्यासन किस तरह करना चाहिएः—

एको विशुद्धबोधोहमिति निश्चयवन्हिना।
प्रज्वाल्य द्वैतगहनमेक एव सुखी भव॥

—योगवासिष्ठ।

मनुष्य को अपने हृदय में यह भाव धारण करके कि मैं शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हूँ, इस प्रकार की अद्वैत बोधाग्नि करनी चाहिए, जिसमें द्वैत-रूप तृण के सब ढेर जल कर भस्म हो जायँ। देहस्फुरण ही द्वैत का मुख्य लक्षण है। जब तक हृदय में देह-विषयक स्फूर्ति जाग्रत रहती है, तब तक आत्म-स्वरूप का प्रकाश देख नहीं पड़ता। अतएव यह भावना करनी चाहिए कि मैं देह नहीं हूँ, मैं इन्द्रिय नहीं हूँ, मैं केवल असंग ज्ञान-स्वरूप हूँ—यही निदिध्यासन का अभ्यास है और भी देखिएः—

अजागृत्स्वप्ननिद्रस्य तत्ते रूपं सनातनम् ।
सचेतनं विशुद्धं च तन्मयः सर्वदा भव ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् जो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति से भिन्न होकर उन तीनों अवस्थाओं का केवल साक्षी है, वही मेरा निर्मल और सनातन स्वरूप है—मुझे सदा उसी आत्म-स्वरूप में निमग्न और तन्मय रहना चाहिए। इस स्थिति में रहने के लिए अपने हृदय पर से भेद-जनक उपाधियों का परदा हटा देना चाहिए। संसार के किसी पदार्थ को देखकर हमको तदाकार न हो जाना चाहिए, किन्तु आत्म-स्वरूप ही में स्थिर रहना चाहिए। यही निदिध्यासन का रहस्य है। यह बात पहले कह आये हैं कि विजातीय वस्तुओं का त्याग करने से केवल ब्रह्म शेष रहता है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि मन और मन के संकल्पों का त्याग करके केवल चिद्रूप रहना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है:—

संकल्पेनैव संकल्पो मनसेव मनो मुने ।
स्थित्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥

—योगवासिष्ठ ।

स्वरूप-स्थिति में रहने का अभ्यास करते समय मन में अनेक प्रकार के संकल्प उत्पन्न होते हैं, जिनसे सिद्धि में बाधा होती है। इनको टालने का यह उपाय है कि जब "मैं देह हूँ" यह असत्संकल्प उत्पन्न हो, तब "ब्रह्माहमस्मि" इस संकल्प से उसका नाश करना चाहिए। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि एक संकल्प (कल्पना, विचार या भाव) का नाश दूसरे संकल्प से हो जाता है। संकल्प का नाश करने के लिए इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। अच्छा, संकल्पों का नाश हो जाने पर भी मन बना ही रहता है। वह मन फिर भी प्रपंच ही का चिन्तन करने लगता है। इसके लिए क्या उपाय है? उपाय यही है कि प्रपंच रूप अर्थात् विषय-रूप अशुद्ध मन को आत्म-रूप शुद्ध मन से नष्ट करना चाहिए। जैसे अग्नि में तपाये हुए लाल लोहे को ठंढे लोहे से (कुल्हाड़ी) काट सकते हैं, वैसे ही शुद्ध-संकल्प-युक्त मन से राग द्वेष-

रूप अशुद्ध मन का नाश किया जा सकता है। इस प्रकार जब असत्संकल्प, अशुद्ध मन, राग, द्वेष आदि का त्याग या नाश किया जाता है, तब आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है। यद्यपि इस साधन में कोई विशेष कठिनता नहीं है और यद्यपि आत्म-स्वरूप स्थिति में निरन्तर सुख और आनन्द है, तथापि संसारी जन केवल देह की आसक्ति में फँस कर सदा दुःख भोगते हैं और उस परमानन्द-स्थिति से पराङ्मुख रहते हैं। यदि विचार किया जाय तो प्रत्येक मनुष्य का यही निश्चय होगा कि देह नाशवान् पदार्थ है, मैं अविनाशी आत्म-स्वरूप हूँ, मैं देह नहीं हूँ, मेरा और इस देह का कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु यह विचार या विवेचन प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सदा जागृत नहीं रहता। यही कारण है कि हमारे आध्यात्मिक ग्रन्थों में देह की नश्वरता और संसार के मिथ्यात्व के विषय में बहुत वर्णन पाया जाता है। यह बात हृदय में अनेक प्रकारों से प्रतिबिम्बित कराने का यत्न किया जाता है कि इस देह या संसार में आसक्त रह कर अपने आत्मस्वरूप को भूल जाना निरी मूर्खता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह सदा आत्मानात्म-विचार करता रहे, आत्मविचार में विघ्न उत्पन्न करनेवाली भेदबुद्धि या विजातीय कल्पना का त्याग करे और सजातीय कल्पना अर्थात् ब्रह्म-भाव से आत्म-स्वरूप ही में सदा निमग्न रहे। इसी को निदिध्यासन कहते हैं। इसमें सारी विपरीत-भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं, साक्षिस्वरूप की प्रतीति होती और ब्रह्म-स्थिति का अनुपम सुख मिलता है, शुद्ध-निरूपण का यही अन्तिम हेतु है।

सातवाँ प्रकरण

आत्मार्चन

यथाभवति बालानां गगनं मलिन मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानमात्माऽपि मलिनो मलैः॥
—योगवासिष्ठ।

विजातीय वस्तु का त्याग करके आत्म-स्वरूप की प्राप्ति और ब्रह्म

का साक्षात्कार करने के लिए जो यत्न किया जाता है, उसको आत्मानुसंधान या आत्मार्चन कहते हैं। इस बात का वर्णन निम्न श्लोक में किया गया है कि आत्मार्चन कैसे करना चाहिए—

यदि देहं तिरस्कृत्य चितिं विश्रम्य तिष्ठसि।
तदा तृणीकृताशेषः स्वयमेको भविष्यति॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् यदि हम अपने स्थूल-देह और लिंग-देह का तिरस्कार करके आत्म-स्वरूप में विश्रांति करके स्थिर रहें, तो जितना प्रपंच है वह सब केवल तृण के समान क्षुद्र मालूम होगा और 'एकमेवा द्वितीय' स्थिति का अनुभव प्राप्त होगा। इस स्थिति को प्राप्त करना आत्मार्चन कहलाता है।

जिसको साक्षी और चैतन्य कहते हैं और जिसके स्वरूप का ध्यान या चिंतन सदा मन में करना पड़ता है, उस आत्मा के विषय में यह वर्णन ध्यान में रखना चाहिए—

येन शब्दं रसं रूपं गंधं जानासि राघव।
तमात्मानं परं ब्रह्म जानीहि परमेश्वरम्॥

—योगवासिष्ठ।

श्री वसिष्ठजी रामचन्द्रजी से कहते हैं—हे राघव, जिसके द्वारा तुमको शब्द, रस, रूप और गंध का ज्ञान होता है, उस आत्मा ही को तुम परब्रह्म जानो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच विषय हैं; इन विषयों की ओर आकृष्ट होनेवाली श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाँच इन्द्रियाँ हैं; इन इन्द्रियों का सब व्यवहार मन की सहायता से होता है; अब इन सब विषयों और इन्द्रियों को तथा मन को जो प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है, वही साक्षि-रूप परमात्मा है। जहाँ से प्रथम शब्द का स्फुरण होता है, फिर जहाँ से वह शब्द बाहर प्रकट होता है और बाहर प्रकट होने पर जिसके द्वारा उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है, वही आत्मा के साक्षित्व का स्वरूप है। इसी तरह स्पर्श, रूप, रस आदि सब विषयों के संबंध में जानना चाहिए। साधारण व्यवहार में लोगों को केवल इन्द्रियाँ और विषय देख पड़ने

हैं। इनके परे और किसी बात का ज्ञान नहीं होता, इसलिए यह स्थूल-दृष्टि कहलाती है। यदि सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा के साक्षित्व का परिचय तुरंत ही हो जायगा। जिसकी सहायता से इन्द्रियाँ प्रकाशित होती हैं, जिसकी सहायता से इन्द्रियों को मन अर्थात् चित्तवृत्ति की सहायता मिलती है और जिसकी सहायता से सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वही परमात्मा है जो चित्त, मन, बुद्धि, पदार्थ और इन्द्रियों को जानता है, वही साक्षि-रूप परमेश्वर है।

आत्मा शब्द से उस वस्तु का बोध होता है, जो सर्वत्र परिपूर्ण हो अर्थात् जो सर्व-व्यापक हो। जैसे इस विश्व में कोई स्थान आकाश-रहित देख नहीं पड़ता, वैसे ही किसी विषय का कर्तृत्व या भोक्तृत्व आत्मा के बिना हो नहीं सकता। ऐसा कोई कार्य, व्यवहार या व्यापार नहीं है, जो आत्मा के बिना किया जा सके। इस आत्मा को जानने का यह उपाय है:—

यद्यज्ज्ञेयमिदं तत्त्वं नेति संत्यज्य युक्तिभिः।
प्राप्यावशिष्टचिन्मात्रं सोऽस्मि सोऽस्मीति भावय॥

—योगवासिष्ठ।

हम नेत्रेन्द्रिय से जो कुछ देखते हैं, श्रवणेन्द्रिय से जो कुछ सुनते हैं, त्वगिन्द्रिय से जो कुछ स्पर्श करते हैं, वाणी से जो कुछ बोलते हैं, घ्राणेन्द्रिय से जिसकी वास लेते हैं, हस्त-पादादि अवयवों से जो कुछ करते हैं, वह सब ज्ञेय कहलाता है। इसी तरह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि के योग से जो कुछ जाना जाता है, वह सब ज्ञेय कहलाता है। सम्पूर्ण ज्ञेय मात्र का त्याग कर देने पर जो शेष रहे, वही चिद्रूप आत्मा है। श्रुति में भी "नेति नेति" वाक्यों से सब ज्ञेय का निषेध ही किया गया है। इसलिए जो सब ज्ञेय के परे हो और जहाँ सब प्रकार के निषेधों की परमावधि हो जाय, वही आत्मा का निर्गुण स्वरूप है।

उक्त श्लोक में यह कहा गया है कि सब प्रकार के ज्ञेय पदार्थों का अनेक युक्तियों द्वारा त्याग कर देने पर जो शेष रहता है, वही परब्रह्म

है। अब इस बात का विचार करेंगे कि किन-किन युक्तियों से यह कार्य किया जा सकता है। सब से प्रथम तो भेद-बुद्धि का त्याग करना चाहिए। जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में भेद-बुद्धि जागृत रहेगी, तब तक उसका अज्ञान नष्ट हो नहीं सकता। सुवर्ण के नाना प्रकार के अलंकार देखने पर भी जैसे हमारे अन्तःकरण में यह दृढ़ विश्वास बना रहता है कि उन सब अलंकारों में सोने के सिवाय कुछ नहीं है; ठीक इसी तरह इस संसार में भिन्न-भिन्न-पदार्थों की नाम-रूपात्मक बाह्य उपाधियों का त्याग करके सर्वत्र अधिष्ठान की एकता या समानता ही की ओर ध्यान देना चाहिए। अभेद-बुद्धि के बिना आत्मा का परिचय होना असम्भव है। दूसरी युक्ति यह है—यह जानने का यत्न करना चाहिए कि जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति का द्रष्टा या साक्षी कौन है। इससे साक्षि-रूप आत्मा का अवश्य परिचय हो जायगा। जागृतावस्था में आत्मा इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग करता है। स्वप्नावस्था में केवल मन ही के सब व्यापार हुआ करते हैं—इन्द्रियाँ कुछ करती नहीं-और इन व्यापारों को आत्मा देखता रहता है। सुषुप्तावस्था में आत्मा केवल स्व-सुख में निमग्न रहता है। उस अवस्था में आत्मा नष्ट हो नहीं जाता; क्योंकि निद्रा हो जाने पर उस सुख की स्मृति बनी रहती है। यदि सुषुप्ति के समय आत्मा उपस्थित न होता, तो निद्रा के अनंतर सुखानुभव का स्मरण कौन कर सकता? अतएव यह बात सिद्ध है कि आत्मा उक्त तीनों अवस्थाओं में रह कर भी उन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। आत्मा के इस साक्षिरूप का निरंतर विचार करने से उसका यथार्थ परिचय अवश्य हो जायगा।

तीसरी युक्ति यह है:—यह जानने का यत्न करना चाहिए कि बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य अवस्थाओं में जो सुख और दुःख होता है, उसका ज्ञाता, द्रष्टा या साक्षी कौन है। यदि विचार किया जायगा तो यह बात अवश्य ध्यान में आ जायगी कि आत्मा उन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। इस प्रकार अनेक युक्तियों का अवलंब करके, सब ज्ञेय वस्तुओं का त्याग कर देने पर शेष आत्म-स्वरूप का परिचय होता है। उसी आत्म-

रूप के विषय में कहा है कि "सोऽस्मि सोऽस्मीति भावय" अर्थात् उसके संबंध में यह भावना करना चाहिए कि "मैं वही हूँ।" भावना एक वस्तु के स्थान में दूसरी वस्तु को मान लेना है। जैसे किसी विशिष्ट आकार के पत्थर को शिवलिंग कहते हैं और किसी अन्य आकार के पत्थर को गणपति, राम, कृष्ण, देवी, काली आदि कहते हैं। यहाँ पाषाण की मूर्ति के स्थान में अर्थात् पाषाण के पाषाणत्व का त्याग करके देवता की भावना की जाती है, इसी लिए वह फलदायक होती है। यदि मूर्ति में देवता की भावना की न जाय, तो वह केवल पत्थर है—उससे किसी का क्या लाभ होगा? इसी तरह जितने ज्ञेय पदार्थ हैं, उनके बाह्य-रूप का त्याग करके केवल अंतस्थ चिन्मूर्ति की ओर ध्यान देना चाहिए और यह भावना करनी चाहिए कि मैं वही हूँ। इसी भाव को आत्मार्चन कहते हैं। संपूर्ण ज्ञेय का निषेध हो जाने पर जो केवल ज्ञानमात्र अवशिष्ट रहता है, वही ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है कहा। है:—

ज्ञानं न भवतो भिन्नं ज्ञेयं ज्ञानात् पृथङ् न हि।
अतो न त्वितरं किंचित् तस्माद्भेदो न विद्यते॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ज्ञान हमसे (आत्मा से) कोई भिन्न वस्तु नहीं है—ज्ञान और हम एक-रूप हैं—आत्मा और ज्ञान एक ही बात है; इसी तरह ज्ञान से जिस पदार्थ का बोध होता है और जिसको ज्ञेय कहते हैं, वह भी हमसे (आत्मा से) भिन्न नहीं है—ज्ञेय और ज्ञान भी एक ही बात है—दोनों आत्म-रूप हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीनों आत्म-रूप हैं—इस प्रकार की एकात्म-रूप अर्थात् अभेद भावना को आत्मार्चन कहते हैं।

अब यह देखना चाहिये कि हम को जो ज्ञान होता है, उसकी क्रिया क्या है। यह बात सिद्ध है कि प्रत्येक पदार्थ में चैतन्य का अंश है और जिन इंद्रियों के द्वारा उन पदार्थों का ज्ञान होता है उनमें भी चैतन्य का अंश है। इंद्रिय-वृत्ति और पदार्थ दोनों में चैतन्य भरा हुआ है। जब इन दो चैतन्यों की भेट होती है अर्थात् जब इन दोनों की एक-रूपता

होती है, तभी पदार्थ का बोध या ज्ञान होता है और उससे सुख या दुःख का अनुभव होता है। यदि जड़ पदार्थों में चैतन्य न होता, तो हमको उनका कुछ भी ज्ञान या बोध न होता। अतएव जितने ज्ञेय पदार्थ हैं, उन सब में चैतन्य का अंश है। वह चैतन्य (अर्थात् ज्ञेय), उसका ज्ञान और उसको जाननेवाला (अर्थात् ज्ञाता) ये तीनों एक चैतन्य-रूप ही हैं—इनमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है—केवल शब्दों की भिन्नता है, अर्थ या भाव की भिन्नता नहीं है। आत्मार्चन से इस बात की प्रतीति हो जाती है कि ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता ये तीनों एक रूप हैं। जिन लोगों की केवल स्थूल-दृष्टि होती है उनका भेद-भाव कभी नष्ट नहीं होता। इसलिए आत्मार्चन के लिए अर्थात् एकात्म-स्वरूप का दर्शन करने के लिए अत्यंत सूक्ष्म-दृष्टि की आवश्यकता है।

इस पर यह शंका की जा सकती है कि यदि सारा भेद-भाव नष्ट कर दिया जाय, तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के अस्तित्व तथा उनके भिन्न-भिन्न कार्यों के संबंध में भी अभेद-भाव रखना होगा। यह कैसे हो सकेगा? इसका उत्तर यह है:— ब्रह्मदेव विश्व की उत्पत्ति करते हैं, विष्णु भगवान् विश्व का पालन करते हैं, रुद्र-रूप महादेव विश्व का संहार करते हैं; इस प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। इनके संबंध में भी यही अनुसंधान करना चाहिये कि मैं तद्रूप हूँ— मैं उनसे वस्तुतः भिन्न नहीं हूँ। मैं केवल ज्ञान-स्वरूप हूँ, मैं चिद्रूप हूँ। इसलिए मुझ ही में संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति होती है, रक्षा होती है और लय होता है। जब स्वानुभव से यह बात जान ली जाती है, तब मनुष्य के अंतःकरण में पूर्णत्व प्रकट हो जाता है—तब वह स्वयं सर्व-कर्त्ता और सर्वभोक्ता हो जाता है—तब उसको इस विश्व में अपने सिवाय और कुछ देख नहीं पड़ता। उस अवस्था में मनुष्य को यह भावना करना चाहिए :—

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमव्ययः।
न भूतं नास्ति नो भावी मत्तोन्यदिति भावय॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् इदं शब्द से सूचित दृश्य विश्व है, वह सब मैं ही हूँ और मैं ही सब विश्व हूँ, इस प्रकार जो आत्मानुसंधान किया जाता है, उसी को आत्मार्चन कहते हैं। अतएव मनुष्य को सदा यही अनुसंधान करते रहना चाहिए कि मैं अव्यय-रूप परमात्मा हूँ। यद्यपि रुचि-भेद के कारण कटु, अम्ल, मधुर आदि अनेक प्रकार के रस प्रतीत होते हैं, तथापि उन सब रसों में मूल वस्तु जल ही है। अज्ञानी मनुष्य केवल रसों की बाह्य भिन्नता से आकृष्ट और मोहित हो जाता है; परंतु जो ज्ञानी है, वह सब रसों में केवल मूल-वस्तु अर्थात् जल की ओर देखता है। यद्यपि सुवर्ण के अनेक आभूषण होते हैं, तथापि उनमें मूल-वस्तु सोना ही है। समुद्र के पृष्ठ पर यद्यपि अनेक तरंग और लहरें देख पड़ती हैं, तथापि वे समुद्र के जल से भिन्न नहीं हैं। इसी तरह संसार में यद्यपि अनेक पदार्थ भिन्न नाम और भिन्न रूप के कारण भिन्न भिन्न देख पड़ते हैं, तथापि उनमें अपना चैतन्त-रूप ओतप्रोत व्याप्त है। इस प्रकार अनेक युक्तियों के द्वारा अपनी विश्व-रूप स्थिति का अनुभव सदा करते रहना चाहिए। अर्थात् मनुष्यों को सदा आत्मार्चन करने में लगे रहना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य को इस संसार में अपने यथार्थ स्वरूप के सिवाय और किसी अन्य वस्तु का बोध या ज्ञान न होगा—उसको सर्वत्र आत्म-रूप ही देख पड़ेगा। इस आत्म-बोध का लक्षण यह है—

ग्राह्यग्राहकसंबंधे सामान्ये सर्वदेहिनाम्।
योगिनः सावधानत्वमेतदर्चनमात्मनः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक-भाव सब प्राणियों में होता है; सब साधारण लोगों को केवल इतना ही ज्ञान होता है कि विषय, ग्राह्य वस्तु है और जीव उसका ग्राहक है। परन्तु योगी या ज्ञानी पुरुष उक्त ग्राह्य-ग्राहक भाव में बहुत सावधान रहता है। उसकी दृष्टि केवल ग्राह्य वस्तु का (विषय) की ओर या केवल ग्राहक (की ओर या केवल ग्रहण करने की ओर नहीं होती; किन्तु उसकी दृष्टि इन तीनों को प्रकाशित करनेवाला जो

साक्षी आत्म-स्वरूप है, उसकी ओर रहती है। वह साधारण लोगों के समान केवल ग्राह्य-ग्राहक-भाव को नहीं देखता; किन्तु वह उस भाव के साक्षी को अर्थात् स्वयं अपने आपको देखता है। इसी सावधानता को आत्मार्चन कहते हैं। इस स्थिति में निरन्तर रहने का अभ्यास करनेवाले सत्पुरुष को पूर्णब्रह्म का अनुभव प्राप्त होता है।

आठवाँ प्रकरण

आत्म-निरूपण

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशया।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

—मुंडकोपनिषद्।

इस बात का वर्णन पिछले प्रकरण में किया गया है कि अपनी विश्वरूप स्थिति के अनुभव करने अर्थात् इस अखिल विश्व में आत्मा के सिवाय अन्य किसी वस्तु के अनुभव न करने को आत्मार्चन कहते हैं। अब इस प्रकरण में इस बात का विचार करना है कि सर्वव्यापी आत्मा का लक्षण क्या है और अपने अन्तःकरण को तदाकार—तल्लीन—आत्मरूप किस तरह करना चाहिए। इसलिए इस प्रकरण को आत्म-निरूपण नाम दिया गया है।

आत्मा के लक्षणों के विषय में यह लिखा है:—

तस्मिन्देहेन्द्रियादीनां संघाते स्फुरति स्वतः।
अहं सोऽहमयं भावः स जीवो मलगुंठितः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् देहेन्द्रियों के समुदाय में जो स्वयं-सिद्ध स्फुरण-रूप से प्रकट होता है और जिसमें 'अहं, सोहं, अयं' ये तीनों प्रकार के भाव होते हैं, वही आत्मा कहलाता है। अहं शब्द देह के सम्बन्ध में उपयुक्त होता है, सोहं शब्द मन-सहित सब इन्द्रियों के समुदाय का वाचक है और अयं शब्द से आत्मा का बोध होता है। अहंकार-मिश्रित

मलिनता का त्याग कर देने से यथार्थ जीव-तत्त्व का रहस्य समझ में आ जाता है। यह आत्मा एक ही होकर अनेक भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रकट होता है। इस विषय में कहा है:—

मणितोयघृतादर्शेष्वेकमप्याननं यथा।
भात्यनेकमिवात्मापि तथा धीष्वनुबिम्बितः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् मणि, जल, घृत और दर्पण को अपने सामने रखकर यदि हम अपना मुख उन पदार्थों में देखना चाहें, तो हमारा एक ही मुख चार प्रकार का देख पड़ेगा। यहाँ विचार करने से यही बोध होता है कि यद्यपि हमारा मुख एक ही है, तथापि भिन्न भिन्न पदार्थों के योग से उसमें भिन्नता देख पड़ती है। यदि मणि का रंग लाल, नीला या हरा होगा, तो हमारा मुख भी उसी रंग का देख पड़ेगा। यदि दर्पण में कुछ मलिनता होगी, तो वही मलिनता मुख में भी देख पड़ेगी। कभी कभी दर्पण में मुख का विलक्षण आकार देख पड़ता है—कभी कभी तो उसमें बहुत ही कुरूपता देख पड़ती है। सब लोग जानते हैं कि यह कुछ मुख का दोष नहीं है, यह दर्पण का दोष है। इस उदाहरण से यह बात सिद्ध होती है कि पदार्थों की भिन्नता से एक ही मुख अनेक प्रकार का देख पड़ता है। इसी तरह जब एक ही आत्मा भिन्न भिन्न बुद्धि में प्रतिबिंबित होता है, तब वह अनेक रूपों से प्रकट होता है। सर्व-साधारण लोग भिन्न उपाधि में व्यक्त होनेवाले आत्मा को ही सत्य मान कर सदा भ्रम के फंदे में फँसे रहते हैं! यह बात एक साधारण दृष्टान्त से मालूम हो सकती है कि बुद्धि-भेद के कारण आत्मा को अनेकत्व कैसे प्राप्त हो जाता है। यदि कुछ घड़े जल से भर कर धूप में रख दिये जायँ, जो उन सब घड़ों में सूर्य का प्रतिबिंब देख पड़ेगा। अर्थात् एक सूर्य के अनेक सूर्य देख पड़ेंगे। परन्तु विचारवान् और ज्ञानी पुरुष इस अनेकत्व को सत्य नहीं मानते। इसी तरह अनेक प्रकार की बुद्धियों में प्रतिबिंबित होने के कारण यद्यपि आत्मा के अनेक रूप देख पड़ते हैं, तथापि आत्मज्ञानी पुरुष का यही विश्वास होता है कि आत्मा एक है।

अब यह देखना चाहिए कि उपाधि के कारण शुद्ध वस्तु में मलिनता क्यों आ जाती है—स्वयं-प्रकाश वस्तु पर-प्रकाश क्यों हो जाती है:—

धूलिधूमांबुदैर्यद्वन्मलिनीक्रियते नभः।
परामृष्टस्तथैवात्मा विशुद्धः प्राकृतैर्गुणैः॥

—योगवासिष्ठ।

यद्यपि आकाश स्वयं-शुद्ध और निर्मल है, तथापि धूल से उसका रंग धूसर हो जाता है। कभी कभी वह धुएँ के कारण धूम्र-वर्ण का देख पड़ता है और कभी कभी वह सफेद, काले या श्याम बादलों का-सा हो जाता है। परन्तु यथार्थ में आकाश स्वयं किसी रंग का नहीं है; वह न तो धूसर है, न धूम्र-वर्ण है और न मेघ-वर्ण। केवल धूल, धुआँ और मेघ के कारण वह मलिन देख पड़ता है। इसी तरह यद्यपि आत्मा स्वयं-शुद्ध और बुद्ध है, तथापि प्रकृति के तीन गुणों के योग से वह अशुद्ध और अबुद्ध देख पड़ता है। इन गुणों को सत्व, रज और तम कहते हैं। इनके कारण निर्गुण और शुद्ध आत्मा त्रिविध गुणों से व्याप्त जान पड़ता है। जिस व्यक्ति में सत्वगुण की अधिकता होती है उसे सात्विक कहते हैं, जिसमें रजोगुण की अधिकता होती उसको राजस कहते हैं; और जिसमें तमोगुण की अधिकता होती है उसको तामसी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा शुद्ध और स्वयं-प्रकाश है, तथापि उक्त तीन गुणों के संग से वह मलिन और पर-प्रकाश देख पड़ता है।

आत्मा स्वयं स्थिर है। परन्तु केवल देह-संग से उसमें चंचलता प्रतीत होने लगती है। इस विषय में कहा है:—

आधंतवति देहेऽसौ तथाभूत इवेक्ष्यते।
वीचिवत्यंभसि स्तंभो यथाभासचलश्चलः॥

—योगवासिष्ठ।

विचार करनेवाले सब लोग जानते हैं कि यह शरीर क्षणभंगुर और नश्वर है; क्योंकि यह आदि-अन्त-युक्त है। परन्तु अज्ञानता के वश होकर साधारण लोग इस बात को भूल जाते हैं और जन्म, मृत्यु आदि शारीरिक

धर्म आत्मा में आरोपित करने लगते हैं। इस बात को समझाने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है:—किसी विस्तृत जलाशय में एक स्तम्भ है। वस्तुतः वह अचल और स्थिर है। परन्तु लहरों के कारण वह हिलता हुआ देख पड़ता है। दूसरा उदाहरण चन्द्रबिम्ब का लीजिए। जब आकाश में बादल चन्द्रबिम्ब पर से जाते हुए देख पड़ते हैं, तब यह मालूम होता है कि चन्द्रमा ही दौड़ रहा है। सारांश यह है कि वस्तुतः आत्मा में शरीर के कोई विकार नहीं हैं, परन्तु केवल उपाधि के संग से ये विकार उसमें स्थापित किये जाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब कि आत्मा अजड़ है और देहेन्द्रियादि उपाधियाँ जड़ हैं, तब जड़ वस्तु के संग से अजड़ वस्तु को तद्रूपता कैसे प्राप्त हो जाती है? अथवा अनात्मा के धर्म आत्मा पर कैसे आरोपित होते हैं? किंवा सत्य वस्तु की संगति से असत्य वस्तु सत्य के समान क्यों प्रतीत होती है? इस बात को समझाने के लिए अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। मृग-जल का उदाहरण लीजिए—सूर्य की किरण सत्य हैं। उनमें असत्य जल का भास होता है। इसलिए वस्तुतः जल का अभाव होने पर भी वहाँ एक बहुत बड़ा जलाशय प्रतीत होता है। इसी को असत्य वस्तु में सत्य का आभास कहते हैं। अब यह जानना चाहिये कि जड़ वस्तु के संग से अजड़ वस्तु में जड़त्व कैसे आ जाता है:—

अग्निसंगाद्यथा लोहमग्नित्वमुपगच्छति।
आत्मा संगात्तथा गच्छत्यात्मतामिंद्रियादिकम्॥

—योगवासिष्ठ।

लोहा जड़ और अप्रकाश वस्तु है। परन्तु जब यह अग्नि के संग से तप्त हो जाता है, तब वह अग्निमय, प्रकाशमान देख पड़ता है। इसी तरह देहेन्द्रियादि जड़ पदार्थ स्वयं अप्रकाश और मिथ्या-भूत हैं; परन्तु आत्मा के संग से वे आत्मा ही के समान प्रतीत होते हैं अर्थात् असत्य वस्तु केवल सत्य वस्तु के संग से सत्य के समान मालूम होती है। जब मूल-वस्तु—सत्य-वस्तु—के अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब

यह मिथ्याभास आप-ही-आप नष्ट हो जाता है और केवल सत्य-वस्तु देख पड़ने लगती है। सारांश यह है कि मूल अधिष्ठान-रूप आत्मा का सम्यग्ज्ञान प्राप्त होते ही मिथ्या-भूत देहेन्द्रियादि का आभास नष्ट हो जाता है। इस पर यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि देहेन्द्रियादि सब जड़ और असत्य पदार्थ हैं, तो उनके द्वारा उस आत्मा का ज्ञान कैसे होगा जो स्वयं सत्य और अजड़ है? इस शंका का समाधान "शाखा-चन्द्रन्याय" से किया जा सकता है। जिस प्रकार सूक्ष्म चन्द्र का अवलोकन करने के लिए वृक्ष की शाखाओं का इशारा बस होता है, उसी प्रकार स्थूल देहेन्द्रियादि के सूक्ष्म दृष्टि-द्वारा आत्मा का भी बोध किया जा सकता है।

जड़ पदार्थ की संगति से अजड़ पदार्थ जड़वत् कैसे हो जाता है और जड़ पदार्थ अजड़ पदार्थ के समान कैसे प्रतीत होता है, सो देखिए :—

आत्मनो जडसंगास्यादनात्मत्वं जडस्य तु ॥
स्यादात्मसंगादात्मत्वं जलाग्न्योः संगवन्मिथिः ॥

—योगवासिष्ठ।

जब जड़ शरीर की संगति से अजड़ आत्मा में भी जड़त्व देख पड़ने लगता है, तब ऐसा मालूम होता है कि शरीर ही आत्मा है। यह उन दोनों की परस्पर संगति का परिणाम है। जल और अग्नि की समीपता से भी यही परिणाम प्रगट होता है। जब अग्नि और जल का संयोग होता है, तब अग्नि में शीतलता आ जाती है और जल इतना उष्ण हो जाता है कि उसको स्पर्श करना मानो अग्नि को स्पर्श करने के समान कठिन और असम्भव है। यह बात सब लोगों को मालूम है कि पुष्पमाला के साथ धागा भी मनुष्य के मस्तक पर पहुँच जाता है —गुणवान् की संगति से नीच पदार्थ को भी महत्त्व प्राप्त हो जाता है। इन उदाहरणों पर से यह बात सिद्ध है कि देहेन्द्रियादि की निरन्तर संगति से आत्मा तद्रूप ही देख पड़ता है। जड़ पदार्थों से भिन्न करके उसके शुद्ध स्वरूप को जानना बहुत कठिन और चातुर्य का काम है।

जिन उपाधियों की संगति से आत्मा केवल उपाधि-रूप देख पड़ता है, उनकी जब समुचित परीक्षा की जाती है—जब उनके यथार्थ रूप का सूक्ष्म विचार किया जाता है—तब आत्मा का शुद्ध-स्वरूप व्यक्त होता है यद्यपि आत्मा जड़ पदार्थों के साथ अत्यन्त संलग्न हो गया है—तन्मय या तद्रूप हो गया है, यथापि विवेक-द्वारा उसका शुद्ध स्वरूप जाना जा सकता है। इसका वर्णन इस वचन में किया गया है:—

इक्षौ गुडस्तिले तैलं काष्ठे वन्निर्हविष्यथः।
धेनावाज्यं व पुण्यात्मा लभ्यते चै व यत्नतः॥

—योगवासिष्ठ।

जैसे ईख से गुड़ और तिल से तैल निकालते हैं; काष्ठ को मंथन करके जैसे उसमें से अग्नि उत्पन्न करते हैं; पाषाण के चूर्ण का रस बना कर उसमें से जैसे लोहा बनाते हैं; गौ का दूध दुह कर जैसे उसमें से घी निकाला जाता है; वैसे ही इस देह में रहनेवाला आत्मा विवेक-रूप महाप्रयत्न करने से प्राप्त होता है। उक्त वचन में 'चैव' शब्द से यह बात सूचित होती है कि महायत्न किये बिना फल की प्राप्ति असम्भव है। यद्यपि भ्रम के कारण यह स्वयंसिद्ध और सर्वव्यापक आत्मा पदार्थ रूप देख पड़ता है, तथापि विचार करने पर बोध हो जाता है कि वह सर्वत्र एक ही है। इस विषय में यह दृष्टान्त विचार करने योग्य है:—

स्फटिकात्मनि नीरंध्रे स्थितं संवीक्ष्यते यथा।
तथा सर्वपदार्थेषु चिद्रूपः परमेश्वरः॥

—योगवासिष्ठ।

एक स्फटिक मणि को हाथ में लेकर देखिए। मालूम होगा कि उसमें कहीं छेद नहीं है; वह घन पदार्थ है। यथापि उसमें भी आकाश व्याप्त है। यदि उसमें आकाश न हो तो उसमें कभी छेद किया न जा सकेगा। परन्तु यह सब लोग जानते हैं कि उस मणि में छेद किया जा सकता है। इस पर से यह बात सिद्ध होती है कि उस घन-रूप मणि में आकाश अत्यन्त सूक्ष्मरूप से भरा है। यही कारण है कि जब हम उस मणि को हाथ में लेते हैं, तब उसमें भरे हुए आकाश का ज्ञान हमको

होता है। जैसे उक्त बात सत्य है, वैसे ही यह बात भी सत्य है कि अत्यन्त सूक्ष्म विचार करने पर सब पदार्थों में आत्मा की प्रतीति होती है। यह बात सूक्ष्म विचार और बहुत यत्न किये बिना कभी प्रतीत हो नहीं सकती कि इस जगत् के सारे पदार्थों में एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही निरन्तर व्याप्त है।

यदि यह सिद्धान्त है कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप और सर्वव्यापी है, तो उसकी चित्कला का प्रकाश, वृक्ष-पाषाण आदि जड़ पदार्थों में देख क्यों नहीं पड़ता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चित्स्वरूप का प्रकाश प्रकट होने के लिए अनुकूल उपाधि या भूमिका की आवश्यकता है। इस अनुकूल भूमिका को शुद्ध-बुद्धि कहते हैं। जो पदार्थ जड़ और मलिन हैं, उनमें कुछ प्रकाश देख नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ यद्यपि सूर्य सब पदार्थों पर समान-रूप से प्रकाशित होता है, तथापि काँच और पत्थर में जो प्रकाश होता है, उसमें बहुत भेद है। काँच में ग्रहण-शक्ति बहुत होती है, सूर्य की किरणों की वृद्धि के लिए यह पदार्थ अनकूल है, इस लिए काँच में सूर्य का बहुत प्रकाश देख पड़ता है। परन्तु पत्थर में वह अनुकूल गुण नहीं है, इसलिए उसमें प्रकाश देख नहीं पड़ता। इस बात को समझाने के लिए और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि पदार्थों के स्वाभाविक गुण-भेद के कारण सूर्य के प्रकाश में भेद देख पड़ता है। जो बात सूर्य-प्रकाश के सम्बन्ध में कही गई है, वही आत्मा के विषय में कहीं जा सकती है। सब इन्द्रियों से बुद्धि अधिक शुद्ध और सूक्ष्म है, इसलिए उसमें आत्मा का तत्काल प्रकाश होता है। परन्तु वृक्ष, पाषाण आदि अन्य पदार्थ बुद्धि-हीन अर्थात् अत्यन्त जड़ हैं, इस-लिये उनमें ज्ञान-प्रकाश देख नहीं पड़ता। इसमें संदेह नहीं कि आत्मा शुद्ध और अशुद्ध या सूक्ष्म और जड़ दोनों प्रकार के पदार्थों से समान-रूप से व्याप्त है, तथापि उसका प्रकाश प्रकट करने के लिए शुद्ध वस्तु ही की आवश्यकता है, जैसे मिट्टी का घड़ा सूर्य-किरणों का प्रकाश प्रकट कर नहीं सकता, वैसे ही वृक्ष, पाषाण आदि जड़-पदार्थ आत्मा के प्रकाश को प्रकट कर नहीं सकते।

उक्त विवेचन से यह बात मालूम हुई कि केवल शुद्ध और सूक्ष्म दार्थ में—केवल बुद्धि में—केवल अन्तःप्रदेश में आत्मा प्रकाशित ाता है; परन्तु इस पर से यह न समझना चाहिए कि आत्मा का प्रकाश· ेवल बुद्धि के भीतर ही होता है और वह उसके बाहर प्रकट हो नहीं कता। आत्मा का विशेष धर्म यही है कि वह अन्तर्बाह्य, भीतर बाहर, र्वत्र प्रकाशित होता है। उदहरणार्थ काँच का एक बरतन लीजिए और उसमें दीपक लगाकर रख दीजिए। उस दीपक का प्रकाश सिर्फ उस काँच के बरतन के भीतर ही न रह जायगा, किन्तु वह उसके बाहर भी अपना प्रकाश प्रकट करेगा। इसी तरह जब बुद्धि में आत्मा प्रकाशित होता है, तब वह प्रकाश वहीं रह नहीं जाता; किन्तु उसके बाहर होकर अन्य सब पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।

अब एक और शंका उत्पन्न होती है। हमको यह सारा विश्व दृष्टि-गोचर होता है और देहेन्द्रियादि का प्रत्यक्ष भास होता है; ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जाय कि एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है और जो कुछ देख पड़ता है, वह सब मिथ्याभास है? इस विषय में यह वचन देखिए:—

तत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिमामात्ररूपिणी।
रज्वां भुजंगवद्भाति स्वयमात्मा सदोदितः॥

—योगवासिष्ठ।

रज्जु के विषय में जैसे सर्प का भास होता है, परन्तु यथार्थ में वहाँ सर्प नहीं रहता; वैसे ही सदोदित और सर्व-व्यापी आत्मा में प्रतिमा-मात्र जगत् का रूप देख पड़ता है, परन्तु वह सत्य नहीं है—केवल मिथ्या-भ्रम है। आकाश की ओर देखने से चारों ओर नील-वर्ण देख पड़ता है; परन्तु यथार्थ में आकाश और नील-वर्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है। विज्ञान-शास्त्रों में इसको दृष्टि-दोष या नेत्र-भ्रम कहते हैं। इसी तरह यह विश्व भी मिथ्या भ्रम है, केवल एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। उस आत्मा में देहेन्द्रियादि दृश्य पदार्थों का जो भास होता है, उसको मिथ्याभास जानना चाहिए।

अब इस बात का विचार किया जायगा कि ऐसे सर्वव्यापी आत्मा

का लक्षण क्या है और अपरोक्ष-रीति से आत्मज्ञान तथा तद्रूपता होने पर संपूर्णता किस प्रकार सिद्ध होती है। पहले आत्मा के लक्षण का वर्णन करेंगे।

आद्यंतरहितः सत्यश्चिद्रूपो निर्विकल्पकः।
आत्मसंपूरिताकाशो जीवस्याद्यः परात्परः॥

—योगवासिष्ठ।

जो आदि, अंत और मध्य रहित है; जो सत्य, चिद्रूप और संकल्प विकल्प-रहित है, जो जीवात्मा का मूल-कारण है; यह जो परात्पर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है; उसे आत्मा कहते हैं। यह आत्मा अविकारी है। विश्व, आत्मा का परिणाम नहीं है। जिन्होंने अध्यात्म शास्त्र का श्रवण और मनन किया नहीं है और जिनको आत्मानुभव प्राप्त नहीं हुआ है, वे भले ही कहें कि विश्व आत्मा का परिणाम है। परन्तु जिन लोगों को सद्गुरु की कृपा से अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे उक्त बात को कदापि सत्य न मानेंगे। आत्मा का ज्ञान केवल दृढ़ अनुभव से ही प्राप्त होता है। इससे लिए यह वचन प्रमाण है:—

आत्माऽनुभवमात्रात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः।
प्रकाशानंदचैतन्याद्व्यतिरिक्तो नलौण्यवत्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् आत्मा का ज्ञान केवल अनुभव-जन्य है। आत्मा इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, इसलिए न तो वह देने की वस्तु है और न लेने की। आत्मानुभव अवर्णनीय है। जब आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है, तब किसी दृश्य पदार्थ का यत्किंचित् स्फुरण नहीं होता। वृत्तिरूप ज्ञान-स्वरूप में लीन हो जाता है; ग्राह्य-ग्राहक-भाव नष्ट हो जाता है; और ज्ञेय ज्ञान की त्रिपुटि का अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्था में अज्ञान का नाम तक नहीं रहता—ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी वस्तु का भान नहीं रहता। जो कुछ स्व-स्वरूप ज्ञान है, उसी का अनुभव होता है, इसलिए आत्मा केवल अनुभव-रूप है। इसके अतिरिक्त आत्मा की सर्व-व्यापकता-के विषय में पहले ही उल्लेख किया गया है। जैसे आकाश

सर्वव्यापी है—ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ आकाश न हो, वैसे ही आत्मा सब पदार्थों का मूल आधार है—यह सारा विश्व उसी में भरा हुआ है। इस आत्मा में प्रकाश, आनन्द और चैतन्य तीनों अभिन्न-रूप से रहते हैं। यह बात अनेक दृष्टांतों से समझा दी जा सकती है। देखिए, अग्नि और उष्णता दोनों अभिन्न हैं—अग्नि की उष्णता भिन्न कभी की नहीं जा सकती; क्योंकि जिसे उष्णता कहते हैं वही अग्नि है और जिसे अग्नि कहते हैं वही उष्णता है। इसी तरह वायु और उसकी गति में कुछ भेद नहीं है, आकाश और अवकाश में कुछ भेद नहीं है, जल और आर्द्रता में कुछ भेद नहीं है। इन उदाहरणों से यह बोध हो सकता है कि प्रकाश, आनन्द और चैतन्यता से आत्मा भिन्न नहीं है। इन तीनों से केवल एक आत्मा ही का अनुभव होता है।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त आत्मा में नाना प्रकार के भेद-भाव हैं ही नहीं। इसीलिए कहा है—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः।
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि॥

—निर्वाणदर्शक।

"मेरा कोई वर्ण नहीं, मेरी कोई जाति नहीं, मेरा कोई आश्रम नहीं; ध्यान, धारणा आदि योग के किसी अंग में भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं सब वस्तुओं से अलिप्त हूँ।" यदि इस आत्मा का वर्णन करना हो तो वह इस प्रकार किया जा सकता है:—

ब्रह्मांडे च यथा वायुः सर्वभूतगतस्तथा।
स एव भगवानात्मा तनुमुक्तो व्यवस्थितः॥

—योगवासिष्ठ।

जैसे वायु ब्रह्मांड में सर्वत्र संचार करता रहता है, परन्तु वह किसी वस्तु के संग से लिप्त हो नहीं जाता; जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु वह किसी वस्तु में लिप्त नहीं है; वैसे ही यह सर्व-व्यापक आत्मा निर्मल और असंग है। श्रुति में कहा है कि आत्मा षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न है धर्म, यश, श्री, लक्ष्मी, वैराग्य और ज्ञान को षड्गुणैश्वर्य कहते हैं

इसी ऐश्वर्य को भग भी कहते हैं, इसलिए जो भग-युक्त है, उसको भगवान् कहते हैं। परमात्मा भी उन्हीं षड्गुणों का अंगीकार करके परिपूर्णत्व से रहता है। अर्थात् उन दोनों का एक ही रूप है। इस प्रकार आत्मानुभव प्राप्त करके जो मनुष्य जीवन्मुक्त होता है, उसी को आत्म-लाभ होता है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यदि आत्मा का अनुभव केवल जीवन्मुक्तावस्था ही में होता है, तो क्या वह अन्य स्थान या स्थिति में नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा सर्वत्र, सब स्थानों और सब अवस्थाओं में एक-रूप होकर व्याप्त है, तथापि अज्ञान या भ्रम के कारण उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। देखिए, जाग्रति और स्वप्नावस्था में भी आत्मा का अस्तित्व है, परन्तु वहाँ देहेन्द्रियों के समुदाय में वह इतना निमग्न हो जाता है कि उसका स्मरण भी नहीं होता। उसके स्वरूप का बोध कुछ अंश में सुषुप्ति के समय होता है। इससे भी अधिक आत्मा का ज्ञान मुक्तावस्था में प्रकट होता है। सारांश यह है कि प्रतिकूल उपाधि के कारण आत्मा का ज्ञान होने में बाधा होती है। मुक्तावस्था में प्रतिकूल उपाधि का बिलकुल नाश हो जाता है, इसलिए वहाँ आत्मा के यथार्थ स्वरूप का पूर्ण अनुभव और ज्ञान होता है।

आत्मा के लक्षण भलीभाँति जान लेने पर अपरोक्ष रीति से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति और तल्लीनता के अनुभव के लिए मुक्तावस्था की आवश्यकता है। जब मनुष्य इस अवस्था में निरन्तर रहने लगता है, तब उसको ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी पदार्थ का भान नहीं होता, सब दृश्य उसको चैतन्यमय देख पड़ता है और वह सदा परमानन्द में निमग्न रहता है। इस अवस्था में चित्कला की जो प्रतीति होती है, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

एवं चिद्गगनाभोगे भूषणे व्योम्नि भास्करे।
धराविवरकोशस्था सैव चित्कीटकोदरे॥

—योगवासिष्ठ।

सब जगह चित् अर्थात् ज्ञान ही भरा है। स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल,

आकाश आदि सब जगह चिद्रूप ही व्याप्त है। कहाँ तक कहें, पृथ्वी के विवर में और पशु, पक्षी, कीटक आदि के उदर में भी वही चिद्रूप अर्थात् ज्ञान भरा हुआ है! इस प्रकार का चिद्रूप जिसके अन्तःकरण में प्रकट होता है, उसको मुक्त-पुरुष कहते हैं। ऐसे सत्पुरुष के लिए बंध और मोक्ष कुछ नहीं है। जब कि उसके अन्तःकरण में एक ब्रह्म या आत्मा के सिवाय अन्य किसी वस्तु की भावना ही उत्पन्न नहीं होती, तब बंध और मोक्ष का भेद-भाव कौन करेगा? यदि यह कहा जाय कि उसका आत्मा अज्ञान से बद्ध होता है, तो यह बात संभवनीय नहीं है; क्योंकि जिस अवस्था में वह वहाँ स्थित है, वहाँ अज्ञान का नाम निशान भी नहीं है। क्या वंध्या-पुत्र की कोई जन्म-पत्रिका बनाता है? क्या स्वप्न में देखे हुए शत्रु से कोई जाग्रतावस्था में डरता है? क्या मृग-जल में डूब जाने का कोई खेद करता है? नहीं। इसी तरह मुक्तावस्था में आत्मा अज्ञान से कभी बद्ध हो नहीं सकता। अब यह देखना चाहिए कि ज्ञान के योग से आत्मा की सर्वव्यापकता कैसी देख पड़ती है। निम्न वचन में इस विषय का वर्णन किया गया है:—

ब्रह्म चिद् ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरंपरा।
ब्रह्माहं ब्रह्म मच्छत्रुर्ब्रह्म सन्मित्रबांधवाः॥

—योगवासिष्ठ।

जो कुछ चित्स्वरूप है वही परब्रह्म है। स्वर्ग, मृत्यु, पाताल सब ब्रह्म है। पर्वतादि सब दृश्य-सृष्टि ब्रह्म है। मैं स्वयं ब्रह्म-रूप हूँ। मेरे शत्रु भी ब्रह्म-रूप हैं। इस प्रकार की ब्रह्म-भावना तभी जाग्रत रहती है, जब कि आत्मज्ञान की पूर्णता और दृढ़ता निरन्तर हो जाती है।

अब इस बात का विचार किया जायगा कि बंध और मोक्ष का वास्तविक स्वरूप क्या है। यथार्थ में चैतन्य का जो स्वरूप है, वह न तो बद्ध है और न मुक्त है। जब दृश्य पदार्थों के साथ तादात्मता हो जाती है, तब उसको बद्धावस्था प्राप्त होती है और जब चैतन्य दृश्य पदार्थों से अलिप्त रहता है, तब उसको मुक्त कहते हैं। जब चित्त और चैतन्य की भेंट होती है, तब यह कल्पना उत्पन्न होती है कि मैं देह

हूँ—इसी को चिदचिद्-ग्रन्थि कहते हैं। जब यथार्थ ज्ञान और विवेक-द्वारा इस चिदचिद्ग्रन्थि का छेदन—नाश—किया जाता है, तब ब्रह्म-स्थिति प्राप्त होती है, जिसको मुक्ति कहते हैं।

वेदान्त-शास्त्र का यही मथितार्थ है कि जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही है। छान्दोग्य-उपनिषद् में यही कहा है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" ऐसी अवस्था में मैं और तू, मेरा और तेरा आदि अनेक भेद-भाव कल्पित करना केवल अज्ञानता है। कहा भी है कि:—

यदस्ति तन्नास्ति तदात्मरूपं, यच्चान्यतो भाति न चान्यदस्ति।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला, ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषा विकल्पः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जो जो पदार्थ हम देखते हैं, या जो जो पदार्थ भासमान होता है, वह सब चैतन्य ही है। आत्मा के व्यतिरिक्त जो जो दृश्य भासमान होता है अर्थात् इस बात का जो ज्ञान होता है कि अमुक वस्तु नहीं है, वह सब आत्म-स्वरूप है। व्याप्य, व्यापकता और व्याप्यांश; ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता; ग्राहक ग्रहण और ग्राह्य आदि जितने प्रकार की त्रिपुटियाँ हैं, वे सब चिदानन्दमय हैं। इन्द्रियाँ, देह अहंकार, मन, बुद्धि आदि सब चिद्रूप हैं। ये सब पदार्थ केवल ज्ञान-रूप, कल्पित और प्रतीत होते हैं। इस विषय में पहले अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं। यहाँ एक और दृष्टान्त दिया जाता है। हलवाई शक्कर के हाथी, घोड़े, ऊँट आदि अनेक जानवर और राजा, वजीर, सवार, प्यादा आदि अनेक मनुष्यों की आकृतियाँ बनाता है। अज्ञानी बालक केवल भिन्न-भिन्न आकार ही की ओर देखते और भिन्न-भिन्न नामों ही में आसक्त रहते हैं, परन्तु विचारवान् पुरुष उन सब भिन्न आकृतियों और नामों में केवल शक्कर ही का रूप देखते हैं। इसी तरह विश्व में यद्यपि अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि उनमें एक चैतन्य समान-रूप से व्याप्त है। इस विषय में श्रुति भी कहती है:—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

अर्थात् जो सब पदार्थों को प्रकाशित करता है (दिव् प्रकाशित करना, इस धातु से देव शब्द बना है), जो सब भूतों में व्याप्त है, जो इन्द्रियों को अगम्य है, जो सब पदार्थों के भीतर संचार करता है, जो बुद्धि को प्रेरित करता है, जो सब पदार्थों में चेतना या गति उत्पन्न करता है, जो सब भूतो का निवास-स्थान है वह आत्मा है। यह आत्मा केवल साक्षि-रूप है। यद्यपि वह स्वयं कुछ भोग नहीं भोगता तथापि वह औरों से सब भोग भुगताता है। जैसे सूर्य आकाश में अलिप्त रहकर पृथ्वी पर सब पदार्थों में चेतना उत्पन्न करता है, वैसे ही यह आत्मा स्वयं अलिप्त रहकर सब व्यापार करता है। इतना होने पर भी आत्मा केवल और निर्गुण है। इस विषय में श्रुति के अनेक वचन हैं:—

एकमेवाद्वतीयं ब्रह्म।
नेह नानास्ति किंचन।
सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।

इत्यादि वचनों से ब्रह्म के विषय में नानात्व का आरोप नष्ट हो जाता है और यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि आत्मा केवल एक है। ब्रह्म के सिवाय अणुमात्र भी अन्य पदार्थ नहीं है। जो इस इस प्रकार की ब्रह्म-स्थिति को जानता है और उसी स्थिति में सदा निमग्न रहता है, वह सारे जगत् में अपने सिवाय और कुछ नहीं देखता। देवनाथ कवि ने ठीक कहा है—'आप-रूप नयनों में छाया, मेरा मैं जानूँ।'

यहाँ तक आत्मा के स्वरूप लक्षण का निरूपण किया गया। उस आत्मा का अनुभव प्राप्त करके जो तद्रूप स्थिति में निरन्तर रहता है, उसी को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्ति का वर्णन अगले प्रकरणमें किया जायगा।

नौवाँ प्रकरण

जीवन्मुक्ति

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

—योगवासिष्ठ।

पिछले प्रकरण में जो आत्म-निरूपण किया गया है, उसको पूर्ण रीति से ध्यान में रख कर और यथार्थ आत्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके यदि उसी स्थिति में रहने का अभ्यास किया जाय, तो इस बात का साक्षात् अनुभव होने लगेगा कि एक सच्चिदानंद परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। इस स्थिति की दृढ़ता, स्थिरता और पूर्णता हो जाने पर जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होती है। जीवन्मुक्त के लक्षण अनन्त और अपार हैं। इस प्रकरण में मुख्य मुख्य कुछ लक्षणों ही का वर्णन किया जायगा। प्रत्येक जिज्ञासु पुरुष तथा मुमुक्षु साधक का यह कर्तव्य है कि वह इन लक्षणों का बार-बार चिंतन करे और अपनी मनोवृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके इस बात की जाँच करता रहे कि जीवन्मुक्त के लक्षणों में और अपनी मनोवृत्तियों में कहाँ तक मेल है। इसमें सन्देह नहीं कि जब तक साधुजनों का साक्षात् समागम न होगा, तब तक इस बात का पूर्ण बोध न हो सकेगा कि जीवन्मुक्त पुरुष संसार में रह कर किस प्रकार बर्ताव करता है और उसके लौकिक आचरणों का रहस्य क्या है। यह बात सच है कि ग्रन्थों में लिखा हुआ केवल शाब्दिक ज्ञान प्राप्त कर लेने से विशेष लाभ न होगा। जैसे रासायनिक अथवा वैज्ञानिक प्रयोग (Experiment) जब तक प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते, तब तक रसायन-शास्त्र या विज्ञान के तत्त्वों का पूर्ण रीति से बोध नहीं होता; वैसे ही साधु-समागम के बिना जीवन्मुक्त पुरुषों के लक्षणों का यथार्थ रहस्य ध्यान में नहीं आ सकता। तथापि ग्रन्थों द्वारा जीवन्मुक्त साधु-पुरुषों के लक्षणों से परिचित होने की भी बहुत आवश्यकता है। यदि भाग्यवशात् कभी किसी साधु-पुरुष का दर्शन और समागम हो जायगा, तो इन लक्षणों के पूर्व परिचय से जिज्ञासु मनुष्य को जीवन्मुक्तावस्था में रहनेवाले साधु पुरुष के आचरण का रहस्य भली भाँति समझ लेने में अवश्य सहायता मिलेगी।

अब जीवन्मुक्ति किसे कहते हैं, जीवन्मुक्ति के लक्षण क्या हैं, इस विषय का विवेचन करने के पहले संक्षेप में यह जान लेना आवश्यक है कि आत्म-बोध किसे कहते हैं।

तत्त्वावबोध एवैकः सर्वाशातृणपावकः ।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥
—योगवासिष्ठ ।

उक्त वचन में 'तत्त्वावबोध' से अपरोक्ष ज्ञान का अर्थ ग्रहण करना चाहिए । जब यह ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है, तब सब वासना-रूप आशाएँ तृण के समान जल कर भस्म हो जाती हैं । इसी प्रकार के आत्मबोध को समाधि कहते हैं । यों ही आँखें बन्द करके चुपचाप बैठे रहना समाधि का लक्षण नहीं है । जिसके अन्तःकरण में आत्मबोध का प्रकाश हुआ है, वह अन्य जनों के साथ व्यवहार करते समय भी सार्वत्रिक ब्रह्म-स्वरूप को भूलता नहीं । उसको सारा जगत् कैसे देख पड़ता है सो सुनिए:—

चिदाकारमिदं सर्वं जगदित्येव भावयन् ।
यस्तिष्ठत्युपशांतात्मा स ब्रह्मकवचः सुखी ॥
—योगवासिष्ठ ।

जिसको आत्म-बोध प्राप्त हो गया है, उसकी भावना यही होती है कि यह सारा जगत् और उसमें के सब जन ब्रह्म-रूप ही हैं । उसका मन सदा शान्त रहता है । ब्रह्म ही उसका कवच (जिरह, बख्तर) है । स्वयं ब्रह्म-रूप होकर वह सारे विश्व को ब्रह्म-रूप देखता है । यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसा सत्पुरुष सदा सुखी रहता है—निरन्तर पूर्णानन्द में निमग्न रहता है ।

जीवन्मुक्त का पहला लक्षण यह है:—

सर्वातीतपदाकांक्षी पूर्णेन्दुशिशिराशयः ।
यस्तिष्ठति सदा योगी स एव परमेश्वरः ॥
योगवासिष्ठ ।

इसका भावार्थ यह है—जो सर्वातीत पद में अर्थात् सब के प रहने वाली सत्-वस्तु (ब्रह्म-पद) में अटल रहता है, जिसका अन्तःकरण पूर्णचन्द्र के समान शांत और शीतल होता है, जिसके मन में द्वैतभाव का यत्किंचित् भी संकल्प नहीं होता, जिसका चित्त भेद-बुद्धि से क्षणभर

भी मलिन नहीं होता, वही पुरुष नित्य-मुक्त है। वह देहधारी होने पर भी प्रत्यक्ष परमेश्वर ही है। उसको जीवन्मुक्त योगीश्वर कहना चाहिए।

जीवन्मुक्त का दूसरा लक्षण यह है:—

ब्रह्मोपनिषदां तत्त्वं भावयन्योऽन्तरात्मना।
नोद्वेगी न च हृष्टात्मा संसारे नावसीदति॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ—उपनिषद् रूप समुद्र का मंथन करके तत्प्रतिपाद्य ब्रह्म में जिसने अपनी बुद्धि निश्चल कर ली है, वही जीवन्मुक्त है। उसका मन सदा स्व-स्वरूपानुसंधान में लगा रहता है। उसको संसार में न तो हर्ष होता है और न उद्वेग ही होता है। वह अकर्ता और अभोक्ता होने के कर्माकर्मों से अलिप्त रहता है। पुण्य और पाप दोनों अमंगलकारक कारण दोष होने के कारण उसकी ज्ञान-दृष्टि में भेद-भाव उत्पन्न नहीं होता।

यहाँ कदाचित् यह शंका उत्पन्न होगी कि जो लोग इस प्रकार के ज्ञानी हैं, उनमें भी कभी कभी कुछ दोष देख पड़ते हैं और काम-क्रोधादि विकार उनके भी अन्तःकरण में उत्पन्न होते हैं, इसका कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः ज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार होते ही नहीं, परन्तु लोगों में कभी कभी विपरीत भाव प्रकट हो जाता है—कभी कभी ज्ञानी पुरुष जान-बूझ कर अन्य लोगों में कुछ विकार उत्पन्न कर देते हैं। इसका कारण यह है कि वे स्वयं अपनी स्थिति की जाँच और परीक्षा किया करते हैं—वे यह देखा करते हैं कि शान्ति, तितिक्षा, दया, क्षमा आदि इष्ट दैवी सम्पत्ति हमने कितनी सम्पादन की है। अतएव ज्ञानी पुरुषों में कभी कभी देख पड़ने-वाले विकार केवल आत्मपरीक्षा के हेतु प्रकट होते हैं। यथार्थ में वे अपने लिए मान और अपमान दोनों को समान ही मानते हैं। यदि कोई उनका सम्मान करे तो वे हर्षित नहीं होते और यदि कोई उनकी निन्दा या अपमान करे तो वे दुखित नहीं होते। परन्तु यह नियम है कि—

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः ।
अर्चितः पूजिता विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥

स्मृति ।

अर्थात् जब विप्र का अपमान होता है, तब उसके तप की वृद्धि होती है और जब उसका सम्मान किया जाता है, तब उसके तप का क्षय होता है। जिस गाय का दूध निकाल लिया जाता है वह क्षीण हो जाती है; इसी तरह विप्र की पूजा-अर्चा ज्यों ज्यों अधिक होती है, त्यों त्यों उसका तेज घटता जाता है। अतएव जब ज्ञानी पुरुष साधारण लोगों की नाईं बर्ताव करके क्रोधादि विकारों को प्रकट करते हुए देख पड़ते हैं, तब उक्त नियम के अनुसार यह समझना चाहिए कि वे स्वयं अपनी परीक्षा कर रहे हैं।

उक्त प्रश्न का एक और उत्तर है कि पूर्वकर्म-संस्कारों के कारण कभी कभी ज्ञानी पुरुषों में भी काम-क्रोधादि विकार देख पड़ते हैं। यद्यपि उनका अज्ञान नष्ट हो जाता है, तथापि प्रारब्धरूप शेष कर्म के कारण उनमें भी राग, लोभ आदि दृष्टिगोचर होते हैं।

इस पर फिर प्रश्न उठता है कि सब प्रकार के मोह का कारण केवल अज्ञान ही है; जीवन्मुक्त पुरुष का यह अज्ञान आत्म-बोध से नष्ट हो जाता है; फिर मोह क्यों देख पड़ता है? यह सिद्धान्त है कि कारण का नाश होने से कार्य भी नष्ट हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि भ्रम या अज्ञान का जो परिणाम होगा, उसी के अनुसार तज्जन्य संस्कार की अवधि होती है। उदाहरणार्थ, जब अंधेरे में डोरी के स्थान पर सर्प का भास होता है, तब तुरन्त ही भय उत्पन्न होता है। कुछ समय के बाद प्रकाश में देखने से वह भ्रम नष्ट हो जाता है और यह विश्वास हो जाता है कि यह सर्प नहीं है, डोरी है। यद्यपि इस प्रकार भ्रम का नाश और यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तथापि भय से उत्पन्न होनेवाले स्वेद और कंपादि विकार बहुत समय तक बने रहते हैं। ठीक यही हाल प्रारब्ध कर्म का भी है। अनेक जन्मों के अज्ञान-जन्य भ्रम का संस्कार इतना दृढ़ और प्रबल होता है कि ज्ञानी पुरुषों को भी अपने प्रारब्ध-कर्म का

फल देहपात के समय तक भोगना ही पड़ता है। आघात का जितना वेग होता है, उतना ही प्रत्याघात का भी हुआ करता है। बाण का वेग उतना ही होता है कि जितनी गति उसको दी जाती है। इस प्रकार विचार करने से यह बात सहज ध्यान में आ जाती है कि यद्यपि मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाय, तथापि अनेक पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण कभी कभी उसमें राग-द्वेषादि विकार भी प्रकट हो जाते हैं।

जीवन्मुक्त का तीसरा लक्षण यह है :—

अंतर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्तिपरोपि सन्।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते॥

योगवासिष्ठ।

अर्थात् ज्ञानी पुरुष की इन्द्रियाँ कभी बहिर्मुख नहीं होतीं। वे सदा अंतर्मुख रहती हैं अर्थात् प्रत्यगात्मा की ओर उनकी दृष्टि लगी रहती है। इसलिए यद्यपि ज्ञानी पुरुष किसी प्रकार का बाह्य व्यवहार करता रहे, तथापि उसमें उसकी आसक्ति नहीं होती। उसका मन स्व-स्वरूप में निमग्न रहता है, इसलिए वह सदा परमानन्द ही का अनुभव लेता रहता है। गाढ़ निद्रा में से जाग्रत हुए मनुष्य के उदाहरण से इस स्थिति का कुछ बोध हो सकता है। गहरी नींद से जगा हुआ मनुष्य यद्यपि कुछ काम करता हुआ देख पड़ता है, तथापि उसका सब चित्त निद्रा-सुख ही में निमग्न रहता है; इसलिए बाह्य व्यवहार करते रहने पर भी उसके मन में कर्तृत्व का अभिमान जाग्रत नहीं रहता। इसी तरह जीवन्मुक्त पुरुष के सब बाह्येन्द्रिय व्यापार होते रहते हैं; क्योंकि उसका मन सदा मूल अधिष्ठान (ब्रह्म) की ओर लगा रहता है। आत्म-सुख में सदा संतुष्ट रहने के कारण वह देहधारी होकर भी देहातीत है—सब प्रकार लौकिक कर्म करने पर वह उन कर्मों के फल से अलिप्त रहता है—कर्तृत्वाभिमान से वह बद्ध नहीं होता।

जीवन्मुक्त का चौथा लक्षण यह है:—

अद्वैते स्थैर्यमायाते चित्ते च प्रशमं गते।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति पश्यन्ति स्वप्नवज्जगत्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् योगीजन अपनी अद्वैत स्थिति में सदा अटल बने रहते हैं। उनके अन्तःकरण में द्वैत-बुद्धि कभी जागृत नहीं होती। उनका चित्त सदा शान्त और निर्मल रहता है। उनके मन में किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। जैसा कि मुंडकोपनिषद् में लिखा है—'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।' इस प्रकार की स्थिति में जीवन्मुक्त पुरुष सम्पूर्ण जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या जान कर केवल पूर्व-संस्कारानुरूप सब कर्मों का आचरण यथावत् करते रहते हैं। यद्यपि वे यथा समय विहित कर्मों का आचरण करते हैं और निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हैं, तथापि उनके मन में यह संकल्प नहीं होता कि विधि-युक्त कर्माचरण से या निषिद्ध-कर्मों के त्याग से पुण्य प्राप्त होगा। इसका कारण यह है कि वे अपने चित्त की शुद्धि के लिए अनेक जन्मों से सत्कर्म का आचरण और निषिद्ध कर्मों का त्याग ही करते चले आये हैं; अतएव जब उनका चित्त पूर्ण-रीति से शुद्ध हो जाता है, तभी उनको आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है—तभी उनके हृदय में आत्म-बोध का प्रकाश होता है—और इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के बाद भी उनका आचरण अनेक जन्मों में किये हुए सत्कर्मों के संस्कारों से ज्यों का त्यों बना रहता है।

ज्ञानी पुरुषों के कर्माचरण के विषय में वर्तमान समय के बहुतेरे लोगों के विचार भ्रम-मूलक देख पड़ते हैं। यह बात साधारण लोगों की समझ में नहीं आती कि ज्ञानी पुरुष कर्म-फलों की आसक्ति से कर्माचरण नहीं करते; किन्तु वे केवल लोक-संग्रहार्थ अर्थात् सर्व-साधारण लोगों की शिक्षा के लिए कर्माचरण करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उक्त सिद्धान्त का जितना अधिक विवेचन किया जायगा, उतना ही अधिक लोगों का कल्याण होगा। इस स्थान में केवल सूचना के तौर पर कुछ बातों का उल्लेख कर देना हम आवश्यक समझते हैं। सबसे पहले लोगों को यह सोचना चाहिए कि प्राचीन वैदिक-मतों का त्याग करके इस देश में जो अनेक धार्मिक समाज, सांप्रदायिक संस्था और नये-नये पंथ निर्माण किये गये हैं और इस समय भी किये जा रहे हैं, उनके द्वारा लोगों की सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर क्या परिणाम हुए हैं।

सूक्ष्म-रीति से यदि अवलोकन किया जाय तो मालूम हो जायगा कि वर्तमान समय में कर्माचरण का लोप हो रहा है, धार्मिक संस्कारों का अभाव हो रहा है और स्वधर्म के विषय में अश्रद्धा उत्पन्न हो रही है। जिन लोगों ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त की है, वे अपने तईं बड़े विद्वान्, पंडित और ज्ञानी समझते हैं। उनकी दृष्टि में प्राचीन सनातन-धर्म निरुपयोगी प्रतीत होता है, इसलिए धर्माचरण का त्याग करके वे केवल कर्महीन हो जाते हैं। यद्यपि यह मान लिया जाय कि उन लोगों को सत्य धर्म के गहन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो गया है, इसलिए कदाचित् कर्माचरण के त्याग का कोई अनर्थकारक परिणाम उनको भोगना न पड़ेगा; तथापि इस बात का विचार करना चाहिए कि भविष्य में उन लोगों की संतति पर क्या परिणाम होगा। इधर प्रत्येक घर में कर्माचरण का अभाव हो जाने से अज्ञान बालक अपने प्राचीन सनातन धर्म के तत्त्वों से अपरिचित रह जाते हैं और उधर नूतन सत्य-धर्म के गहन तत्त्व जो शिक्षितों को मान्य होते हैं, वे उनकी समझ में ही नहीं आते। इस प्रकार वे दोनों ओर से धार्मिक संस्कार-विहीन हो जाते हैं और अन्त में इसका परिणाम यही होता है कि वे अधर्म तथा स्वेच्छाचार की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। इस समय हमारे देश में ऐसे उदाहरण सर्वत्र देख पड़ते हैं। इन अनिष्ट परिणामों को दूर करने के लिए प्रत्येक स्त्री और पुरुष को (चाहे वह विद्वान् हो या अविद्वान्, चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी) स्वधर्माचरण अवश्य करना चाहिए। यदि कोई अपनी विद्वत्ता और ज्ञान के घमण्ड में आकर विहित कर्माचरण का त्याग कर दे तो उससे संपूर्ण लोक-समूह पर बहुत बुरा परिणाम होता है—देश-भर में अधार्मिकता और अनवस्था फैल जाती है। इस अत्यन्त महत्त्व की बात की ओर ध्यान देकर ही जीवन्मुक्त और ज्ञानी पुरुष भी नित्य तथा नैमित्तिक धार्मिक कर्मों का यथावत् आचरण करते हैं। इसीलिए वे दुनिया में सबसे उत्तम आदर्श माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस विषय में जो कहा है उसका भाव यह है—

"हे अर्जुन, ऐसा नहीं है कि सत्कर्म करके मुझे कुछ प्राप्त करना है; तथापि सब लोगों को अनुकरण करने के लिए उदाहरण होना चाहिए। इस कारण मैं सब कर्म यथायोग्य करता रहता हूँ। उन कर्मों के करने में मेरा और कोई दूसरा उद्देश नहीं है।"

अब जीवन्मुक्त पुरुषों के और लक्षण जानने के लिए भिन्न भिन्न ज्ञान-भूमिकाओं का बोध होना आवश्यक है; क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषों की स्थिति भूमिका के भेद से भिन्न भिन्न हो जाती है। वेदान्त-शास्त्र में ज्ञान की सात भूमिकाएँ लिखी हैं। इन भूमिकाओं का केवल शाब्दिक वर्णन पढ़कर भी मनुष्य को अति आनन्द प्राप्त होता है। इनमें से प्राप्त तीन "अज्ञान-भूमिका" कहलाती हैं; चौथी और पाँचवीं भूमिकाओं में व्युत्थान के समय सुख-दुःख का अनुभव होता है, छठी और सातवीं भूमिकाओं में ज्ञानी पुरुष को सुख दुःख आदि सब प्रकार के द्वंद्व-भावों का पूर्ण विस्मरण हो जाता है। सातवीं भूमिका ज्ञान का शिखर है। उस अवस्था में मनुष्य विषय-सुखों से सुखी नहीं होता और दुःखों से दुखित नहीं होता। इन सातों भूमिकाओं के नाम ये हैं:—

१ शुभेच्छा; २ विचारणा; ३ तनुमानसा; ४ सत्त्वापत्ति, ५ असंसक्ति; ६ पदार्थाभाविनी और ७ तुर्यगा। प्रत्येक भूमिका का यथा क्रम वर्णन करने के पहले प्रवृत्त और निवृत्त पुरुषों के लक्षण जान लेना आवश्यक है। प्रवृत्त-पुरुष का लक्षण यह है:—

किमेतन्नाम निर्वाणं वरं संसृतिरेव मे।
इति निर्णयकर्ता च स प्रवृत्त उदाहृतः॥

योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ:—निर्वाण अर्थात् मोक्ष की क्या आवश्यकता है? संसार ही का मार्ग बहुत अच्छा है, इस प्रकार अपने मन में निश्चय करके जो सदा प्रपंच ही में निमग्न रहता है, उसको प्रवृत्त-पुरुष कहते हैं। प्रवृत्ति-मार्ग आश्रय करनेवाले लोग सकाम धर्मानुष्ठान करते हैं। वे कहते हैं कि निवृत्ति-मार्ग से जानेवाले जो लोग अहेतुक धर्माचरण करते हैं, वे व्यर्थ परिश्रम और कष्ट करते हैं, उनको विषयों का कोई सुख

प्राप्त नहीं होता। जिस काम में सुख-रहित कर्मों का उपयोग ही क्या है? अतएव उनका यह मत है कि इहलोक तथा परलोक-सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति कर लेने ही के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक कर्म करने चाहिए। इस प्रकार जिनका निश्चय दृढ़ होता है और जो सकाम-बुद्धि से प्रेरित होकर काम्य-कर्मों का आचरण करते हैं, वही प्रवृत्त-जन हैं।

निवृत्त-पुरुषों के ये लक्षण हैं:—

अनेकजन्मनामंते विवेकी जायते पुमान्।
इति निश्चयवान् योंतः स निवृत्त इति स्मृतः॥
कथं विरागवान् भूत्वा संसारब्धिं तराम्यहम्॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ:—अनेक जन्मों के बाद मनुष्य को सारासार-विवेक-बुद्धि प्राप्त होती है। जब यह विवेक-बुद्धि प्राप्त होती है, तब मनुष्य इसी चिन्ता में निमग्न रहता है कि मैं विरक्त कैसे होऊँगा और इस संसार-सागर से मेरा उद्धार कैसे होगा। ऐसे मनुष्य को निवृत्त कहते हैं। उसको सांसारिक दुःखों का सदा स्मरण बना रहता है। वह कहता है कि यह संसार मानो दावानल से प्रदीप्त एक अरण्य ही है। कल्पना करो कि किसी मनुष्य के पीछे बाघ लगा है और सामने एक महा-समुद्र है; इस दशा में उसके मन की जो स्थिति होगी, वही निवृत्त-पुरुष की सदा रहती है। वह जानता है कि इस संसार में नाना प्रकार के पुण्य-दायक कर्म करने से उत्तम जन्म प्राप्त होता है; परन्तु उन कर्मों का फल भोगने पर फिर दुःख बना ही है। इसलिए वह संसार से विरक्त होकर केवल आत्मविचार में निमग्न होने का निश्चय करता है। सारे विषयों से अपने मन को हटा कर वह साधन-चतुष्टयसम्पन्न होता है और सिर्फ इसी एक बात का चिन्तन करता रहता है कि अब मैं किस उपाय से मुक्त होऊँगा। इस प्रकार के मुमुक्षु जन ही को निवृत्त कहते हैं।

उक्त दो प्रकार के लक्षणों में से प्रवृत्ति के लक्षण जिस पुरुष में नहीं हैं और जो निवृत्त-लक्षणों से पूर्ण सम्पन्न है, उसको शुभेच्छावान् कहते हैं। अर्थात् शुभेच्छा नामक प्रथम ज्ञान-भूमिका का वही स्वरूप है,

जो निवृत्त-पुरुष के विषय में वर्णन किया गया है। अब यह देखना चाहिए कि इस भूमिका की सिद्धि के लिए किन किन साधनों का अवलम्बन करना आवश्यक है। जिसको शुभेच्छा प्राप्त होती है वह किसी विषय में आसक्त नहीं होता—वह विषयों के सम्बन्ध में विरक्त रहता है। कोई काम करने के पहले अन्तःकरण में जो एक प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है, उसको अन्तर्वासना कहते हैं। शुभेच्छावान् पुरुष की यह अन्तर्वासना लीन हो जाती है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों वह प्रवृत्ति-मार्ग के कर्मों का त्याग करता जाता है, त्यों-त्यों उसके हृदय में सच्चे सुख का उदय होने लगता है। जिसकी इच्छा शुभ होती है, वह कदापि नीच भाषण नहीं करता—वह सब प्रकार की नीच क्रिया का त्याग कर देता है। इतना ही नहीं; किन्तु वह अपने मन में नीच विचारों को आने भी नहीं देता। वह सदा सद्विचारों ही में निमग्न रहता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि संसार में ईश्वर-निष्ठा के सिवाय अन्य बातों की ओर ध्यान देना व्यर्थ है। शुभेच्छासंपन्न पुरुष कभी किसी की निन्दा नहीं करता। उसका आचरण सदा गर्व-रहित और सत्यानुकूल होता है। वह कभी वस्तुस्थिति का विपर्यास नहीं करता—जिस समय जैसी यथार्थ दशा होती है, उस समय वह वैसा ही बोलता और करता है। वह अपनी विद्वत्ता या पंडिताई का घमंड नहीं रखता। वह अत्यन्त पाप-भीरु होता है। वह सब लोगों के विषय में आदर और नम्रता प्रकट करता है। सारांश यह है कि शुभेच्छावान् पुरुष सत्वगुण की संपत्ति प्राप्त करने का सदा यत्न करता रहता है। वह काया, वाचा और मन से साधु तथा ज्ञानी पुरुष की सेवा करता है; वह सद्गुरु के शरणागत होकर अपने शुद्ध-भाव को दृढ़ करता है और सदा साधु-समागम में रह कर परमात्मतत्व को भली भाँति समझ लेने का यत्न करता है। अध्यात्म शास्त्र का यथार्थ विचार करके वह इसी बात की निरन्तर चिन्ता करता रहता है कि मैं इस भवसागर से कैसे पार होऊँगा। साधु समागम, सच्छास्त्र-श्रवण और अध्यात्म-विचार से उसके मन में पूर्ण वैराग्य छा जाता है।

विचारणा नामक दूसरी ज्ञान-भूमिका का लक्षण यह है:—

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारे प्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् जो मनुष्य साधन-चतुष्टय-सम्पन्न, वैराग्यवान्, और अनन्य भाव से सद्गुरु के शरणागत होता है, वह ज्ञान की दूसरी भूमिका का अधिकारी होता है । सद्गुरु की शरण में किस तरह जाना चाहिए सो सुनिए:—

तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

—मुंडकोपनिषद् ।

अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति की जिसकी इच्छा है उस शिष्य को अपने हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ तथा श्रोत्रिय गुरु की शरण में जाना चाहिए । और भी लिखा है:—

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे निष्णातं ब्रह्मपरे च समाश्रयम् (?) ॥

—श्रीमद्भागवत ।

जिसको अपने उत्तम कल्याण की प्राप्ति की जिज्ञासा है उसको गुरु-चरणों का आश्रय करना चाहिए । वह गुरु अध्यात्म-शास्त्र में निष्णात हो और उस परब्रह्म-स्थिति का अनुभवी हो, जो शाब्दिक ज्ञान के भी परे है । जब तक सद्गुरु-चरणों का आश्रय नहीं मिलता, तब तक मनुष्य को अध्यात्म-शास्त्र के ज्ञान के विषय में अंध समझना चाहिए । यथार्थ में गुरु के सिवाय और कोई भी उपासना करने के योग्य नहीं है । जो सद्भाव से सद्गुरु की सेवा करते हैं, वह परम कल्याणकारक पद के अधिकारी होते हैं । सज्जनों का सहवास और गुरु-भजन करके गुरु के मुख से महावाक्य का निरूपण सुनना चाहिए और असंभावनादि दोषों का नाश करने के लिए वेदान्त-शास्त्र के सिद्धान्तों का चिंतन और मनन करना चाहिए । इस प्रकार विचार करते करते अन्तःकरण विषयों से विरक्त हो जाता है और सदाचार की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है ।

जो सत्पुरुष दूसरी भूमिका में रहता है, उसकी वृत्ति में उक्त सब लक्षण देख पड़ते हैं। अद्वैत ब्रह्म-निरूपण का तात्पर्यार्थ ग्रहण करने के लिए वह सदा उत्सुक रहता है। केवल इसी विषय की चर्चा सुनने और इसी विषय का मनन करने में उसको आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए सब बाह्य वस्तुओं का संग त्याग करके वह एक सद्गुरु की संगति को दृढ़ता से धरे रहता है। उसके हृदय में नित्यानित्य-विवेक-बुद्धि सदा जागृत रहती है। इस जागृति का लक्षण भगद्गीता में इस प्रकार कहा है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। अर्थात् जब सब लोग सोते रहते हैं, तब ज्ञानी पुरुष जागृत रहता है और जब सब लोग जागृत रहते हैं, तब वह निद्रित रहता है। यहाँ निद्रित शब्द का साधारण अर्थ निद्रावश नहीं है। इसका अर्थ बहुत गूढ़ है। सांसारिक जन जिन प्रापंचिक विषयों में आसक्त होते हैं (अर्थात् जिन विषयों के सम्बन्ध में वे निद्रित या अज्ञानी होते हैं) उनके सम्बन्ध में ज्ञानी पुरुष अनासक्त रहता है (अर्थात् जागृत रहता है) और जिन बातों को अज्ञानी संसारी लोग क्षुद्र मानते हैं, उन्हीं बातों पर ज्ञानी पुरुष का विशेष प्रेम होता है। ज्ञानी पुरुष की जागृति का यही लक्षण है। जिसमें यह लक्षण पूर्ण-रीति से पाया जाता है, उसको विचारणा नामक दूसरी भूमिका का सिद्ध या ज्ञानी समझना चाहिए।

तनुमानसा नामक तृतीय ज्ञान-भूमिका का लक्षण यह है:—

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिंद्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है:—शुभेच्छा और विचार के दृढ़ अभ्यास से इन्द्रिय-सम्बन्धी सब विषयों में विरक्तता प्राप्त हो जाती है। इस दशा में मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए उसको तनुमानसा कहते हैं। प्रथम दो भूमिकाओं में श्रवण और मनन का अभ्यास किया जाता है। जब वह अभ्यास पूरा हो जाय, तब सच्छिष्य को निदिध्यासन करना चाहिए। निदिध्यासन से मन क्षीण होता है—विषयों से विरक्त होकर

आत्मानुसंधान करने के योग्य हो जाता है। अध्यात्म-शास्त्र के निश्चित महा-वाक्यों (तत्त्वमसि इत्यादि) का ब्रह्मात्म पर तथा स्वयं-ज्योति पर अर्थ लगाने में जिनकी विमल बुद्धि सदा तत्पर रहती है उन्हें तनुमानसा-भूमिका में जानना चाहिए।

प्रथम दो भूमिकाओं का उपयोग केवल बुद्धि की शुद्धता के लिए होता है। जीवन्मुक्त पुरुष देहादिक विजातीय प्रपंच से विरक्त होकर अपनी बुद्धि को सावधानता-पूर्वक परब्रह्म के स्वरूप में सदा लीन करता है। उस अवस्था में उसको इस बात का भी स्मरण नहीं रहता है कि मैं ध्याता हूँ और परब्रह्म मेरा ध्येय है—परब्रह्म-स्वरूप में उसकी एकता हो जाती है और वह आत्म-सुख में निमग्न हो जाता है। इसी अभ्यास का नाम निदिध्यासन है। जब इस प्रकार अभ्यास करते करते द्वैत का पूर्ण अभाव हो जाता है और मन तथा बुद्धि-सहित अहंकार परमात्म-स्वरूप में पूर्ण-रीति से लीन हो जाता है, तभी साक्षात्कार का अनुभव होता है। इस भूमिका (तनुमानसा) में न्यूनता केवल इतनी ही है कि बुद्धि कुछ समय तक आत्म-स्वरूप में लीन रहती है; परन्तु जब वहाँ से उसका उत्थान होता है, तब देहादिक विजातीय प्रपंच का फिर पूर्ववत् स्फुरण होने लगता है। जब ऐसा होने लगता है, तब ज्ञानी-पुरुष सावधान होकर देहादि विजातीय प्रपंच से मन को हटा कर बुद्धि को बलपूर्वक परब्रह्म-स्वरूप में लीन करने का यत्न करता है। इस प्रकार बार-बार यत्न करने की क्रिया को निदिध्यासन कहते हैं और इस निदिध्यासनावस्था ही का नाम तनुमानसा है। मन की तनुता (क्षीणता) से प्रपंच का अनुसंधान नष्ट हो जाता है और बुद्धि ब्रह्म-रूप हो जाती है। प्रपंच के भिन्न-भिन्न अनेक पदार्थों में निमग्न रहना ही मन की पुष्टता कहाती है और जब उस प्रपंच का अनुसंधान छूट जाता है, तब मन की क्षीणता व्यक्त होती है। तीसरी ज्ञान-भूमिका में रहनेवाले सत्पुरुष में यही देख पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि शुभेच्छा और विचारणा पर आरूढ़ हो जाने पर भी असंभावना और विपरीत-भावना क्यों उत्पन्न होती है?

इन भावनाओं से साक्षात्कार में विघ्न उपस्थि होता है। तब शिष्य को श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों का फिर से अभ्यास करना पड़ता है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि यद्यपि सद्गुरु परब्रह्म के स्वरूप का बोध करा देता है, तथापि साधक के अन्तःकरण में पूर्व-जन्म तथा इस जन्म के अनेक संस्कारों के कारण उक्त भावनाओं को प्रवेश करने का अवसर मिल ही जाता है। अतएव यह जानना आवश्यक है, कि जिन संस्कारों के कारण ये विघ्नकारक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनके लक्षण क्या हैं और किन-किन उपायों से उनका नाश किया जा सकता है।

साक्षात्कार में विघ्न उपस्थित करनेवाली असम्भावना और विपरीत-भावना के चार लक्षण हैं:—(१) विषयासक्ति, (२) प्रज्ञा-मांद्य, (६) कुतर्क और (४) विपर्ययाग्रह। इन विघ्नों का निवारण करने के लिए शम, दम, श्रवण मनन और निदिध्यासन ही मुख्य उपाय हैं। देखिए,

अहं ब्रह्मेतिवाक्यार्थबोधो यावद् दृढो भवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्॥

—योगवासिष्ठ।

जब विषयासक्ति के कारण साक्षात्कार में विघ्न होने लगे, तब शमदमादि साधनों का अवलम्ब करके बार-बार वही अभ्यास करना चाहिए। इस उपाय से विषयासक्ति का नाश हो जायगा। प्रज्ञा-मांद्य से बहुत हानि होती है। इसी के कारण मन कभी निश्चल नहीं होता। इससे प्रमाणासम्भावना उत्पन्न होती है। सब पदार्थों में वेद और सद्गुरु प्रमाण-भूत माने जाते हैं; परन्तु प्रज्ञामांद्य के कारण इनके सम्बन्ध में भी असम्भावना अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। तब वह कहने लगता है कि वेद या सद्गुरु को सत्य मानने के लिए क्या प्रमाण हैं? वह सद्गुरु को केवल मनुष्य-रूप और वेद को केवल शब्द-रूप देखने लगता है। इस प्रकार प्रज्ञा की मन्दता का नाश करने के लिए सच्छास्त्र श्रवण करना चाहिए और श्रवण किये हुए तत्त्वों के विषयों में मनन करना चाहिए। इस उपाय से प्रज्ञा-मांद्य का लय हो जायगा। तीसरा

विघ्न कुतर्क है। इससे प्रमेयासम्भावना उत्पन्न होती है, जो सर्वस्व का नाश कर सकती है। जिस महावाक्य को प्रमाण मान कर सब प्रमेयों की पूरी तरह जाँच की जाती है, वही आदि प्रमेय ब्रह्म है। प्रमेय शब्द का अर्थ यह है—यत् प्रमीयते तत् प्रमेयं; अर्थात् जिसका यथार्थ ज्ञान होता है उसे प्रमेय कहते हैं; ब्रह्म इसी प्रकार का है। अब यदि शंका की जाय कि इसके लिए प्रमाण क्या है, तो उसे कुतर्क कहेंगे। अनेक साधनों का अभ्यास करने पर भी जो ब्रह्म-पद किसी को प्राप्त नहीं होता वह मुझे क्यों कर प्राप्त हो जायगा? इस प्रकार के कुतर्क से साक्षात्कार में विघ्न उत्पन्न होता है। इस विघ्न का नाश करने के लिए यही उपाय है कि भाँति भाँति की युक्तियों से रात-दिन ब्रह्म-स्वरूप ही का चिन्तन करना चाहिए। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से युक्तियों का अवलम्ब किया जाय तो निस्सन्देह पूर्णावस्था की प्राप्ति हो जायगी। इस उपाय से स्व-स्वरूप का बोध होने लगेगा। इसी से यह भी अनुभव होगा कि मेरी और ब्रह्म की एक-रूपता है। जब यह अनुभव दृढ़ हो जायगा कि स्वयं मैं ब्रह्म हूँ तब अन्य प्रकार के सब अनुभव व्यर्थ प्रतीत होंगे। इसके बाद चौथा विघ्न विपर्ययाग्रह है। देहादि विजातीय प्रपंच का सर्वथा भास होना ही विपर्ययाग्रह का मुख्य लक्षण है। जब इस प्रकार की प्रापंचिक भावना होने लगती है कि यह देह ही आत्मा है और धन, दारा, सुत आदि सब मेरे हैं अर्थात् जब चित्त प्रपंचाकार हो जाता है, तब आत्म-साक्षात्कार होना असम्भव है। ऐसी दशा में निदिध्यासन ही का बार-बार अभ्यास करना चाहिये। विपरीत भास का त्याग करके अन्तःकरण को आत्म-स्वरूप में लीन करना ही निदिध्यासन का मुख्य हेतु है, इस उपाय का अवलम्ब करने से विपरीत-भावना नष्ट हो जाती है, आत्म-स्वरूप प्रकट होता है और साक्षात्कार का परमानन्द प्राप्त होता है।

जो सत्पुरुष सदा निदिध्यासन में लगा रहता है, उसको ज्ञान की तीसरी भूमिका में स्थित जानना चाहिए। अब इस बात का विचार करेंगे कि वह सत्पुरुष अपना समय किस प्रकार व्यतीत करता है और उसका बर्ताव किस प्रकार होता है। उसको साधु-समागम और अध्यात्म-

शास्त्र के श्रवण तथा मनन के सिवाय और कोई वस्तु प्यारी नहीं लगती। वानप्रस्थ और तपस्वी जनों के आश्रम में रहकर अनेक प्रकार की तपश्चर्या करके जो लोग विश्राम-स्थान पर पहुँच गये हैं—जो लोग परब्रह्म में लीन हो गये हैं—उन्हें अध्यात्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। ऐसे साधु पुरुषों के मुख से अध्यात्म-शास्त्र का निरूपण सुनने से निदिध्यासन की सफलता होती है। अध्यात्म-शास्त्र में इसी विषय की चर्चा रहती है कि संसार से निःशेष निवृत्ति कैसे होगी। इसलिए इसके श्रवण तथा मनन से अन्तःकरण में संसार के विषय में विरक्ति उत्पन्न होती है; इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों से पराङ्मुख होने लगती हैं और अन्त में ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। अतएव तीसरी भूमिका में रहनेवाले सत्पुरुष सदा साधु-समागम करते और अध्यात्म-शास्त्र के श्रवण में अपना समय व्यतीत करते हैं। इन लोगों को एकांत-वास और अरण्य-वास बहुत प्रिय होता है।

तनुमानसा भूमिका ज्ञान और विवेक के अभ्यास की सीमा ही है। इस अवस्था में असंगता पूर्ण-रीति से प्रकट हो जाती है। असंगता दो प्रकार की है—पहली साधारण असंगता और दूसरी श्रेष्ठ असंगता। जिस मनुष्य में साधारण असंगता होती है, वह यह विचार करता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ; क्योंकि क्रिया और कर्तृत्व दोनों अहंकार से उत्पन्न होते हैं। जिसने अहंकार का नाश कर डाला है, उसको कर्तव्यता की बाधा हो नहीं सकती।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

—भगवद्गीता।

अर्थात् जिस क्रिया का आचरण अहंकार-रहित होता है, उससे कर्तापन का भाव कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। अहंकार के बिना पाप या पुण्य का भाव जागृत नहीं होता। इसी तरह जिस पुरुष में साधारण असंगता होती है, वह यह समझता है कि मैं भोक्ता भी नहीं हूँ; क्योंकि भोग और भोक्तृत्व दोनों अहंकार ही के फल हैं। अहंकार-

रहित स्थिति को ज्ञान कहते हैं। ऐसा मनुष्य सदा तृप्त रहता है—वह किसी विषय में आसक्त नहीं होता है। साधारण असंगता का यही लक्षण है। अब यह देखना चाहिए कि श्रेष्ठ असंगता किसे कहते हैं। पूर्वोक्त अभ्यास से खल-संग का त्याग और साधु-संग का स्वीकार करके जो पुरुष आत्म-विचार के प्रयोग की सिद्धि प्राप्त करता है—जिसको मुख्य वस्तु अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार होता है—वह यह समझता है कि सब कर्माकर्म देहप्रारब्ध के अधीन हैं, मैं स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हूँ, इसलिए मैं किसी कर्म का कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ। इस प्रकार शान्त-वृत्ति से सदा ब्रह्म-स्वरूप में निमग्न रहना ही श्रेष्ठ असंगता का लक्षण है। इसी को स्वरूप-स्थिति भी कहते हैं।

जो पुरुष उक्त दोनों प्रकार की असंगता से युक्त होता है, वही ज्ञान की तीसरी भूमिका का अधिकारी है। ऐसे सत्पुरुष का चित्त सदा शान्त और निर्मल होता है। उसे संतोष की प्रतिमा ही समझिए। उसे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। वैराग्य-पुष्पों से लदा हुआ और विवेक-फलों से सुशोभित मानो वह ज्ञान का कल्पवृक्ष ही है।

शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा नामक प्रथम तीन भूमिकाएँ जागृति-स्थान में मानी जाती हैं। और सत्त्वापत्ति नामक चौथी भूमिका को स्वप्न-स्थान में समझते हैं। प्रथम तीन भूमिकाएँ साधन-क्रम में गिनी जाती हैं; चौथी भूमिका से सिद्धावस्था का आरम्भ होता है।

चौथी भूमिका (सत्त्वापत्ति) का लक्षण यह है :—

तृतीयभूमिकाभ्यासाच्चित्तेर्थविरतेर्वशात्।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है :—तृतीय भूमिका के दृढ़ अभ्यास से सम्पूर्ण अनात्म-पदार्थों के विषय में चित्त उदासीन हो जाता है; और जब चित्त विषयों से पराङ्मुख हो जाता है, तब वह अत्यन्त प्रसन्न होकर परब्रह्म में लीन हो जाता है। यह नियम है कि जब मन विषयों से विरक्त होने लगता है, तब उसकी एकाग्रता से अज्ञान का आप-ही-आप नाश होता

जाता है और अन्त में उसकी विषयाकारता बिलकुल नष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में अर्थात् जब मन में बाह्य पदार्थों का स्मरण तक नहीं होता, तब मन वृत्तिसहित लीन हो जाता है और स्वसंवेद्य आत्म-सुख का अनुभव होने लगता है। उक्त श्लोक में सत्व शब्द से परब्रह्म ही उपलक्षित है। वहीं पर मन स्थिर होकर शान्त हो जाता है। इसलिए इस अवस्था को सत्त्वापत्ति कहते हैं। इस अवस्था में रहनेवाले साधु पुरुषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे।
निर्विभागमनाद्यन्ते योगिनो युक्तचेतसः॥
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकां गताः।
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते॥
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकामिताः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जब सम्यग्ज्ञान का उदय होता है, तब चित्त बहुत प्रसन्न होता है। निर्विभाग और आदि-मध्यांत-विहीन स्वयं-ज्योति में रममाण होनेवाले योगीजन इस संसार के सब पदार्थों को समभाव से देखते हैं, उनकी अद्वैत-भावना स्थिर हो जाती है—द्वैतभाव का नाम निशान तक नहीं रहता। इस जगत् के सब व्यवहार उन्हें स्वप्न के समान प्रतीत होते हैं।

सत्वापत्ति ज्ञान की मुख्य भूमिका है। पाँचवीं से सातवीं भूमिका तक निर्विकल्पता का अभ्यास किया जाता है, इसलिए इन तीनों भूमिकाओं को सुषुप्ति के समान मानते हैं, क्योंकि इनमें विश्व का कुछ स्मरण ही नहीं होता।

पाँचवीं भूमिका का नाम असंसक्ति है। जब प्रथम चारों भूमिकाओं का अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब इस भूमिका में साधुजन ब्रह्मानन्द का उपभोग करते हैं। उन्हें किसी प्रकार की फलाशा नहीं रहती। किसी का भी संसर्ग न होना ही असंसक्ति है। इस अवस्था का लक्षण यह है:—

गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽन्तः प्रतापवान् ।
सुषुप्तघन एवास्ते पंचमीभूमिकां गतः ॥
अन्तर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिश्रांततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥

—योगवासिष्ठ ।

इसका भावार्थ यह है—जब द्वैत-भाव की स्फूर्ति नहीं होती और केवल अद्वैत-भाव ही स्थिर हो जाता है, तब योगीजनों का स्वानुभव से हृदय प्रफुल्लित होकर सुषुप्ति के समान ब्रह्मानन्द-सागर में लीन हो जाता है। बाहर से यदि देखा जाय तो उनके सब लौकिक व्यवहार यथावत् होते रहते हैं और वे परम शान्ति में निमग्न रहते हैं। जैसे किसी निद्रित मनुष्य से कुछ काम कराने के लिए उसको जगाना पड़ता है, वैसी ही योगीजनों की स्थिति होती है। बाहर से देखनेवालों को वे अपने लौकिक कार्यों ही में जाग्रत देख पड़ते हैं—ऐसा जान पड़ता है कि वे साधारण मनुष्यों की तरह अपने बाह्य व्यवहारों ही में निमग्न हैं—परन्तु यथार्थ में उनकी इन्द्रिय-वृत्तियाँ विषयों से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं, इसलिए वे अन्तस्थरीति से अत्यन्त शान्ति और केवल सुख-रूप रहते हैं। इस अवस्था में सब पदार्थों का निरास करके शेष सत्ता मात्र केवल निरंजन वस्तु के ध्यान में निमग्न रहते हैं, इसलिए उन्हें प्रपंच का भान नहीं होता। इसी को असंसक्ति कहते हैं।

अब ज्ञान की छठी भूमिका का वर्णन करेंगे। इस भूमिका को पदार्था-भाविनी कहते हैं। पूर्वोक्त पाँच भूमिकाओं के दृढ़ अभ्यास से केवल आत्म-स्वरूप में रममाण होते होते योगी की ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसको किसी अन्य पदार्थ का भान ही नहीं रहता, इसलिए इस अवस्था को पदार्थाभाविनी कहते हैं। मन और बुद्धि-सहित अहंकार उसी आत्म-स्वरूप में लीन हो जाता है; काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, दंभ आदि कोई विकार उसके शुद्ध अन्तःकरण को स्पर्श तक कर नहीं सकते और घटपटादि किसी दृश्य पदार्थ का उसको स्मरण भी नहीं होता। ऐसी अवस्था जब प्राप्त होती है, तब योगी ब्रह्मानन्द में डूब जाता है।

इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

यत्र नासन्नसद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतैक्यमागतः॥
निर्ग्रंथिः शांतसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्ण कुंभ इवार्णवे॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थः—जो योगी ज्ञान की छठी भूमिका पर आरूढ़ होता है, वह न तो असद्रूप होता है और न सद्रूप होता है। इसका कारण यह है कि जब हम उसको संसार के सब कार्य करता हुआ देखते हैं, तब हम उसको असद्रूप कह नहीं सकते और जब कि उसका अन्तःकरण सदा निर्मल तथा वासना-रहित रहता है और किसी प्रकार के व्यवहार में उसका चित्त लिप्त नहीं होता, तब हम उसको सद्रूप भी नहीं कह सकते। यद्यपि बाहर से देखनेवालों को वह देहधारी देख पड़ता है, तथापि सचमुच वह विदेह अवस्था में रहता है, इसलिए उसको अहंकार-रहित कहना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि वही देहेन्द्रियों का प्रवर्तक भी है, इसलिए उसको अहंकार-रहित कह नहीं सकते। तब यह प्रश्न उठता है कि वह किस स्थिति में रहता है? इसका उत्तर यही है कि उसका मन संकल्प-विकल्पातीत होकर परमात्मा में लीन हो जाता है—अद्वैत स्थिति में उसकी पूर्ण एकता हो जाती है। उसकी चित्-अचित्ग्रन्थि छूट जाती है अर्थात् चित् और अचित् का भेद-भाव वह पूरी तरह जान लेता है और सब प्रकार के सन्देहों से मुक्त हो जाता है। यथार्थ में इसी प्रकार के योगी को जीवन्मुक्त कहते हैं। उसकी अहंभावना बिलकुल नष्ट हो जाती है। और वह सदा वासना-रहित रहता है, इसलिए देहधारी होने पर भी उसको मुक्त ही जानना चाहिए। यह बात समझाने के लिए उक्त श्लोक में चित्र के दीपक का दृष्टान्त दिया गया है। यद्यपि किसी चित्र में दीपक का आकार अन्य दीपकों के समान ही देख पड़ता

है, तथापि उसकी ज्योति सदा स्थिर और निश्चल रहती है। इसी तरह यद्यपि योगी साधारण लोगों की नाईं देहेन्द्रियों से सब व्यावहारिक कार्य करता हुआ देखा पड़ता है, तथापि उसका अंतःकरण आत्म-स्वरूप में सदा स्थिर और निश्चल रहता है। इस प्रकार के जीवन्मुक्त पुरुष के विषय में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना करना अज्ञ-जनों का भ्रम है। वस्तुतः जीवन्मुक्त पुरुष का अन्तःकरण वासना-रहित होता है और उसके बाह्य व्यवहार भी देहादि सम्बन्धी अहंकार से अलिप्त होते हैं, इसलिए शून्य आकाश में रक्खे हुए रीते घड़े के समान वह बाहर और भीतर शून्यवत् ही होता है। इसी तरह उसक चित्त सदा परब्रह्म में निमग्न रहता है और सब बाह्य पदार्थों में उसको केवल परब्रह्म ही देख पड़ता है, इसलिए भरे समुद्र में डुबाये हुए घड़े के समान वह अन्तर्बाह्य सर्वत्र परिपूर्ण रहता है। जिस महात्मा की इस प्रकार स्वरूप-स्थिति होती है, उसको ज्ञान की छठी भूमिका पर आरूढ़ जानना चाहिए।

तुर्यगा अथवा तुर्यावस्था सातवीं भूमिका का नाम है। जब पदार्था-भाविनी अवस्था में पूर्ण स्थिरता प्राप्त हो जाती है, तब उसी को तुर्या कहते हैं। इस अवस्था में किसी प्रकार का कर्तव्य शेष नहीं रहता; इसमें साधु पुरुष को अखंड स्वरूपानन्द प्राप्त होता है; इसमें द्वैत-भावना का स्पर्श तक नहीं होता। इस अवस्था को एक प्रकार की सुषुप्ति ही कहना चाहिए। पाँचवीं और छठी भूमिकाओं को अर्धोन्मीलिका कहते हैं। तुर्यावस्था ही विदेह-मुक्ति कहलाती है। मृत्यु-लोक में मनुष्य की इति-कर्तव्यता यही है। आर्य-माता के उज्ज्वल अलंकाररूप वामदेव, शुक, सनक, जड़भरत, जनक, व्यास, वसिष्ठ आदि सब लोग इसी अन्तिम अवस्था को पहुँचे हुए हैं, इस अवस्था को सहज स्थिति भी कहते हैं इस अवस्था में योगी चाहे कोई कर्म करे या न करे, स्वरूप-स्थिति से वह क्षणभर भी च्युत नहीं होता। वह कर्माकर्म के परे हो जाता है। जब तक देह है, तभी तक जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। देह-पात होते ही विदेह-मुक्ति प्राप्त होती है। इन दोनों में जीवन्मुक्ति श्रेष्ठ मानी जाती है। क्योंकि देह-संग के रहते हुए विदेह अवस्था का अनुभव प्राप्त करना

अधिक पूर्णता का लक्षण है। जीवन्मुक्त पुरुष को देह-त्याग के बाद और क्या अधिक मिलनेवाला है? देह के रहते हुए उसके ब्रह्मत्व में क्या न्यूनता है? कुछ नहीं। जीवन्मुक्त पुरुष विदेहावस्था की आशा में बैठा नहीं रहता। देह के रहते हुए भी उसको कर्माकर्मों की बाधा नहीं होती; क्योंकि अपरोक्ष साक्षात्कार के कारण वह स्वयं निर्विकार और ब्रह्म-रूप हो जाता है। देखिए—

अद्यैव मरणं वाऽस्तु कल्पकोटिलयेऽथवा।
तज्ज्ञः कलंकं नाप्नोति हेम पंकगतं यथा॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जीवन्मुक्त के शरीर का अन्त चाहे इसी क्षण हो जाय या कोटि कल्प के बाद हो, उससे उसको न तो कोई लाभ है और न कुछ हानि है। वह निरन्तर ब्रह्म-रूप ही है। यह बात तो है ही नहीं कि यदि उसका शरीर चिर काल बना रहेगा तो उसको पाप लगेगा या कर्तृत्व का भागी होना पड़ेगा और यदि उसका शरीर शीघ्र ही छूट जायगा तो उसको पाप न लगेगा या कर्तृत्व का भागी न होना पड़ेगा। सारांश यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष देह के रहते हुए या देह के छूट जाने पर—दोनों अवस्थाओं में—केवल ब्रह्म-रूप ही है।

उक्त विवेचन से यह बात मालूम हुई कि ज्ञान की सातवीं भूमिका में पहुँचा हुआ योगी देहधारी होकर भी विदेह ही है। यद्यपि देह-रूप से प्रपंच में रहकर वह अनेक कर्म करता है, तथापि साक्षि-रूप से वह निःसंग बना रहता है। इसके लिए शुद्ध सुवर्ण का दृष्टांत दिया गया है। यदि शुद्ध सोना कीचड़ में पड़ा रहे तो भी वह अशुद्ध नहीं होता। और भी दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। कमल-पत्र जल में रहकर उससे अलिप्त रहता है। मेघ या धूम्र से आच्छादित होने पर भी आकाश निर्मल बना रहता है। इसी तरह जीवन्मुक्त पुरुष देह के रहते हुए और देह-सम्बन्धी सब व्यवहार करते हुए भी देहातीत हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वे सदा आत्म-स्वरूप में निमग्न रहते हैं। "तज्ज्ञः कलंक नाप्नोति" इस वचन में तत् शब्द से पूर्ण-ब्रह्म का बोध होता

है। जो पूर्ण-ब्रह्म के अनुभव में सदा निमग्न रहता है, उसीको तज्ज्ञ कहते हैं। ऐसे ब्रह्मज्ञ पुरुष को देह की संगति से किसी प्रकार की मलिनता नहीं आती—वह किसी प्रकार कलंकित नहीं होता। जीवन्मुक्त पुरुष के शरीर-द्वारा चाहे सत्कर्म हो या असत्कर्म हो, उसके शरीर का पतन चाहे तीर्थस्थान में हो या किसी चांडाल के घर में हो, उसको किसी बात की परवा नहीं होती। इस बात के लिए यह वचन प्रमाण है:—

तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेथवा।
ज्ञानसंप्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ज्ञानी पुरुष का शरीर चाहे काशी में छूटे या चांडाल के घर में छूटे, उसको किसी बात की बाधा नहीं होती। वह स्वयं प्रकाश और अद्वैततानन्द स्थिति में निमग्न रहने के कारण सदा मुक्त ही है। सत्संगति या सदाचरण से उसमें कुछ बड़प्पन नहीं आ जाता और असत्संगति या असदाचरण से उसकी ब्रह्म-स्थिति में कुछ हानि नहीं होती। वह तो सदा देहातीत और केवल साक्षि-रूप से रहता है। शुभ और अशुभ की प्राप्ति केवल उसी को हो सकती है, जो देह ही को आत्मा मानता है—जिसकी देह-बुद्धि जाग्रत है—जिसका द्वैत-भाव नष्ट नहीं हुआ है। जीवन्मुक्त पुरुष ज्ञान की सातवीं भूमिका में इन सब बातों के परे हो जाता है।

जब तुर्यावस्था में ज्ञान की पूर्णता हो जाती है और साधक सब प्रकार से मुक्त हो जाता है, तब उसकी वासनाएँ शान्त हो जाती हैं और उसका मन आत्म-स्वरूप में लीन हो जाता है। मन का मनपना नष्ट होते ही ज्ञानी पुरुष सब प्रकार की आकाशों के पाश से मुक्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में मन के रहते हुए भी वह मन-रहित होता है, कानों के रहते हुए भी वह श्रवण-रहित होता है, नेत्रों के रहते हुए भी वह नयन-हीन होता है और चरणों के रहते हुए भी वह चरण-हीन होता है। तुर्यावस्था में रहनेवाले जीवन्मुक्त पुरुष के लिए सब दृश्य पदार्थों का

अस्तित्व नास्ति के समान हो जाता है अर्थात् वह कर्ता होकर भी अकर्ता हो जाता है और भोक्ता होकर भी अभोक्ता हो जाता है। वह सदा भावना में निमग्न रहता है कि "आत्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" अर्थात् वह सर्वत्र आप रूप हो जाता है। सारांश यह है, जब कि जीवन्मुक्त पुरुष देह के रहते हुए ही स्वयं ब्रह्म-रूप हो जाता है, तब देहान्त हो जाने पर वह और क्या अधिक होगा? कुछ नहीं। जिस प्रकार देह रहते हुए ही वह स्वयं ब्रह्म-रूप है, उसी प्रकार देहान्त हो जाने पर भी वह ब्रह्म-रूप ही होता है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती। अतएव देह के रहते हुए और विदेह अवस्था में जीवन्मुक्त पुरुष का एक ही स्वरूप रहता है—वह कदापि भिन्न नहीं हो सकता।

जीवन्मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि देह के रहते हुए ही वह ब्रह्म-रूप हो जाता है और देह-सम्बन्धी कोई विकार उसमें उत्पन्न नहीं होते, तब स्मरण रहना चाहिए कि "हो जाता है" पद का उपयोग केवल औपचारिक रीति से किया गया है। इसका कारण यह है कि जो ब्रह्म स्व-सिद्ध है उसके विषय में "हो जाता है" कैसे कहा जाय? श्रुति का भी वही वचन है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। विमुक्तः सन् विमुच्यते'। अर्थात् वह पहले ही से ब्रह्म-रूप होकर फिर ब्रह्म हो जाता है, पहले ही से मुक्त होकर फिर मुक्त हो जाता है। अतएव जीवन्मुक्त के विषय में यह कहना केवल औपचारिक है कि वह ब्रह्म-रूप "हो जाता है।" ब्रह्म सदा ज्यों का त्यों बना रहता है। उसके विषय में होना, जाना आदि क्रिया असम्भव है। अतएव जीवन्मुक्त पुरुष की ब्रह्म-स्थिति स्वयं-सिद्ध होती है।

इस प्रकार के जीवन्मुक्त पुरुष में यह लक्षण पाया जाता है:—

गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराकाशमुद्रिका।
तृणं त्रिभुवनं राम नैराश्यालंकृताकृते॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् वह सब विषय के सम्बन्ध में विरक्त होने के कारण पृथ्वी को गोष्पद के समान, मेरु पर्वत को स्तम्भ के समान, आकाश को मुद्रिका के समान और त्रिभुवन को तृण के समान मानता है। जीवन्मुक्त

पुरुष के और भी लक्षण कहे गये हैं—

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यांतर्वस्तुदृष्टिषु ।
चरेत्सुषुप्त इव यः स मुक्त इति कथ्यते ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् संसार में सब साधारण लोगों की बाह्य दृष्टि होती है; परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष की अन्तर्दृष्टि होती है। वह निरन्तर आत्म-विलास ही में निमग्न रहता है। उसके लिए न तो कोई पदार्थ इष्ट है और न कोई अनिष्ट है। जब कोई वस्तु अपने से भिन्न मालूम होती है, तभी उसकी इष्टता प्रतीत होती है और उसके विषय में आदर-बुद्धि उत्पन्न होती है और जब उस इष्ट वस्तु की प्राप्ति में विघ्न उत्पन्न करनेवाली कोई वस्तु भिन्न मालूम होती है, तब उसकी अनिष्टता प्रतीत होती है तथा उसके सम्बन्ध में द्वेष-बुद्धि जागृत होती है। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को सारे ब्रह्माण्ड में, अन्तर्बाह्य और सर्वत्र, आप-रूप के सिवाय और कुछ भी देख नहीं पड़ता—उसकी ज्ञानदृष्टि से सारा जगत् ब्रह्ममय ही देख पड़ता है। इसलिए वह सदा निरतिशय आनन्द में निमग्न रहता है। ऐसी अवस्था में उसको इष्ट और अनिष्ट का भेद-भाव प्रतीत होना केवल असम्भव है। तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष सदा इच्छा-रहित होकर निद्रित मनुष्य के समान अपने सब व्यवहार करता रहता है, अज्ञान के कारण मनुष्य अपने मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियों के व्यापार में अहंभाव उत्पन्न करके कर्तृत्व की जवाबदेही अपने ऊपर ले लेता है। इसी से उसको सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि द्वंद्व-भावों का परिणाम भोगना पड़ता है। यह अज्ञान आत्म-ज्ञान के बिना नष्ट नहीं हो सकता। जब अन्तःकरण में आत्मज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, तब मनुष्य अज्ञान-जन्य अहंकार के बन्धन से मुक्त होकर केवल आत्म-स्वरूप हो जाता है। निरन्तर आत्म-स्वरूप ही में रममाण होनेवाला ज्ञानी पुरुष देहादि इन्द्रियों के व्यापार से कदापि बद्ध नहीं हो सकता।

जीवन्मुक्त पुरुष का एक और लक्षण है:—

अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

—योगवासिष्ठ ।

इसका भावार्थः—जो मनुष्य अहंकारमय सब वासनाओं का त्याग करके अन्त में ध्येय, ध्याता और ध्यान की त्रिपुटि का स्फुरण तक, अपने अन्तःकरण में नहीं होने देता, वही जीवन्मुक्त है। इस बात को सब लोग जानते हैं कि जब मन में कोई संकल्प उत्पन्न होता है, तब वह अहंकार से वेष्टित रहता है। अहंकार के बिना कोई भी वासना उत्पन्न नहीं हो सकती। अज्ञान के कारण स्वरूप-स्थित ज्ञान में जो 'अहं' भावना उत्पन्न होती है, उसी को अहंकार कहते हैं। इस अहंकार ही से मन में संकल्प उत्पन्न होते हैं और फिर इन संकल्पों को पूर्ण करने की इच्छा होती है। उसी को काम-रूप वासना कहते हैं। जिन संकल्पों के कारण संसार-रूप वृक्ष की वृद्धि होती है, वे सब अन्त में अहंकार ही के पेट में समा जाते हैं और जैसी वासना होगी, उसी के अनुसार वे फिर उत्पन्न हुआ करते हैं। जागृति में दिन भर मनुष्य अनेक प्रकार के संकल्प करता रहता है। वे सब अहंकार में संचित हो जाते हैं और स्वप्नावस्था में वासना-रूप से प्रकट होते हैं। जगने पर यह अहंकार और भी प्रबल हो जाता है और पूर्व-कृत संस्कार के कारण वासनाएँ भी अत्यन्त तीव्र हो जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य अहंकार-युक्त वासनाओं के अधीन होकर सदा चौरासी के चक्कर में पड़ा रहता है। इसलिए जो मनुष्य अहंकार-सहित सब वासनाओं का क्षय कर डालता है, वही जीवन्मुक्त होता है।

इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि ज्ञान-प्राप्ति का प्रथम साधन श्रवण है। श्रवण करने से सर्व-संग-परित्याग और स्वरूप-स्थिति होती है। जो मनुष्य आदर-पूर्वक श्रवण करता है, वही मनन और निदिध्यासन भी यथोचित रीति से कर सकता है। श्रवण शब्द का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ इस वचन में कहा गया है:—"षड्विधलिंगैः सर्वेषां वेदान्तवाक्यानामद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रवणम्"। अर्थात् वेदान्त-वाक्यों का जो अन्तिम हेतु और तात्पर्यार्थ है, उसको भली भाँति

समझ लेना ही यथार्थ में श्रवण करना है। प्रत्यक्ष आदि छः प्रकार के प्रमाणों से सब वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्यावधारण अद्वैत ब्रह्म में होता है। यही ज्ञान सच्चा श्रवण है। इस प्रकार का श्रवण करने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता है। यदि एकाग्रता न होगी, तो समय व्यर्थ नष्ट होगा और श्रवण से कोई लाभ न होगा। यथार्थ में श्रवण करने के लिए जो आदर-बुद्धि और एकाग्रता आवश्यक है, उसका स्वरूप निम्न वचनों से ध्यान में आ जायगाः—

दूरे मुंचति वधुमधमिव यः सगाद्भुजंगादिव (?)।
त्रासं यो विदधाति वेत्ति सदृशं भोगं च यः॥
स्त्रैणे यस्तृणवत् घृणां प्रकुरुते मित्रेष्वमित्रेष्वपि।
स्वान्तं यस्य समं समंगलमिहामुत्रापि मर्त्योऽश्नुते॥

—योगवासिष्ठ।

भावार्थः—जो मनुष्य अपने वैराग्य-बल से स्त्री, पुत्र, स्रक्, वित्त, बन्धु, मित्र आदि का संग सर्प-संग के समान मान कर तथा स्रक्-चन्दनादि सब प्रकार के भोगों को रोग-तुल्य जान कर छोड़ देता है, वही सुख पाता है, ऐसे विरक्त मनुष्य के हृदय में विषय-भोग के सम्बन्ध में रत्ती भर उत्कण्ठा नहीं होती। इसका मुख्य कारण यही है कि वह केवल आत्म-लाभ से सदा सन्तुष्ट रहता है। जो मनुष्य अमृत-पान से तृप्त हो गया है, वह अन्य क्षुद्र पदार्थ की इच्छा क्यों करेगा? इसी तरह जो सत्पुरुष निरन्तर परमानन्द मे निमग्न रहता है, वह किसी विषय-भोग की अपेक्षा क्यों करेगा! जब कि साधन-अवस्था ही में मुमुक्षु को विषय-भोग का त्याग करना पड़ता है, तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि ज्ञान-प्राप्ति के बाद भी वह विषय-भोगों से विरक्त रहता है। शत्रु अथवा मित्र दोनों को वह समान दृष्टि से देखता है। उसके हृदय में भेद-भाव के लिए स्थान ही नहीं रहता। यही एकाग्रता का लक्षण है। जब ऐसी एकाग्रता होती है, तभी श्रवण करने की शक्ति सफल होती है और मनन तथा निदिध्यासन का कार्य उचित रीति से किया जा सकता है।

जीवन्मुक्ति ही आर्य तत्त्व-ज्ञान का शिखर है। इसका जो वर्णन यहाँ

तक किया गया है, उस पर से यह बात ध्यान में आ सकती है कि भरतखंड के योगीजन ज्ञान की किस ऊँची श्रेणी तक पहुँचे हुए थे। ऐहिक विषय-सम्पत्ति चाहे जितनी मिल जाय, परन्तु उससे शाश्वत सुख की प्राप्ति कभी हो नहीं सकती; यह सिद्धान्त आर्य लोगों को जैसा मालूम था, वैसा किसी अन्य देश के लोगों को मालूम न था। विषय-सुख से पराङ्मुख होकर आत्म-सुख की ओर प्रवृत्ति होनी चाहिए, यही आर्य तत्त्वज्ञान का उद्देश है। जब तक यह बात पूरी तरह समझ में न आ जायगी कि आत्म-सुख कुछ देहेन्द्रियों के समाधान करने में नहीं है, तब तक आत्म-विद्या का महत्त्व जानना असम्भव है।

जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षणों का उपसंहार इस प्रकार किया गया है:—

अनात्मन्यात्मधीर्बंधस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
बंधमोक्षौ न विद्येते नित्यमुक्तस्य चात्मनः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् देह, इन्द्रियाँ, मित्र, कलत्र आदि सब दृश्य पदार्थों को अनात्मा कहते हैं। आत्मा स्वयं निर्विकार केवल साक्षि-रूप है। अनात्म पदार्थों के विषय में जो आत्म-बुद्धि उत्पन्न होती है उसी को बंधन कहते हैं। देहात्म-बुद्धि के सिवाय और कोई बंधन ही नहीं है। इसलिए कहा है कि देहात्म-बुद्धि ही सब पापों की जड़ है—इससे बढ़कर और कोई पाप नहीं है; जैसे "देहात्मबुद्धिजं पापं तद्गोवधकोटिभिः" देह (अनात्मा) को आत्मा मानने से जो पाप लगता है, वैसा कोटिशः गोवध करने से भी नहीं लगता। इस देहात्म-बुद्धि के नाश को मोक्ष कहते हैं और जिस स्थिति में न तो देहात्म-बुद्धि का बंधन और न मोक्ष है, वही ज्ञान की चरम सीमा है। केवल आत्म-वस्तु के विषय में आत्म-बुद्धि की स्थिति को ही जीवन्मुक्तावस्था या नित्य मुक्तावस्था कहते हैं। यही नर-देह की सार्थकता है, यही हमारे जीवन की सफलता है। मनुष्य के लिए इसके सिवाय और कोई इति-कर्तव्यता नहीं है।

जीवन्मुक्त पुरुष को वैराग्य, बोध और उपरम की आवश्यकता है।

ज्यों-ज्यों इन तीनों गुणों की वृद्धि और पूर्णता होती जायगी, त्यों त्यों जीवन्मुक्त स्थिति की भी पूर्णता होती जायगी। ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर भी उसको तृण के समान मानना यही वैराग्य की परमावधि है। केवल आत्मा के सम्बन्ध में आत्मबुद्धि की स्थिरता होना, यही बोध की परमावधि है। जिस प्रकार सुषुप्ति में प्रपंच का पूर्ण विस्मरण हो जाता है, उसी प्रकार अन्य अवस्थाओं (जागृति और स्वप्न) में निरन्तर रहना, यही उपरम की परमावधि है। अतएव इन तीनों गुणों का सम्मेलन जीवन्मुक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन तीनों गुणों में परस्पर एकता है—इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है—ये सदा एकत्र रह सकते हैं। जब विषयों के सम्बन्ध में दोष-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, तब समझना चाहिए कि वैराग्य का फल प्राप्त हुआ। बुद्धि में यह निश्चय स्थिर हो जाता है कि ब्रह्म सत्य और नित्य है तथा प्रपंच मिथ्या और अनित्य है, तब समझना चाहिए कि बोध का फल प्राप्त हुआ। यह बोध श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों के द्वारा प्राप्त होता है। जब मनुष्य केवल आत्म-स्वरूप में निमग्न हो जाता है और उसको किसी प्रापंचिक व्यवहार का स्मरण नहीं होता, तब समझना चाहिए कि उपरम का फल प्राप्त हुआ। जब इन तीनों की एकता हो जाती है, तब समझना चाहिए कि जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त हुई। जिस अवस्था या स्थिति को मोक्ष कहते हैं, वह न तो ऊपर कहीं स्वर्गलोक में है और न नीचे कहीं पाताल-लोक में है। बाहर से यदि त्रिभुवन ढूँढ़ लिये जायँ तो भी उसका पता नहीं लगता। परन्तु सद्गुरु के मुख से महा-वाक्य का बोध होते ही सब प्रापंचिक आशाओं का क्षय हो जाता है; वासनाओं का क्षय होते ही मन का मनपना नष्ट हो जाता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि वैराग्य, बोध और उपरम की एकता ही में मोक्ष है। इस बात की आवश्यकता नहीं है कि इन तीनों गुणों का परिणाम एक ही समान हो। यदि इनमें से कोई एक गुण अधिक हो और शेष गुण कुछ न्यून हों तो भी कोई हानि नहीं; परन्तु यह कदापि हो नहीं सकता कि किसी एक गुण का बिलकुल

अभाव हो और शेष गुण बने रहें। जैसे सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रत्येक मनुष्य में न्यूनाधिक परिमाण से रहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं होता कि इनमें से किसी एक का अत्यन्त अभाव हो जाय; वैसे ही वैराग्य, बोध और उपरम के योग का नियम है। यदि दृढ़ वैराग्य बिलकुल न हो तो बोध कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता और यदि बोध बिलकुल न हो तो उपरम की उत्पत्ति हो नहीं सकती; अतएव इन तीनों को परस्पर एकता का लक्षण यह है कि यदि केवल बोध अत्यन्त प्रबल होगा तो वैराग्य और उपरम का अभाव कभी हो ही नहीं सकता। इन तीनों गुणों से युक्त होकर जीवन्मुक्त पुरुष नित्य-मुक्ति परमात्मा में लीन हो जाता है—वह स्वयं आत्माराम होकर स्व-स्वरूप ही में रममाण होने लगता है। जीवन्मुक्त पुरुष की इस स्थिति के विषय में मुंडकोपनिषद् में लिखा है—"आत्मक्रीड आत्मरतिः।" इसका अर्थ श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी ने उपनिषद् व्याख्या में यह कहा है—साधक श्रुति-वचनों द्वारा आत्मा के अद्वितीयत्व और स्व-प्रकाशत्व की प्रबलता स्थापित करना और और बाधक श्रुति-वचनों से उनकी दुर्बलता स्थापित करना। इस प्रकार जब जीवन्मुक्त पुरुष केवल आत्माराम हो जाता है, तब देहात्म-बुद्धि का उसको स्मरण भी नहीं होता। उस अवस्था में उसको बन्धन और मोक्ष किसी का भी ज्ञान नहीं होता। जो महात्मा बन्ध और मोक्ष दोनों के परे हो जाता है, उसी को नित्य-मुक्त कहते हैं।

इस प्रकरण के उपसंहार में यह वचन भी ध्यान में रखने योग्य है:—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
संपन्ना चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृत्तिः॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थः—यह ज्ञान हो जाने पर कि जितना दृश्य है सब मिथ्या है, जब मन दृश्यहीन हो जाता है तब परम सुख की प्राप्ति और अखंडित मोक्ष-स्थिति होती है। उक्त वचन में निर्वृत्ति शब्द से निरतिशय सुख का अर्थ सूचित होता है; और 'मन में से दृश्य पदार्थों को निकाल

डालना या मन को 'दृश्य-हीन करना' इस अर्थ में दृश्य-मार्जन शब्द का उपयोग किया है। दृश्य शब्द भी बहुत व्यापक है। इस शब्द से सिर्फ उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्रहण न करना चाहिए जो नेत्रेन्द्रिय-द्वारा प्राप्त होता है; परन्तु उसमें उस सब ज्ञान का समावेश होता है, जो किसी भी इन्द्रिय या मन से प्राप्त होता है। अर्थात् स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के दृश्य मिथ्या-भूत और दुःख-रूप हैं, अतएव यदि वे मन में से निकाल दिये जायँ, तो परमानन्द की प्राप्ति होगी। इसी परमानन्द-अवस्था को निर्वाण कहते थे, जिसका विशेष निरूपण अगले प्रकरण में किया जायगा। दृश्य-मात्र का मन से नाश करने के लिए महावाक्य-विचार ही मुख्य साधन है। जब तत्पद और त्वं-पद का संशोधन गुरु-मुख से किया जाता है और तर्कशास्त्र के आधार पर सब पदार्थों का परिज्ञान हो जाता है तब दृश्य की कोई बाधा नहीं होती — सब दृश्य आप-ही-आप नष्ट हो जाता है। जब साधक निर्वाण-स्थिति में रहने का अभ्यास करता है, तब इस दृश्य से बाधा उत्पन्न होती है, इसलिए उसका क्षय करना पड़ता है।

इस संसार में जिसे सुख कहते हैं, वह केवल आत्म-सुख ही है। यद्यपि यह सुख संसारी लोगों को विषय-भोग से प्राप्त होता है, तथापि वह सचमुच आत्म-सुख ही है; क्योंकि सुख या आनंद केवल आत्मा का धर्म है। परन्तु विषय-भोग से प्राप्त हुए सुख और शुद्ध आत्म-सुख में भेद यही है कि विषय-भोग में सुख दृश्य विषयों से संयुक्त रहता है और इसीलिए वह अत्यन्त मर्यादित होता है। जब दृश्य का नाश हो जाता है तब अपरिमित सुख प्राप्त होता है। जिस स्थिति में दृश्य का स्फुरण तक नहीं होता वहीं द्वैत-भाव गलित हो जाता है और अद्वैत सुख तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। उसी को शुद्ध आत्म-सुख कहते हैं। उसी को निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं। यही ज्ञान की सातवीं भूमिका है। यही निर्वाण-अवस्था है। उससे बढ़कर और कोई उत्तम अवस्था नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुष सदा उसी अवस्था में रहता है।

जीवन्मुक्ति प्राप्ति के लिए देहपात की आवश्यकता नहीं है।

अद्भुत अवस्था का अनुपम अनुभव देह में किया जा सकता है। योगवासिष्ठ में कहा है—"सर्वाशासंक्षये चेतः क्षयो मोक्ष इहेष्यते।" अर्थात् जब सब आशाओं का नाश हो जाता है, तब चित्त का भी क्षय हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो लोग वायु-निरोध से मन का निरोध करते हैं वे कुछ समय तक सुषुप्ति के समान मूर्छावस्था में पड़े रहते हैं। वहाँ विवेक का नाम तक नहीं रहता जब वह मूर्छावस्था नष्ट हो जाती है, तब मन फिर से पहले की नांई संकल्प-विकल्प करने लगता है और चित्त में दृश्य विषयों की तरंग फिर से उत्पन्न होने लगती हैं। छोटे और अज्ञान बालक खेल में दिन को रात कहकर कुछ समय तक सो जाते हैं और फिर उठ बैठते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जब वे दिन को रात मान कर आँखें बंद कर लेते और सो जाते हैं तब क्षण भर उनके लिए दिन का अभाव ही हो जाता है। परन्तु इससे उनका क्या लाभ होता है। क्या दिन के बदले रात हो सकती है? क्या मिथ्या संकल्प करके आंखें बन्द कर लेने से यथार्थ वस्तु प्राप्त हो सकती है? कदापि नहीं। इसी तरह इसमें संदेह नहीं कि वायु-निरोध से कुछ समय तक मन का निरोध किया जा सकता है; परन्तु उससे कुछ लाभ नहीं होता। सुषुप्ति के समय अर्थात् गहरी नींद में मनोनिग्रह और वासनाओं का लय हर दिन आप-ही-आप हो जाया करता है; परंतु क्या इससे मुक्ति प्राप्त हो सकती है? यदि इससे मुक्ति प्राप्त हो जाती तो सब लोग रात-दिन सुषुप्ति में ही पड़े रहते। तात्पर्य यह है कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए वायु-निरोध द्वारा चित्त का निग्रह करना व्यर्थ है। विवेक द्वारा जब पदार्थ ज्ञान संपादन करके वासनाओं का क्षय किया जाता है तब मन का क्षय आप-ही-आप हो जाता है। मन के क्षय ही को मोक्ष कहते हैं, जिसका अनुभव इसी जन्म में और इसी देह में हो सकता है। यही बात अन्य शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है:—सांसारिक जन देहादि अनात्म पदार्थों के विषय में आत्म-बुद्धि या आत्म-भाव रखते हैं, इसलिए वे उन अनुकूल पदार्थों का स्वीकार करते हैं, जिनके द्वारा उन्हें सुख मिलता है और वे उन प्रतिकूल पदार्थों का त्याग करते हैं, जिनके

द्वारा उन्हें दुःख होता है। परन्तु यह कुछ सुख-प्राप्ति का सच्चा मार्ग नहीं है। जो आत्म-भाव अनात्म पदार्थों के विषय में रक्खा जाता है, वह यदि केवल आत्मा ही के विषय में दृढ़ किया जाय जो अनुकूलता और प्रतिकूलता का भेद-भाव नष्ट हो जायगा—यह जीव सुख और दुःख दोनों के परे हो जायगा। यही सच्चा सुख है। इसी को मोक्ष कहते हैं। इसकी प्रतीति इसी प्रकार संसार में, इसी जन्म में, इसी देह में होती है। परन्तु स्मरण रहे कि देहात्मा-बुद्धि के त्याग और आत्म-भाव के ग्रहण करने की जो कुंजी है (अर्थात् जीवन्मुक्ति का जो रहस्य है) वह गुरु-कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकती।

दसवाँ प्रकरण

निर्वाण

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति

—कठोपनिषद्

जीवन्मुक्ति प्रकरण के बाद यथार्थ में अब निरूपण करने के लिए कोई विषय नहीं है। ग्रन्थ के इस भाग की समाप्ति हो चुकी और अब आगे रचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहाँ तक ग्रन्थ के इस भाग की रचना ही इस प्रकार की गई है जिससे सम्पूर्ण ज्ञान क्रमशः प्राप्त हो जाता है। सब से पहले वैराग्य का निरूपण किया गया है; क्योंकि वही आत्म ज्ञान की मूल भूमिका है। परन्तु यदि क्षणिक वैराग्य से सब बाह्य विषय त्याज्य मालूम हों और देहादि प्रपंच में आसक्ति बनी रहे तो समझना चाहिए कि सच्चा वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ। इसलिए दूसरे प्रकरण में जगन्मिथ्यात्व का निरूपण किया गया है। जगन्मिथ्यात्व-पूर्वक वैराग्यस्थिति प्राप्त करने के लिए मनोनाश और वासनाक्षय की आवश्यकता है। इन अन्तरंग साधनों का उपयोग करने से स्वयं-प्रकाश आत्मा का परोक्ष-ज्ञान हो जाता है। इसलिए तीसरे प्रकरण में मनोलय और चौथे में वासनोपशमन का निरूपण किया गया है

यह सब श्रवण-सम्पत्ति है। इस पर मनन करना चाहिए। मनन के बाद निदिध्यासन की आवश्यकता है। इसलिए पाँचवें, छठे और सातवें प्रकरण में आत्म-मनन, शुद्ध निरूपण और आत्मार्चन का यथाक्रम वर्णन किया गया। अनन्तर आत्मा का लक्षण जानने के लिए आत्म-निरूपण नामक आठवाँ प्रकरण सिद्ध हुआ। इस प्रकार साधन-सम्पत्ति सिद्ध हो जाने पर जीवन्मुक्तावस्था आप-ही-आप प्राप्त होती है। इस अवस्था के लक्षणों का विस्तृत वर्णन पिछले प्रकरण में किया गया है। इसका सम्यग्ज्ञान और अनुभव होने से परमानन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार यद्यपि परम सुख का मार्ग समझ में आ गया, तथापि सद्गुरु-कृपा के बिना ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। "काँख में लड़का और गाँव में गुहार"—इस कहावत का अर्थ सब लोगों को मालूम है। ठीक ऐसी ही दशा उस साधक की होती है जिस पर सद्गुरु-कृपा नहीं होती। स्वयं-प्रकाश आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण बहुतेरे लोग घबड़ा जाते हैं और भ्रम-वश होकर अनेक पर्वत-गुहाओं में ईश्वर की खोज में भटका करते हैं। ये लोग ईश्वर की प्राप्ति के लिए चारों ओर भ्रमण करते-करते यद्यपि सारा जन्म बिता देते हैं, तथापि उनको ईश्वर का दर्शन नहीं होता। इसका मुख्य कारण उनका अज्ञान है—वे इस बात को नहीं जानते कि ईश्वर हमारे हृदय ही में है। जिस परमात्मा की प्रेरणा से उनके मन में बन-बन घूमने और पर्वत-गुहाओं में निवास करने की इच्छा उत्पन्न होती है उसके सत्य-स्वरूप को वे जानते नहीं। इस अज्ञान का नाश केवल सद्गुरु-कृपा से होता है। शास्त्र ग्रन्थों में निरूपित कुछ साधनों का अभ्यास कर लेने से परोक्ष-ज्ञान हो जाता है; परन्तु अपरोक्ष-साक्षात्कार केवल सद्गुरु की कृपा से होता है। जब साधक सद्गुरु के बोधामृत का प्राशन करता है, तभी उसको अपरोक्षानुभव होता है और सारे संसार में आनन्द देख पड़ता है।

इस आनन्दमय और सुखकारक स्थिति की प्राप्ति के लिए गत प्रकरणों में अनेक उपाय बताये गये हैं। उन उपायों के अनुसार अभ्यास

करने के लिए मनोनिग्रह की अत्यन्त आवश्कयता है, परन्तु मन का निग्रह करना बहुत कठिन है। भगवद्गीता में कहा है:—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् मन इतना चंचल है कि उसका निग्रह करना वायु के निग्रह के समान अत्यन्त कठिन है। इसी मनोनिग्रह के लिए सब लोग जन्म से मृत्यु तक सदा यत्न करते रहते हैं; परन्तु बहुत कम लोग सफल होते हैं। अब प्रश्न यह है कि यदि यह उपाय इतना कठिन और कष्ट-साध्य है, तो उसके बिना जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होगी या नहीं—अथवा अपरोक्ष साक्षात्कार होगा या नहीं? प्रस्तुत निर्वाण प्रकरण में इसी विषय का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में जो सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं, वे बहुत मनोरंजक हैं। यदि उनका यथोचित आकलन किया जाय तो संसार का बहुत लाभ होगा। बहुतेरे लोग योगाभ्यास को अत्यन्त कठिन समझ कर पारमार्थिक मार्ग का त्याग कर देते हैं। उन लोगों को इस विषय की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए; क्योंकि इसमें सहजावस्था का मनोवेधक निरूपण किया गया है। सहजावस्था किसे कहते हैं, जब यह प्राप्त होती है, तब कौन से लक्षण प्रकट होते हैं, सहजावस्था में रहनेवाला मनुष्य संसार में किस प्रकार व्यवहार करता है इत्यादि अनेक उपयुक्त बातों का वर्णन इस प्रकरण में पाया जायगा।

सहज-स्थिति के लिए प्राणायाम, आसन, मनोलय, वासनाक्षय आदि साधनों की आवश्यकता नहीं है। यदि इन साधनों का अभ्यास ज्ञान-पूर्वक किया जायगा तो जीवन्मुक्तावस्था सहज ही प्राप्त होगी। परन्तु जब बिना ज्ञान की सहायता के मन और वासना का क्षय किया जाता है, तब यद्यपि प्रपंच का कुछ समय के लिए लय हो जाता है, तथापि मुख्य अनुभव की प्राप्ति नहीं होती। बहुरूपिया लोग केवल अभ्यास से मन का लय करके बहुत देर तक तटस्थ रह सकते हैं; परन्तु ज्यों ही उनकी 'समाधि' का व्युत्थान होता है, त्यों ही वे अपने

पेट के लिए प्रेक्षकों से इनाम माँगने लगते हैं ! सच बात तो यह है कि कोई भी मनुष्य केवल अभ्यास से अपने मन और प्राण का आकर्षण करके तटस्थ हो सकता है; परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस उपाय से अज्ञान का नाश होता है ? नहीं; जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक सिर्फ मन और प्राण का आकर्षण करके अज्ञान का क्षय होना असंभव है। केवल वायु-निरोध से मनोजय करने की योग्यता उस स्थिति से किसी प्रकार अधिक नहीं है जो सुषुप्ति, मूर्छा, लय आदि अवस्थाओं में प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि अज्ञान के नाश का मुख्य साधन आत्म-ज्ञान ही है। सविलासी अविद्या का नाश आत्म-ज्ञान के सिवाय और कौन कर सकता है ? इसलिए मुक्ति की इच्छा करनेवाले साधकों को आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कर लेना ही अत्यन्त आवश्यक है। साधकों को उचित है कि वे अपने सद्गुरु से महा-वाक्य का विवरण सुनें। उसके विषय में मनन, निदिध्यासन आदि करने से निस्सन्देह आत्म-ज्ञान को प्राप्ति होगी। स्वयं-प्रकाश आत्मज्ञान होते ही प्रपंच का लय हो जाता है और मुक्तावस्था प्रगट होती है। यही बात श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार कही है :—

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति। नान्यः पंथा अयनाय विद्यते।

इस वचन में 'अतिमृत्यु' शब्द का अर्थ मुक्ति है। आत्म-ज्ञान के सिवाय मोक्ष-प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

सहज-स्थिति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को ब्रह्मवेत्ता होना चाहिए। शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अन्य साधनों का अवलम्ब करना वृथा क्लेश है। तैत्तिरीयारण्यक में कहा है :—

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्।" अर्थात् जो ब्रह्मवेत्ता है उसी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। बृहदारण्यक में लिखा है "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।" अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म-रूप हो जाता है। ये दोनों वचन अत्यन्त महत्त्व के हैं। जो ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म हो गया है उसको ज्ञान-धारणा की कोई आवश्यकता नहीं—जिसको आत्मा का अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त हो गया है, उसको मनोजयार्थ निरन्तर यत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं।

सच है; शास्त्रोक्त-विधि से यज्ञोपवीत आदि संस्कारों द्वारा जो मनुष्य ब्राह्मण हुआ उसको फिर रात-दिन यह अनुसंधान करने की क्या आवश्यकता है कि "मैं ब्राह्मण हूँ।" एक बार उसका संस्कार हो जाने पर उसको अपने ब्राह्मणत्व का विस्मरण कदापि नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा का सम्यग्ज्ञान हो जाने पर मनुष्य की ब्रह्म-स्थिति सहज ही हो जाती है; फिर उसको यत्न करना नहीं पड़ता। श्वेताश्वतर उपनिषद् के "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" इस वचन में 'एव' पद से जैसे अन्य साधनों का निषेध किया गया है वैसे ही ज्ञानधारा का भी समझना चाहिए।

अपरोक्ष साक्षात्कार को सहज-स्थिति कहते हैं। इस साक्षात्कार के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता है, उसमें असंभावना और विपरीत-भावना न होनी चाहिए। जब एक बार यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि यह रज्जू है, तब उसके विषय में सर्प का आभास नष्ट हो जाता है। रज्जू के विषय में असंदिग्ध ज्ञान (अर्थात् असंभावना तथा विपरीत-भावना-रहित ज्ञान) हो जाने से भय कंपादि विकारों का सर्वथा नाश हो जाता है। यही हाल अपरोक्ष साक्षात्कार या सहज-स्थिति का है। साक्षात्कार होते ही यह विश्व-रूप स्वप्न कदापि सत्य प्रतीत न होगा। स्वप्नावस्था से जागृत होने पर जैसे मनुष्य अपने स्वप्न की बातों को सत्य नहीं मानता, वैसे ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार होने पर विश्व-प्रतीति को असत्य मानता है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ ही यह है कि आत्मा का पूर्ण-ज्ञान हो गया है। इसी को जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं। इसकी प्राप्ति के लिए सदा तटस्थ वृत्ति का अवलम्ब करना नहीं पड़ता। किसी भी वर्ण या आश्रम में रहते हुए इस स्थिति का अनुभव किया जा सकता है। राजा जनक ब्रह्मवेत्ता थे तो भी उन्होंने राज्य-संपत्ति का उपभोग किया। वसिष्ठ ऋषि ने गृहस्थाश्रम का स्वीकार किया था। तुलाधार तो वणिक् था। तात्पर्य यह है कि योगीजन सहज-स्थिति में रहते हुए संसार के सब व्यवहार करते रहते हैं। स्मरण रहे कि यद्यपि वे बाह्य-दृष्टि से अनेक सांसारिक कामों में लगे हुए देख पड़ते हैं, तथापि

वे कर्तृत्व और भोक्तृत्व के परे होते हैं।

अब यह बात सिद्ध हो गई कि सहज-स्थिति प्राप्त होने पर न तो अष्टांग-योग-साधन की आवश्यकता रहती है और न मनोनाश तथा वासना-क्षय का यत्न करना पड़ता है। सहज-स्थिति में समाधि का सुख सहज और निरन्तर प्राप्त होता है। जब साधु पुरुष का मन सारे विश्व को ब्रह्म-भाव से देखने लगता है, तब उस अवस्था में अन्य प्रकार के संकल्प उठते ही नहीं। उसको अपने शरीर तक का भान नहीं रहता है। जिस मन के कारण संकल्प या विकल्प किये जाते हैं वही मन ब्रह्ममय हो जाता है। इसी को निर्विकल्प स्थिति कहते हैं। योगीजन सदा इसी स्थिति में निमग्न रहते हैं। वे लोग इन्द्रियों का दमन करें या न करें उनके लिए दोनों बातें समान हैं; क्योंकि उनकी ब्रह्म-स्थिति सदा ज्यों की त्यों बनी रहती है। जब दही को मथ कर उसमें से मक्खन निकाल लिया जाता है, तब वह (मक्खन) दही में डालने पर भी उससे अलग रहता है। इसी तरह जिसका मन एक बार प्रापंचिक बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्म-स्थिति में निमग्न हो जाता है, उसको फिर प्रपंच के किसी कार्य में आसक्ति रह नहीं सकती। ज्ञानी पुरुष को प्रपंच और समाधि दोनों बराबर हैं। प्रपंच में रहने से उसे कोई हानि नहीं और समाधि में रहने से उसे कोई लाभ नहीं। जैसे यदि हीरे को संदूक में बन्द रक्खें तो कुछ उसका हीरापन बढ़ न जायगा और यदि उसको मिट्टी में डाल दें तो उसका हीरापन कुछ घट न जायगा; वैसे ही योगी चाहे निर्विकल्प समाधि में रहे, चाहे सविकल्प समाधि में रहे, दोनों अवस्थाएँ उसके लिए समान हैं—उनमें कोई विशेष लाभ या हानि नहीं है।

योगीजनों की स्थिति के विषय में श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं :—

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभिर्गुणोभवेन्मत्सु विविक्तधाम्नः।
विक्षिप्यमाणैरुत किंनु दूषणं घनैरुपेतैर्विगतेरवेः किम्॥

अर्थात् जिसको ईश्वर-स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार हुआ है और

जिसका अन्तःकरण असंभावना, विपरीत-भावना आदि संस्कारों से कदापि मलिन नहीं होता, वह चाहे इन्द्रियों का दमन करे या न करे, उसकी दोनों बातें समान हैं। यद्यपि त्रिगुणात्मक इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यवहार करती रहें तो भी सत्पुरुष अपने ब्रह्म-पद से च्युत नहीं होता। यद्यपि सत्पुरुष के अन्तः-करण में काम, क्रोध की लहरें क्षणभर देख पड़ें तो भी वे ब्रह्मस्फूर्ति से तुरन्त ही शान्त हो जाती हैं। इस बात का समझाने के लिए मेघ से आच्छादित सूर्य का बहुत अच्छा दृष्टान्त दिया गया है। जब सूर्य मेघ से आच्छादित हो जाता है तब क्या उसका सूर्यपन नष्ट हो जाता है या उसका प्रकाश घट जाता है? नहीं। मेघ के आवरण से सिर्फ लोगों की दृष्टि में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। सूर्य में कुछ बदल नहीं होता, वह ज्यों का त्यों प्रकाशमान बना रहता है। मेघ कुछ समय तक रह कर चले जाते हैं; परन्तु सूर्य ज्यों का त्यों तेजोमय बना रहता है। यही हाल आत्मज्ञानी पुरुष का जानो। वह केवल साक्षि-स्वरूप का अनुभव लेता है, इसलिए गुण और वृत्तियों के कारण उसके सत्स्वरूप में कुछ बदल नहीं होता।

सहज-स्थिति का मूल तत्त्व यही है कि शरीर के रहते हुए भी उसके सम्बन्ध में आसक्ति न रहे। शरीर-सम्बन्धी आसक्ति को देहाभिमान या अहंकार कहते हैं। शरीर-सम्बन्धी आसक्ति या देहाभिमान के नष्ट हो जाने से अहंकार का नाश हो जाता है। यह अभिमान दो प्रकार का होता है :—पहला साधारण अभिमान और दूसरा विशेष अभिमान। सब जीवों में "मैं मैं" कहनेवाला, "मैं ऐसा करूँगा, मैं वैसा करूँगा, मैंने यह किया, मैंने यह नहीं किया" इत्यादि भाव प्रकट करनेवाला जो तत्त्व है, उसी को साधारण अभिमान कहते हैं। यह अभिमान त्रिगुणवृत्तियों द्वारा प्रकट होता है। इसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार किया है :—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोहं बलवान्सुखी ॥

अर्थात् यह वस्तु मैंने आज प्राप्त की, कल अमुक इच्छा सफल करूँगा, आज मेरे पास इतना धन है, कुछ समय में यही धन इतना अधिक हो जायगा, मैंने इस शत्रु का नाश किया, कल किसी दूसरे का नाश करूँगा, मैं ईश्वर हूँ—मेरे समान श्रीमान् कौन है ? मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मै बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि भाव केवल अहंकार के अनेक रूप हैं। आसुरस्वभाव के लोगों में अहंकार अत्यन्त प्रबल रहता इसलिए व्यतिरेक न्याय से यह बात सिद्ध होती है कि ज्यों ज्यों आसुरस्वभाव का नाश होगा, त्यों त्यों अहंकार की प्रबलता भी नष्ट होती जायगी।

"मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं यति हूँ, मैं भिक्षु हूँ, मै संन्यासी हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ" इत्यादि प्रकार के भाव विशेष अभिमान के दर्शक हैं। दोनों प्रकार के अभिमानों का स्वरूप भली भाँति जान लेना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि संपूर्ण विश्व किसी-न-किसी प्रकार के अभिमान से लिप्त है। यह बात सब लोगों को विदित है कि संसार में सब कार्य अहंकार ही की प्रेरणा से हुआ करते हैं। जो साधु पुरुष उक्त दोनों प्रकार के अभिमानों का नाश कर डालता है, उसके अन्तःकरण में कर्तृत्व का लेश तक नहीं रहता है। वह पाप पुण्य के परे हो जाता है। सच है, जो मनुष्य किसी कर्म का कर्ता होगा—जिस मनुष्य के अन्तःकरण में किसी कर्म से कर्तृत्व का अभिमान होगा—वही पाप और पुण्य का भोक्ता हो सकता है। परन्तु जो मनुष्य ब्रह्मनिष्ठ है, उसके अन्तःकरण में कर्तृत्व या भोक्तृत्व की भावना ही नहीं रहती—उसका अभिमान नष्ट हो जाता है, इसलिए चाहे वह कोई कर्म करे या न करे। दोनों अवस्थाओं में उसकी ब्रह्मनिष्ठा समान ही बनी रहती है। इस विषय में श्रुति का वचन है :—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य ।
न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् ॥

—तैत्तिरीय-ब्राह्मण ।

अर्थात् ब्राह्मण की ज्ञान-महिमा बड़ी अद्भुत है। यदि वह कर्म करे तो भी उसकी महिमा कुछ घटती नहीं और यदि वह कर्म न करे तो भी उसकी महिमा कुछ बढ़ती नहीं। कर्म करने से उसके ब्राह्मणत्व में क्या अधिकता होगी और कर्म न करने से क्या न्यूनता होगी? कुछ नहीं। दोनों अवस्थाओं में उसकी ब्रह्म-स्थिति समान रहती है। इसका कारण यही है कि उसके अन्तःकरण में अहंभाव बिलकुल नहीं रहता। उक्त वचन में 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ ब्राह्मण जाति नहीं है। ब्राह्मण जाति के अनुसार कर्म करनेवाले केवल साधारण ब्राह्मण हैं। जिन लोगों को आजकल हम ब्राह्मण नाम से संबोधन करते हैं, वे उक्त श्रुति-वचन में निर्दिष्ट ब्राह्मण नहीं हैं। उस वचन में जो ब्राह्मण शब्द है उसका अर्थ सुरेश्वराचार्य ने इस प्रकार किया है:—

यस्त्वक्षरपरिज्ञानान्मृत्योर्मृत्युः प्रमीयते।
स एव ब्राह्मणो नान्यो जगत्यभ्यवसीयताम्॥

—वार्तिक।

अर्थात् जिसने शाश्वत, नित्य और निर्विकार परमात्मा के ज्ञान से संसार का नाश कर डाला है और जो जन्म तथा मृत्यु के चक्कर से छूट गया है, उसी को ब्राह्मण कहना उचित है—अन्य सब लोगों को केवल नामधारी या वेषधारी ब्राह्मण समझना चाहिए। मृत्यु का मृत्यु अर्थात् मृत्यु का भी नाश करनेवाला केवल एक चैतन्य है; परमात्मा के अपरोक्ष ज्ञान से जिसने उस चैतन्य का साक्षात् अनुभव किया है वही सच्चा ब्राह्मण है। केवल सत्कर्माचरण से ब्राह्मण-पद प्राप्त नहीं होता। इसलिए जो सच्चा ब्राह्मण है वह सदा ब्रह्म-रूप ही रहता है; चाहे वह सत्कर्म करे या न करे, चाहे वह समाधिस्थ रहे या राज्य का शासन करे, चाहे वह गृहस्थाश्रम में रहकर सांसारिक सब व्यवहार करे या संसार का परित्याग करके संन्यास ग्रहण करे, उसका ब्रह्मानुभव ज्यों का त्यों बना रहता है। इस विषय में यह वचन अत्यन्त महत्त्व का है:—

योगरतो वा भोगरतो वा । संगरतो वा संगविहीनः ॥
किंचिद् ब्रह्मणि योजितचित्तो । नंदति योगी नंदति धीरः ॥

— योगवासिष्ठ ।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य ने अपना चित्त परमात्मा में लगा दिया है, वह सदा परमानन्द में निमग्न रहता है और उसको यह विश्व ब्रह्म रूप ही देख पड़ता है। वह मनुष्य किसी प्रकार का व्यवहार करे, चाहे वह योगाभ्यास करे या अनेक प्रकार के भोग और विलास में रत रहे, वह स्त्री-पुत्रादिकों का संग करे या निःसंग होकर वन में रहे, सब अवस्थाओं में वह ब्रह्म-रूप ही रहता है। वह किसी अवस्था में अपने ब्रह्म-पद से च्युत नहीं होता। वह देही होकर देहातीत रहता है, कर्ता होकर अकर्ता रहता है और भोक्ता होकर अभोक्ता रहता है। जब किसी प्रकार के संग या असंग की बाधा नहीं होती, तब मनोनिग्रह की क्या आवश्यकता है ? यही सहज-स्थिति का लक्षण है। चलते बोलते, बैठते-उठते, सब काम करते हुए ब्रह्म-रूप रहना ही सहज-स्थिति का रहस्य है।

सहज-स्थिति का सम्यक् बोध होने के लिए स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जब स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्य में परमात्मा का भान होता रहता है, इस प्रकार ब्रह्म-स्थिति में रहनेवाला मनुष्य सद्रूप, चिद्रूप और आनन्द रूप परमात्मा का अनुभव करता हुआ सर्वत्र ब्रह्म ही का दर्शन पाता है। स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने के लिए बुद्धि बहुत प्रगल्भ होनी चाहिए। आर्य-तत्त्वज्ञान में यह विषय अत्यन्त महत्त्व का माना गया है। अब उसका कुछ वर्णन किया जायगा।

जब स्व-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब बोलते, चलते, उठते, बैठते, कोई काम करते हुए आत्मानुभव होने लगता है। आत्मा का यह लक्षण निम्न वचन में स्पष्ट कहा गया है:—

दृश्यदर्शनसम्बन्धादुद्भवेत्परमं सुखम् ।
तदेवैकांतसंवित्या मनोनाशः परं पदम् ॥

— योगवासिष्ठ ।

अर्थात् जब दृश्य और दर्शन का सम्बन्ध होता है तब यथार्थ में दो चैतन्यों की परस्पर भेंट होती है। इससे जो परम सुख प्राप्त होता है उसका निर्वाह यदि दृश्य और दर्शन का त्याग करके किया जाय तो मन का नाश हो जायगा और परम-पद की प्राप्ति होगी। इस बात का अनुभव सब लोगों को है कि जब प्रिय दृश्य का दर्शन होता है तब अंतःकरण में सुख उत्पन्न होता है। यह सुख क्यों उत्पन्न होता है, इसका विचार करने से यह बात मालूम होगी कि सब पदार्थों में रहनेवाला चैतन्य एक ही है। दृश्य पदार्थों में यह चैतन्य स्वयं-सिद्ध रहता है और चित्त-वृत्ति-रूप दर्शन में भी वही चैतन्य है। ऐसी अवस्था में दृश्य दर्शन का सम्बन्ध होते ही इन दोनों चैतन्यों की भेंट होती है और परमानन्द प्रगट होता है। यह अनुभव जैसे प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होता है वैसे ही एकांत संवित्* को भी होता है। दृश्य और दर्शन का सम्बन्ध होने पर जो परम आनन्द की अवस्था उत्पन्न होती है, उसमें मन और वासना का आप-ही आप नाश हो जाता है। यह अनुभव जैसे एकांत-संवित् में होता है वैसे ही अन्य समय में भी होता है। दोनों प्रकार के अनुभवों में भेद सिर्फ यही है कि एकांत-संवित् में वृत्ति-रूप ज्ञान होता है और अन्य समय में केवल स्थूल या लौकिक ज्ञान होता है। एकांत-संवित् का लक्षण यह है कि दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से जो ज्ञान और सुख उत्पन्न होता है उसका निर्वाह दृश्य और दर्शन के अभाव में किया जाता है। विषय-रूप उपाधि का त्याग करने से एकांत-ज्ञान उत्पन्न होता है, परम सुख की प्राप्ति होती है और मनोनाश आप-ही-आप हो जाता है। ज्यों ही मन का नाश हुआ त्यों ही यह समझना चाहिए कि परमानन्द-स्वरूप प्राप्त हुआ और आत्म-स्वरूप प्रकट हुआ।

---

*जब अन्तःकरण की वृत्ति ब्रह्माकार होती है तब उसको एकांत-संवित् कहते हैं और जब वृत्ति अनेकाकार होती है तब उसको लौकिक ज्ञान कहते हैं। घटपटादि के विषय में स्थूल ज्ञान होता है वह लौकिक ज्ञान है; स्थिर और सूक्ष्म ज्ञान को एकांत-ज्ञान कहते हैं।

सब प्रकार के दृश्य और दर्शन के योग-सम्बन्ध में यह अन्तर्दृष्टि स्थिर करने से स्व-स्वरूप का लाभ होता है।

विषयों के योग से जो सुख उत्पन्न होता है उसका निर्वाह यदि विषय-त्याग से किया जाय तो आत्म-सुख का कोई पारावार नहीं। इस संसार में जो कुछ सुख है वह वस्तुतः आत्म-सुख ही है। विषयों में जो सुख देख पड़ता है वह अत्यन्त पल्प है; परन्तु इसका परिणाम यह हुआ है कि सब लोग इस अल्प सुख ही के पीछे लगे हैं, वे समझते हैं कि सब सुखों का भाण्डार विषयों ही में भरा है और अन्त में सब लोगों को निराशा होती है। इसमें सन्देह नहीं कि विषयों के योग से कुछ सुख प्राप्त होता है; परन्तु विचार करने से यह मालूम हो जायगा कि वह सुख मर्यादित है, अस्थिर है और अपूर्ण है। विषय सुखों की मर्यादितता, अस्थिरता और अपूर्णता है। विषय-सुखों की मर्यादितता, अस्थिरता और अपूर्णता पर उचित ध्यान न देने के कारण ही इस संसार में सब लोग विषय-मग्न होकर आत्म सुख से वंचित रहते हैं। जो ज्ञानी हैं वे स्व-स्वरूप में स्थिर रहकर आत्म-सुखानुभवी होते हैं। तात्पर्य यह है कि दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध में योग से जो सुख उत्पन्न होता है उसका अनुभव दृश्य और दर्शन के अभाव में करना ही आत्म-सुख का लक्षण है।

आत्म-सुख का एक और लक्षण है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

शुद्धं सदसतोर्मध्ये पदं लब्ध्वाऽचलं च तत्।
सबाह्याभ्यन्तर विश्वं मा गृहाण विमुञ्च माम्॥
—योगवासिष्ठ।

अर्थात् इस सृष्टि में जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब सत् अर्थात् सत्ता-रूप हैं। इन पदार्थों में जो सत्ता जो अस्तित्व है, वही ब्रह्म रूप है। स्व-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने के लिए घट-पटादि पदार्थों का त्याग करके केवल सत्ता-मात्र का अनुभव प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। इसी तरह आकाश-पुष्प, वंध्या-सुत आदि जितने असत् अर्थात् अभाव-रूप पदार्थ हैं उनमें देख पड़नेवाला अभाव ब्रह्म-स्वरूप है। सब पदार्थों में

जो नास्तित्व है वही चैतन्य है। उपर्युक्त 'जितने सत् और असत् पदार्थ हैं उनमें भीतर बाहर व्याप्त एक-रूप शुद्ध ज्ञान है, जो अचल और अटल है। सत् पदार्थों का बोध कर लेना आत्म-स्वरूप का लक्षण है। इसका सम्यक् परिज्ञान होते ही पूर्ण ब्रह्मानन्द प्रकट होता है। सहज-स्थित का स्वरूप इस वचन में स्पष्ट रीति से बताया गया है :—

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनं प्रथमाभासमात्मानं केवलं भज॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है :—द्रष्टा, दृश्य और दर्शन तथा दृश्य पदार्थों के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाली वासनाओं का त्याग करने से आत्म-स्वरूप की पहचान होती है। पहले अहंकार चैतन्य से संलग्न होता है, इससे मनोवृत्ति क्षुब्ध होती है, इसके बाद नेत्रादि इन्द्रियाँ दृश्य पदार्थों की ओर आकृष्ट होती हैं—इसी को दर्शन कहते हैं। अहंकार और मन के संयोग को दृष्टापन कहते हैं; नेत्रादि इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों के साथ जो सम्मेलन होता है उसको दर्शन कहते हैं। जब सब वासनाओं का तथा द्रष्टा, दृश्य और दर्शन का त्याग किया जाता है तब ब्रह्म-स्वरूप का बोध होता है। द्रष्टा के दृश्याकार होने के पहले ही अन्तःकरण में जो स्वयं-सिद्ध प्रकाश होता है वही ब्रह्म का स्वरूप है। नेत्रादि इन्द्रिय-वृत्तियों के दृश्य पदार्थों की ओर आकृष्ट होने के पहले ही अन्तःकरण में जो प्रकाशस्थिति होती है वही चैतन्य है। इसी स्वयं-सिद्ध प्रकाश को आत्म-प्रकाश कहते हैं। नेत्रेन्द्रिय-रूप को प्रकाशित करने के पहले जो स्व-प्रकाश उत्पन्न होता है वही परब्रह्म की पहचान है। तात्पर्य यह है कि द्रष्टा, दृश्य और दर्शन तथा वासनाओं का त्याग करने से चैतन्य-स्वरूप प्रकट होता है।

उक्त वचन में आत्म-भजन का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का भास न हो—अन्तःकरण में आत्मा के सिवाय अणु-मात्र भी स्पर्श न हो इसके लिए कपूर और अग्नि का दृष्टान्त बहुत अच्छा है। जब कपूर और अग्नि का

(Sublimity) से अथवा सौंदर्य (Beauty) से मनुष्य को आनन्द देनेवाली जो शक्ति ईश्वर ने दी है, उसको अभिरुचि कहते हैं। ईश्वर-निर्मित पदार्थों, स्थानों और दृश्यों में तथा मनुष्यकृत वस्तुओं में जो सुन्दरता होती है, उसको जानने की शक्ति प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण में उपस्थित है। बुद्धि Reason नामक जो शक्ति ईश्वर ने मनुष्य को दी है, वह अभिरुचि नामक शक्ति से बिलकुल भिन्न है। उपपत्ति के विषय में तत्त्वान्वेषण करना और व्यावहारिक विषयों में कार्य कारण-भाव का निर्णय करना केवल बुद्धि का काम है। इस पर से यह बात सिद्ध होती है कि बुद्धि अभिरुचि नहीं है। जो आनन्द मनोहर संगीत के श्रवण करने से या मोहक दृश्य के देखने से या मधुर काव्य के पढ़ने से उत्पन्न होता है, वह तर्कवाद से नहीं हो सकता। वह आनन्द केवल स्वाभाविक है, वह बुद्धि-प्रभाव का फल नहीं है और वह बड़े-बड़े विद्वानों या तत्त्ववेत्ताओं तथा अत्यंत अज्ञानी और ग्रामीण-जनों के हृदय में एक ही समान प्रतीत होता है। कभी-कभी तो उसके विषय में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि 'हाँ, मुझे आनन्द हो रहा है;' परन्तु इस बात का उत्तर दिया नहीं जा सकता कि क्यों आनन्द हो रहा है। उक्त विवेचन का तात्पर्य यही है कि अभिरुचि नामक शक्ति सब मनुष्यों के अन्तःकरण में स्वयं-सिद्ध है। स्वाभाविक रीति से सब मनुष्यों को ऐसे ही पदार्थों की चाह होती है, जो सुव्यवस्थित, सप्रमाण, नियम-बद्ध, भव्य, सुस्वर, और तेजस्वी होते हैं। इस अभिरुचि के मूलतत्त्व छुटपन ही से मनुष्य के स्वभाव में उपस्थित रहते हैं और वे अनुकूल विषयों के संयोग से प्रकट होते हैं। अस्तु।

जैसे अभिरुचि नामक शक्ति ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को दी है, वैसे ही उसने प्रतिभा नामक एक और शक्ति उसको दी है। इस शक्ति की सहायता से अनेक प्रकार की कल्पनाओं का ऐसा संयोग किया जाता है, जो ध्वनि-रूप, चित्र-रूप, मूर्ति-रूप, गृह-रूप या काव्य-नाटकादि रूप से व्यक्त होने पर आनन्द, विस्मय, चमत्कृति आदि भिन्न-भिन्न मनोविकारों को सहज ही प्रकट कर सकता है। जिन कलाओं में प्रतिभा-

शक्ति का पूर्ण प्रकार, दृष्टिगोचर होता है उन्हें 'अभियुक्त कला' (Fine Arts) कहते हैं। चित्र, गायन, वादन, शिल्प और काव्य अभियुक्त कलाएँ हैं। ये सब कलाएँ अनुकरणात्मक (Imitative) हैं; क्योंकि उनमें भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा सृष्टि के पदार्थों, ध्वनियों, दृश्यों और चमत्कारों का अनुकरण करने का प्रयत्न किया जाता है। गवैया लोग अपने कंठस्थित भिन्न-भिन्न सुरों और आलापों से तथा बजानेवाले अनेक प्रकार के वादन-यन्त्रों से सृष्टि की भिन्न-भिन्न ध्वनियों का अनुकरण करते हैं। चित्रकार भिन्न-भिन्न रंगों और आकारों से तथा शिल्पकार काठ, मिट्टी, पत्थर आदि अनेक पदार्थों से सृष्टि (प्रकृति) के भाँति-भाँति के दृश्यों का अनुकरण करते हैं। इसी तरह कवि मनुष्य के अन्तःकरण के विविध तरंगों और भिन्न-भिन्न वृत्तियों को शब्द-द्वारा चित्रित करता है। जो कार्य कलम और रंग की सहायता से चित्रकार करता है, वही कार्य कवि शब्द-रूप साधनों से करता है। यह कवित्व-शक्ति, जिसको अलंकार-शास्त्र में प्रतिभा कहते हैं, सचमुच ईश्वर का अमूल्य दान है। सहृदय पाठकों के अतःकरण में आनंद और चमत्कृति उत्पन्न करनेवाले वाक्य-समूह को काव्य कहना चाहिए—चाहे वह गद्य-रूप हो या पद्य-रूप हो। किसी प्रसिद्ध कवि का कथन है कि अत्युत्कट मनोविकारों के प्रादुर्भाव को काव्य कहते हैं। अर्थात् ऐसे प्रादुर्भाव में चमत्कृति-जनकत्व होता ही है। अतएव कवि के लिए जिन असाधारण गुणों की आवश्यकता होती है, वे ये हैं—मनुष्यों के मनोविकारों का अप्रतिम ज्ञान, प्राकृतिक पदार्थों की सादृश्य-प्रतीति और हृदयद्रावक वर्णन करने की शक्ति। सारांश यह है कि अभिरुचि और प्रतिभा नामक शक्तियों के स्वरूप का जो वर्णन यहाँ तक किया गया, उससे पाठकों के ध्यान में यह बात अवश्य आ गई होगी कि महाकाव्य के साथ उन शक्तियों का क्या संबन्ध है।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के अंतःकरण को अभिरुचि और प्रतिभा-शक्तियों से सुसंस्कृत करने में ईश्वर ने अपनी असीम चतुरता और दयालुता प्रकट की है। लोग कहते हैं कि जो मनुष्य गायन-कला

में निपुण होता है, उसको मानो ईश्वर एक नया अवयव ही दे देता है। इसी तरह ईश्वर ने मनुष्य को अभिरुचि और प्रतिभा का दान देकर उसको अगणित सुखों की प्राप्ति के लिए सामर्थ्यवान् बना दिया है। यदि ईश्वर नेत्रेन्द्रिय में केवल देखने ही की और कर्णेन्द्रिय में केवल सुनने ही की शक्ति रखता तो भी उक्त इन्द्रियों पर अवलंबित रहनेवाले सब व्यावहारिक कार्य अच्छी तरह सिद्ध हो जाते। उक्त इन्द्रियों द्वारा होनेवाले साधारण कार्यों की सिद्धि के लिए अन्य किसी प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु प्राकृतिक पदार्थों और व्यापारों में तथा कृत्रिम पदार्थों और व्यापारों में नेत्रेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय को गोचर होनेवाले सौंदर्य तथा उदात्त-स्वरूप से अन्तःकरण में एक प्रकार की सूक्ष्म संवेदना होने के कारण जो विशुद्ध विस्मयानंद प्रतीत होता है, उसकी सिद्धि कर देने में ईश्वर ने मनुष्य मात्र पर अपनी अगाध दया और अवर्णनीय प्रेम व्यक्त किया है। मनुष्य के जीवन के लिए जो जो पदार्थ आवश्यक हैं, उन सब को निर्माण करके भी ईश्वर का दयालु हृदय संतृप्त नहीं हुआ, इसलिए उसने सृष्टि के सब पदार्थों और व्यापारों में अनन्त वैभव, अद्वितीय शोभा और भाँति-भाँति के चमत्कृति-जनक धर्म स्थापित किये हैं। इसी के साथ उसने मनुष्य में यह शालीनता भी उत्पन्न की है, जिससे उक्त पदार्थों और व्यापारों के चमत्कृति-जनक धर्म की संवेदना उसको हो सके। सचमुच ईश्वर ने सब पदार्थों और व्यापारों में ऐसी कुछ मोहक माया भर दी है कि जिसको देखते ही मनुष्य का हृदय मोहित होकर आनन्द और आश्चर्य में निमग्न हो जाता है। सुन्दर वस्तु नेत्रों को रमणीय मालूम होती है और मनोहर शब्द कानों को आनन्द देते हैं; तब इसमें आश्चर्य ही क्या है कि ध्वन्यात्मक काव्य से मनुष्यमात्र को सुख प्राप्त होता है!

यहाँ तक सृष्ट पदार्थों और कृत्रिम पदार्थों में प्रतीत होनेवाले उदात्तस्वरूप और सौंदर्य का विवेचन किया गया। अब महाकाव्य में दृष्टिगोचर होनेवाले सौंदर्य और उदात्तत्व का वर्णन किया जायगा। बुद्धि और प्रतिभा से जो विचार और कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनके

भण्डार को ग्रन्थ कहते हैं। यदि किसी को प्रगल्भ विचार और सुन्दर कल्पनाओं के जानने की इच्छा हो तो उसको महाकाव्य का आश्रय करना चाहिए। मनुष्य को किस बात की चाह अधिक है, कौन पदार्थ सुन्दर प्रतीत होते हैं, कौन आचरण या व्यवहार आल्हादकारक होता है, किस बात से मनुष्य का कल्याण होता है इत्यादि अनेक उपयोगी प्रश्नों के संतोषदायक उत्तर जैसे महाकाव्यों में सहज पाये जाते हैं, वैसे अन्य कहीं मिलना कठिन बात है। कालिदासादि कवियों के काव्य-ग्रन्थ प्रौढ़ पद्धति से लिखे और विविध अलंकारों से विभूषित होने के कारण केवल विद्वज्जनों ही को प्रिय हो सकते हैं; परन्तु रामायण और महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्य सब अवस्था के, सब प्रकार के और सब दर्जे के लोगों को समानता से आनन्ददायक प्रतीत होते हैं। ये महाकाव्य जितेन्द्रियता, तितिक्षा, साहस, निश्चय, धैर्य, प्रेम, सहानुभूति, परोपकार, अद्भुत सामर्थ्य आदि अनेक बहुमोल गुणों के केवल भांडार ही हैं। देश, काल, स्थिति आदि साधारण परिच्छेदों से महाकाव्य किसी प्रकार मर्यादित नहीं हो सकते। ये सब देशों में, सब समय और सब जाति के मनुष्यों में आदर-भाव से देखे जाते हैं। इसका कारण यही है कि सब मनुष्यों के हृदयों में तार के समान सूक्ष्म और अदृश्य सम्बन्ध लगा हुआ है; जब उस तार को किसी एक स्थान में गति दी जाती है, तब उससे सब मनुष्य-मात्र के हृदयों में अनुकूल संवेदना-रूप एक प्रकार का कंप उत्पन्न हो जाता है और सब लोग अपने अपने अन्तःकरण द्वारा समान आनन्द में निमग्न हो जाते हैं। इसी तरह इस सम्पूर्ण विश्व में ऐसी एक-जातीय सुन्दरता भरी है कि उसकी सूक्ष्म संवेदना तत्काल ही मनुष्य-मात्र को हो जाती है।

भरतखण्ड के महाकाव्य-संग्रह को समुद्र की उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार समुद्र में मोती वगैरह अनेक मूल्यवान् पदार्थ पाये जाते हैं और उसका विस्तार भी बहुत बड़ा होता है, उसी तरह इस देश का महाकाव्य-संग्रह अत्यन्त विस्तीर्ण और हितदायक अर्थ-रूप रत्नों से भरा है। इस महाकाव्य रूप समुद्र के विस्तार के विषय में सिर्फ यह कहना

सच है कि इसकी तुलना करने के लिए दुनिया की किसी भाषा में इतना विस्तृत महाकाव्य संग्रह है ही नहीं। देखिए, केवल रामायण नामक एक आर्ष महाकाव्य में ४८००० पंक्तियाँ और महाभारत नामक दूसरे आर्ष महाकाव्य में २२०००० पंक्तियाँ हैं। यूरपखण्ड के प्राचीन महाकाव्य यदि हमारे प्राचीन महाकाव्यों में अर्वाचीन समय के रघुवंश, कुमारसंभव, नैषध आदि सब महाकाव्य मिला दिये जाँय तो इनका एकत्रित विस्तार सचमुच समुद्र ही के समान बहुत बड़ा हो जाता है। भारतीय आर्ष महाकाव्यों के अन्तःस्वरूप की ओर देखने से यह मालूम होता है कि उनमें मनुष्य को अगाध और अनन्त ईश-शक्ति के महाद्वार में प्रवेश करा देने का अलौकिक सामर्थ्य भरा है। उनमें जो आध्यात्मिक काव्य-प्रकर्ष देख पड़ता है वह अन्य किसी भाषा के महाकाव्यों में पाया नहीं जाता। उदार चरित्र और स्वभाव सुन्दर काव्य-रस के जो नमूने उनमें देख पड़ते हैं वे अन्यत्र कहीं देख नहीं पड़ते। अस्तु।

जिस काव्य में एक ही कथा प्रधान होती है और उसका पोषण तथा वृद्धि करने के लिए अनेक प्रकार के परस्पर मिश्रित तथा आनुषंगिक आख्यानों और उपाख्यानों का उपयोग किया जाता है; जिस काव्य के प्रधान पात्र उन्नत और ऊँचे दर्जे के होते हैं तथा उनका सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन किया जाता है; जिस काव्य में धार्मिक और नैतिक तत्त्व व्याप्त होते हैं, जिनका विकास भिन्न भिन्न पात्रों के संवाद, आत्मगत विचार और वृत्तान्त-वर्णन के द्वारा किया जाता है और जिस काव्य में सृष्ट पदार्थों और मनुष्य-मात्र पर उत्पन्न होनेवाले धर्म तत्त्वों के शुभदायक परिणामों का चित्ताकर्षक वर्णन होता है, उसको महाकाव्य कहते हैं। उक्त व्याख्या के अनुसार दुनिया के सब महाकाव्यों में रामायण और महाभारत ही को अग्रस्थान दिया जाता है। उक्त व्याख्या में जिन जिन बातों का उल्लेख किया गया है वे सब महाकाव्य के सारभूत अंश हैं जो रामायण और महाभारत में पूर्णतया पाये जाते हैं। इन महाकाव्यों से तत्व-संशोधकों को सहायता मिली है; इतिहास संशोधकों

ने उनसे बहुत लाभ उठाया है; इनमें अद्भुत शारीरिक सामर्थ्य, धैर्य, तेज, नीति, शील परोपकार आदि अनेक उत्तमोत्तम गुणों के आदर्श होने के कारण भरत भूमि का बहुत कल्याण हुआ है—यदि इन सब बातों को क्षणभर अलग छोड़ दें तो भी केवल काव्य-कला ही की दृष्टि से ये दुनिया महाकाव्य के सब महाकाव्यों में आदर्श-रूप माने जा सकते हैं। भारतीय महाकाव्य-रूप सरोवर से सैकड़ों नाटकों और संगीत काव्यों में स्फूर्ति रूप झरने उत्पन्न हुए हैं। महाकाव्यों में जो अनेक प्रासांगिक आख्यान और उपख्यान हैं वे हजारों गद्य और पद्य ग्रन्थों के संविधानक हो गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि महाकाव्य आर्यभूमि की पुराण-कथाओं का मानो एक महासागर ही हो गये। इनके विविध प्रसंगों पर से अनेक चित्रकारों और कारीगरों ने असंख्य चित्र, मूर्तियाँ और दृश्य तैयार किये हैं तथा अनेक कलाभिज्ञों ने सौन्दर्य, अंग-सौष्ठव और परिपूर्णता के मूर्तिमंत आदर्श निर्माण किये हैं। इस बात की गिनती लगानी तो बहुत कठिन काम है कि उन प्रसंगों पर शब्द-सृष्टि में आज तक कितने नूतन चित्र-पट बने हैं और भविष्य में कितने बनेंगे। सारांश यह है कि इन महाकाव्यों का प्रभाव पूर्ववत् इस समय भी अभंग रूप से बना हुआ है और वह भविष्य में भी ज्यों का त्यों बना रहेगा। ईश्वर-निष्ठा और सदाचार ही में सदा निमग्न रहनेवालों को ध्यान करने और तदनुरूप बर्ताव करने के लिए न जाने कितने मनोवेधक, चित्ताकर्षक, केवल ईश्वर-तुल्य, परम पवित्र और उदार चरित्र इन काव्यों मिले होंगे। इकलौते पुत्र के वियोग से जिन माताओं का हृदय विदीर्ण हो गया है, उनकी शांति किसने की है? असामर्थ्य और पापाचरण से थर-थर काँपते हुए पैरों को किसने स्थिर किया है? दरिद्रता से पीड़ित और हतभागी जीवों के अन्तःकरण में अपने जीवन की आशा किसने उत्पन्न की है? इस संसार की विषमता और सब आशाओं का नाश मनुष्यों ने क्यों कर सहन किया? उक्त प्रकार के अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि यह रामायण और महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्यों का अलौकिक सामर्थ्य है।

अब उक्त महाकाव्यों की कथाओं का संक्षेप में उल्लेख करके यह देखना चाहिए कि उनमें किन तत्त्वों की शिक्षा दी गई है। पहले रामायण की कथा की ओर देखिए। अत्यन्त रमणीय और प्रशान्त अयोध्यापुरी में राजा दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्रजी का जन्म होकर आज हजारों वर्ष व्यतीत हो गये हैं। सरयू नदी के किनारे श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भ्राताओं के साथ जो बाल-लीला की, उसका वाल्मीकि-मुनि-कृत वर्णन अजरामर होने को हजारों वर्ष हो गये हैं। इस जगत् में एक ऐसा गूढ़ तत्त्व व्याप्त है जो मानवी-कल्पना से आकलन किया नहीं जा सकता—यदि मनुष्य उसको अपनी मर्यादित कल्पना के अधीन करना चाहे तो वह तुरन्त गुप्त हो जाता है और जिस गूढ़ तत्त्व को कोई अपरिहार्य प्रारब्ध कर्म कहते हैं, कोई आनुवंशिक परिणाम कहते हैं, कोई यदृच्छा कहते हैं और कोई माया कहते हैं, उसकी कृपा या अकृपा के सुख और दुःख-रूप फल श्रीरामचन्द्रजी को भोगने को हजारों वर्ष बीत गये हैं। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी के मनुष्य-चरित्र की सब बातें हजारों वर्ष की पुरानी हो गई हैं, तथापि उनके दैवी प्रकाश की मोहकता इतनी तीव्र है कि आज इस समय भी हमें यही प्रतीत होता है कि वे सब बातें हमारी दृष्टि के सामने उपस्थित हैं। देखिए, इस समय भी हमें यह भास होता है कि अरण्य में जगत्पावक श्रीरामचन्द्रजी आगे-आगे जा रहे हैं, उनके पीछे पीछे महासाध्वी पतिव्रता सीताजी जा रही हैं और उन दोनों के पीछे परमभक्त लक्ष्मणजी चले जा रहे हैं। यद्यपि क्षण भर के लिए हमें यह मालूम होता है कि श्रीरामचन्द्रजी का हृदय उद्विग्न हो गया है, आशा-भंग के कारण उनके अन्तःकरण में उदासीनता छा गई है और उनको अपना जीवन कष्टमय प्रतीत होता है, तथापि वे इस विचार से सदा आनन्द और शान्ति में निमग्न देख पड़ते हैं कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया, पिता के वचनों को सत्य किया और मेरे साथ मेरे भाई और मेरी स्त्री ने भी अपने धर्मों के अनुसार ही आचरण किया। तीनों ने निश्चय कर लिया था कि चौदह वर्ष घोर वनवास भोगे बिना घर न लौटेंगे। गंगा पार करके

तीनों ने मध्य हिन्दुस्थान के अरण्यों में भ्रमण किया। केवल कन्द, मूल और फलों पर वे अपना उदर पोषण करते थे। वृक्षों के नीचे बैठकर शीतल और सुगन्ध वायु के स्पर्श से वे अपने श्रम का परिहार करते, निर्मल निर्झरों के जल से अपनी तृषा को शान्त करते और खुले मैदान में तृण की शैया पर नींद लेते थे। उन तीनों में परस्पर प्रेम-भाव होने के कारण उनको ऐसी कठिन अवस्था में भी किसी बात की न्यूनता प्रतीत होती न थी। वे जिन-जिन ऋषियों के आश्रम में जाते वहीं उनका आदर और स्वागत होता था। आश्रम में रहनेवाली ऋषि पत्नियाँ अत्यन्त पूज्य-भाव से उनका सम्मान करती थीं। प्राचीन समय में ऋषि और मुनिजन अरण्य में कुटी बनाकर स्त्री सहित एकान्त स्थान में रहा करते थे। उस समय विवाह-सम्बन्ध का उद्देश केवल विषयोपभोग या लौकिक व्यवहार न था; किन्तु धर्माचरण के लिए विवाह-द्वारा दो हृदयों का परस्पर सम्मेलन होता था। यही कारण है कि स्त्री को धर्म पत्नी, अर्धांगी, सहचारिणी आदि कहते हैं। अस्तु। अनेक तपस्वी जनों का आदरातिथ्य स्वीकार करके श्रीरामचन्द्रजी ने दण्डकारण्य में प्रवेश किया और अगस्त्य मुनि की सम्मति से पंचवटी नामक एक स्थान में पर्णकुटी बनाकर वे रहने लगे।

पंचवटी में रहते रहते और हरिण, पक्षी, वृक्ष, पाषाण, सरोवर आदि की प्राकृतिक शोभा देखते देखते जगन्माता सीताजी को वनवास के दुःख का विस्मरण हो गया। परन्तु यह दशा बहुत समय तक टिकने न पाई। लंकाधिपति रावण सीताजी को हरण करके ले गया। इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी को सीता-वियोग से बहुत दुख और शोक हुआ। स्मरण रहे कि दुःख, शोक, क्लेश, यातना आदि के बिना उदात्त आर्य-धर्माचरण की परीक्षा नहीं की जा सकती। अतएव जब चौदह वर्षों के वनवास की दारुण आपत्तियों से श्रीरामचन्द्रजी के धीरोदात्त स्वभाव की जाँच हो गई, तब कहीं उनको राजपद का लाभ हुआ। प्राचीन समय में स्वधर्म संरक्षक आर्य-पुत्रों के लिए अनुशासन की यही पद्धति थी। प्रत्येक द्विज को आठ वर्ष की अवस्था में अपने माता-पिता के घर से

अलग होकर बारह, चौबीस या छत्तीस वर्ष तक गुरु-गृह में निवास करना पड़ता था। वहाँ ब्रह्मचर्य का अवलम्ब करके, मृगचर्म और बल्कल पहन कर, भिक्षा माँग कर और शिष्यवृत्ति का स्वीकार करके उसको अपने गुरु की सेवा करनी पड़ती थी। इस प्रकार कष्ट सहकर वेदाध्ययन करना प्राचीन समय के आर्य-पुत्रों का धर्मव्रत समझा जाता था। अस्तु। पिताज्ञा पालन, सत्यवादित्व, एक-पत्नीत्व आदि गुणों के कारण और बहुत दिनों तक कायिक तथा मानसिक क्लेश भोगने के कारण श्रीरामचन्द्रजी इस देश के सब आर्यजनों के हृदय में प्रत्यक्ष मूर्ति के समान प्रतिबिम्बित हो गये हैं। अनेक विपत्तियों से सामना करने के बाद श्रीरामचन्द्रजी को अपनी स्त्री और राज्य की प्राप्ति हुई। इस चरित्र से यह अन्तःकरण में प्रकाशित होता है कि यदि कर्तव्य-तत्परता और स्वधर्मनिष्ठा जागृत हो तो परमेश्वर इच्छित फल की सिद्धि अवश्य करा देता है। सीताजी को रावण की कैद से छुड़ा लाने में सुग्रीव, हनुमान विभीषण आदि ने बहुत सहायता की। श्रीरामचन्द्रजी रावण का वध करके सीताजी को साथ लेकर अयोध्या को लौट आये। परम भक्त भरत ने राज्य का प्रबन्ध श्रीरामचन्द्रजी के अधीन कर दिया। श्रीसीता-सहित रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक किया। श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पराक्रमी वीरों और स्वामिनिष्ठ सेवकों को अनेक प्रकार के पारितोषिक समर्पण किये।

यहाँ श्रीरामचरित्र का प्रथम भाग समाप्त हुआ। तदन्तर श्रीराम ने दस हजार वर्ष तक पृथ्वी का राज किया। उनके राज्य में किसी स्त्री को पति की मृत्यु से विधवावस्था का दुःख भोगना नहीं पड़ा, लोगों को साँप और रोग का कोई भय न था, चोरों का नाम तक किसी को मालूम न था, किसी पर संकट या आपत्ति का हमला नहीं हुआ, बुड्ढों को अपनी संतानों की मृत्यु देखने का मौका नहीं मिला; जिधर देखो उधर शान्ति, आनन्द, सुख और संतोष ही देख पड़ता था। इसका मुख्य कारण यही है कि सब लोग अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के सात्विक आचरण की ओर देखकर स्वधर्म-पालन में निमग्न रहते और कोई किसी को पीड़ा देते न थे। उस समय जल-वृष्टि समयोचित और संतोषदायक

होती थी, वृक्षों में फल फूल लदे रहते थे और वायु सब जीव-मात्रों के स्वास्थ्य की रक्षा के अनुकूल चलती थी इसी को द्वापर-युग का राम-राज्य कहते हैं।

इस प्रकार धर्म, राज्य, कीर्ति आदि सब ऐहिक अर्थों की प्राप्ति कर लेने पर भी श्रीरामचन्द्रजी के प्रारब्ध-कर्मों का भोग समाप्त हुआ न था। उन पर भी एक संकट आनेवाला था। राज्याभिषेक के बाद वे अपने राज्य के प्रबन्ध और प्रजा का पुत्रवत् पालन करने में निमग्न थे। इतने में प्रजा-जनों के मन में सीताजी के पवित्र आचरण के विषय में सन्देह होने लगा; क्योंकि सीताजी को छः मास रावण के यहाँ रहना पड़ा था। ऐसी अवस्था में श्रीरामचन्द्रजी को सीताजी का त्याग करना पड़ा। प्रजा-जनों को संतुष्ट करने के लिए उन्हें अपने सुख की आशा छोड़ कर पत्नि-वियोग का असह्य दुःख भोगना पड़ा; स्वकर्तव्य-पालन-रूप महायज्ञ में अपने ऐहिक सुख का हवन करना पड़ा! इसी स्वार्थ-त्याग में श्रीरामचन्द्रजी के उदार चरित्र का सारा रहस्य भरा है। यही कारण है कि अब तक सब लोग रामनाम का जय-घोष कर रहे हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि चौदह वर्ष तक बनवास के कष्ट भोगने, रावण का वध करने और स्वपराक्रम से हजारों वर्ष तक अपने राज्य की पूर्ण उन्नति करने पर भी श्रीराम के प्रारब्ध-कर्म की तृप्ति नहीं हुई? देखिए, कैसी आश्चर्य की बात है कि जिसने पतिव्रता धर्म पालन करने के हेतु अयोध्यापुरी के राजमहलों के वैभव और विलास का त्याग कर दिया, अपने पति की सेवा में सदा तत्पर रहने के लिए बनवासिनी हो गई, जिसने अग्नि में प्रवेश करके देवों और गंधर्वों के सम्मुख अपना शुद्ध-भाव और पवित्र आचरण प्रकटरूप से प्रस्थापित किया, उस साध्वी के सम्बन्ध में संदेह-चित्त होकर लोगों ने उसको घर से बाहर निकलवा दिया! अस्तु। गर्भवती सीता को लक्ष्मण ने अरण्य में वाल्मीकि ऋषि के आश्रम के समीप छोड़ दिया। ऋषि ने उनको अपने आश्रम में रख लिया। वहीं उनके कुश और लव नामक दो पुत्र हुए। वाल्मीकि ने उन बालकों को स्व-रचित रामायण का अध्ययन कराया।

इधर अयोध्या में श्रीरामचन्द्रजी ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया। वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप आदि ऋषिगण, बड़े बड़े तपस्वी ब्राह्मण, भिन्न भिन्न देशों के राजा और महाराजा लोग, हनुमान, सुग्रीव आदि वानर-गण यज्ञमंडप में उपस्थित थे। उस समय वाल्मीकि मुनि भी अपने शिष्यों को साथ लेकर वहाँ आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्व-रचित रामायण का कुश और लव से गान कराया। गाने के समय द्रुत, मध्य-विलंबितादि प्रकार, बालकों का कंठमाधुर्य, सुर, आलाप और तानें तथा काव्य के अर्थ की सरसता की ओर श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान सहज ही आकर्षित हो गया। बड़े बड़े राजा, ऋषि, मुनि, व्यापारी, पुराणिक, शब्द ज्ञानी, वयोवृद्ध ब्राह्मण, स्वर-शास्त्रज्ञ, सामुद्रिक जाननेवाले, पद्य के चरण में ह्रस्वदीर्घादि स्वर जाननेवाले, छन्दःशास्त्र के ज्ञाता, स्वर की मात्राओं का भेद जाननेवाले, ज्योतिःशास्त्र में पारंगत, क्रिया और कल्पसूत्रों के ज्ञाता, व्यवहार में निपुण, तर्कशास्त्रज्ञ, बहुश्रुत, वेदवेत्ता, चित्रकार, धर्मशास्त्रज्ञ, गायन और नृत्य-कलाओं में निपुण अनेक प्रकार के जो लोग उस यज्ञमंडप में उपस्थित थे, वे सब उन बालकों का काव्य-गान श्रवण करके एक स्वर से 'वाह ! वाह !' कहने लगे। पहले दिन बीस सर्गों तक गायन हुआ। तब श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से भरत उन बालकों को अठारह हजार सुवर्ण-मुद्रा देने लगे; परन्तु बालकों ने यही उत्तर दिया कि हम अरण्य में रहकर कंद, मूल, फल आदि खाते हैं, वहाँ जंगल में हम इन सुवर्ण-मुद्राओं का क्या करेंगे ! यह उत्तर सुनते ही श्रीराम तथा सब सभ्यजन अत्यन्त विस्मित हो गये।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी सब सभ्यजनों के साथ बहुत दिनों तक उन बालकों का मनोहर गीत सुनते रहे। तब एक दिन उन्हें यह मालूम हुआ कि मुनिवेषधारी कुश और लव सीताजी के पुत्र हैं। जिस जनाप-वाद के भय से सीताजी का त्याग किया गया था, उसको दूर करने के लिए यह निश्चय हुआ कि सीताजी इस यज्ञ सभा में आकर अपने आचरण की शुद्धता शपथ-द्वारा सिद्ध करें। दूसरे दिन सीताजी वाल्मीकि मुनि के साथ यज्ञ-सभा में आईं। उस समय उनके दोनों हाथ जुड़े हुए,

नेत्रों से अश्रु की धारा बहती हुई, दृष्टि केवल श्रीरामचरणों की ओर लगी हुई, अतएव उनका मुख-कमल भूमि की ओर झुका हुआ देख कर सब लोगों ने ऊँचे स्वर से 'धन्य धन्य' कह कर उनका स्वागत किया।

सीताजी की शपथ सुनने के लिए उत्कंठित होकर और भी अनेक जन वहाँ एकत्र हो गये। उस समय शुद्ध मनोहर वायु अलौकिक सुगंध से युक्त होकर चलने लगी। सब दिशाएं शांत हो गईं। चारों ओर गम्भारता की छाया प्रकट होने लगी। सीताजी ने हाथ जोड़ कर कहा— 'हे भूमाता, यदि मैं श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ और किसी का चिंतन न करके काया, वाचा और मन से उन्हीं की सेवा की हो और यदि मैंने श्रीरामचन्द्रजी के सिवाय अन्य किसी को अपनी कल्पना में भी प्रियकर माना न होगा, तो तू मुझे अपने उदर में छिपा ले।' बस उसी समय भूमि में से एक तेजस्वी सिंहासन बाहर प्रकट हुआ जो अनेक आभूषणों से मंडित नागसर्पों के मस्तक पर रखा हुआ था। भूमाता ने सीताजी का आदर-पूर्वक स्वागत किया, उनका हाथ पकड़ कर सिंहासन पर बैठाया और उनको रसातल की ओर ले चली। यह देख कर आकाशस्थ देवों ने उन पर पुष्पों की वृष्टि की और गंधर्वजनों ने धन्यवादपूर्वक गान किया। यज्ञ-मंडप में जो लोग उपस्थित थे वे सब अत्यन्त विस्मित हो गये। सीताजी को पृथ्वी के भीतर जाती हुई देख कर सब लोग कुछ समय तक मुग्ध से हो गये।

यहाँ रामायण की कथा का दूसरा भाग समाप्त हो गया। देखना चाहिए कि उक्त दोनों भागों की कथाओं के किन-किन प्रसंगों से पढ़ने-वालों का चित्त मोहित होता है। इस महाकाव्य में यथातथ्य स्वागत-वर्णन और प्राकृतिक शोभा का अप्रतिम वर्णन कूट-कूट कर भरा है। देखिये, पंपा-सरोवर और उसके आसपास के दृश्यों का वर्णन, किष्किंधा और अशोक-वाटिका का वर्णन समुद्र का वर्णन, इत्यादि कैसे मनोहर हैं। भिन्न-भिन्न कांडों में ऋतुओं का जो वर्णन किया है वह इतना आल्हाद-जनक है। पढ़नेवालों को क्षणभर भास हो जाता है कि मानो हम प्रत्यक्ष उन ऋतुओं का अनुभव कर रहे हैं। काव्य-देवी को स्वभावोक्ति

अलंकार द्वारा विभूषित करने में हमारे आदि-कवि सिद्धहस्त जान पड़ते हैं। इसके सिवाय उनके काव्य में प्रतिभा-शक्ति, विचार-गौरव, प्राकृतिक प्रौढ़ता, वर्णन-शैली आदि अनेक गुण भी सर्वत्र देख पड़ते हैं।

मनुष्य के अन्तःकरण में संचार करनेवाली अनेक वृत्तियाँ, मानवी जीवन की अनेक अद्भुत बातें, सब प्रसंगों का उदात्त भाव से निरीक्षण इत्यादि अनेक प्रकार की चमत्कृति-जनक बातों का समावेश होने के कारण इस रामायण को महाकाव्यों में बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी का अद्भुत मानवी चरित्रों से हम लोगों को अपने जीवन के कर्तव्य के विषय में यह शिक्षा मिलती है कि हमारा जन्म केवल इस संसार के सुखों का उपभोग करने ही के लिए नहीं; किन्तु अनेक प्रकार के दुःखों, संकटों और विपत्तियों में पड़े रहने पर भी हमको अपने कर्तव्य-पालन में दत्तचित्त रहकर उदात्त और मनोहर आदर्श-रूप आचरण करना चाहिए। लक्ष्मण का बंधु-प्रेम और भरत की रामभक्ति अवर्णनीय है। पित्राज्ञा-पालन, सत्यवादित्व, एकपत्नी-व्रत, प्रजा-वात्सल्य, स्वार्थत्याग, निरपेक्षता, धैर्य आदि अनेक सद्गुणों के कारण श्रीराम की मनोहर मूर्ति हजारों वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय आर्यों के हृदय में चिरकाल के लिए चित्रित हो गई है। क्या इस देश में ऐसा एक भी आर्यबंधु होगा कि जिसका अन्तःकरण श्रीरामनाम के पवित्र उच्चारण और श्रवण से आनन्दपूर्ण होता न होगा? कदापि नहीं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि जिसने अपने स्त्रीधर्म के पालन करने में अनेक संकट भोग कर प्राण तक अर्पण कर दिये और जो निष्कलंक और निरपराधी होने पर भी जब वन में अकेली छोड़ दी गई, तब अपने पति के विषय में किसी प्रकार का विकल्पभाव मन में न लाकर यही प्रार्थना करती रही कि 'प्रत्येक जन्म में श्रीरामचन्द्र ही मेरे पति हों' वह महासाध्वी सीता श्रीभरतखंड निवासियों के हृदय में निवास कर रही है। स्त्री-जाति के विषय में जगन्माता सीता से अधिक उदार, मनोहर और पवित्र कल्पना कहीं नहीं है। इसीलिए प्रत्येक आर्यमाता अपनी कन्या

को सीतादेवी का अनुकरण करने को कहती है।

इस देश में बहुतेरे लोग रामायण का प्रतिदिन पठन नियमपूर्वक किया करते हैं। वे लोग रामायण को वेद के समान धर्मग्रन्थ मानते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसके जीवनचरित में पित्राज्ञा-पालन, वनवास, सेतु-बन्ध, रावण-वध, लंका से सीता को लौटा लाना, प्रजा के कल्याणार्थ स्वार्थ-त्याग इत्यादि अवतार-कृत्य देख पड़ते हैं वह साक्षात् विष्णु का अवतार है और जिस ग्रन्थ में उसके चरित का वर्णन है वह वेद के समान आदरणीय है। ऐसे ही महात्माओं के चरित्र देश, काल, स्थिति आदि की मर्यादा से परिच्छिन्न हो नहीं सकते।

एक समय की बात है कि वाल्मीकि मुनि ने नारदजी से यह पूछा—

कोन्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान् ॥

अर्थात् वर्तमान समय में इस पृथ्वी पर अत्यन्त गुणवान् और शक्तिमान् कौन है? यह सुन कर नारद जी बोले—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥

अर्थात् इक्ष्वाकु-वंश में जन्म धारण करनेवाले श्रीरामचन्द्र नामक कोई पुरुष सब लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध, गुणवान् और शक्तिवान् हैं। अस्तु। जब कि ऐसे सुप्रसिद्ध अवतारी पुरुष के सम्बन्ध में और उस सीतादेवी के भी सम्बन्ध में जो पतिव्रता स्त्रियों में अग्रगण्य मानी जाती है, ऐसा जनापवाद सुन पड़ता है श्रवण करने योग्य नहीं है (अर्थात् जो अत्यन्त अनुचित है), तब अन्य साधारण और प्राकृत-जनों के विषय में क्या कहा जाय? विद्यारण्य-कृत जीवन्मुक्तिविवेक नामक ग्रन्थ में इस विषय की उपपत्ति इस प्रकार की गई है:—मलिन वासना के द्वारा मनुष्य के अन्तःकरण में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि सब लोग मेरी प्रशंसा ही करते रहें, कोई कभी मेरी निन्दा न करें। जो इस मलिन वासना की तृप्ति का यत्न करता है उसको वैसा ही फल मिलता है; क्योंकि लोगों के अनेक मुख हैं, इसलिए उनकी जिह्वा को कोई रोक नहीं सकता। प्रजा का रंजन करना अथवा लोगों को संतुष्ट रखना

श्रीरामचन्द्र जी का व्रत था; इसलिए मलिन वासना की शान्ति का आविर्भाव प्रकट करके उनको अपने अवतार चरित्र की समाप्ति करनी पड़ी।

जिस तरह आदिकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य को स्वभाव-वर्णन और सृष्टि-सौन्दर्य-वर्णन के द्वारा अजरामर बना दिया है, उसी तरह भगवान् व्यासजी ने महाभारत नामक नानाविध दिव्य रत्नों का एक महासागर ही निर्माण कर दिया है। इस महाकाव्य में अनेक राजाओं का इतिहास है। इसकी उपयोगिता की वृद्धि के लिए इसमें भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न विषयों का समावेश करके चारों वेदों का अर्थ भर दिया है। इसीलिए इसको पंचम वेद भी कहते हैं। स्वयं व्यासजी ने इस ग्रन्थ के विषय में ब्रह्मा से जो कुछ कहा वह सुनने योग्य है। व्यासजी कहते हैं—"हे भगवन्, मैंने एक अत्यन्त श्रेष्ठ काव्य की रचना की है। उसमें अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। वेदों का रहस्य, सांगोपांग उपनिषद्, इतिहास, पुराण, काल की त्रिविध स्थिति, धर्माधर्म-विचार, आश्रम-भेद और लक्षण, चार वर्ण, तपश्चर्या और ब्रह्मचर्य का यथार्थ विवेचन, पुराणांतर्गत कथाओं का निर्देश, पृथ्वी और युग, चन्द्र और सूर्य, ग्रह और नक्षत्र तथा अन्यान्य ताराओं का प्रमाण, ब्रह्म-ज्ञान, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपत माहात्म्य, पुण्यतीर्थ, पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, नगर, धनुर्वेदान्तर्गत शस्त्रास्त्र-विद्या, नीतिशास्त्र, सर्व-व्यापक परब्रह्म आदि सब विषयों का निरूपण मैंने अपने काव्य में किया।" इस पर से पाठकों को महाभारत के विषय-विस्तार की कुछ कल्पना सहज ही हो सकती है।

महाभारत की मूलकथा में जो दो पक्ष दिखाये गये हैं उनमें से एक पक्ष में महाधनुर्धर, अत्यन्त बलवान्, जितेन्द्रिय और स्वार्थ-त्यागी लोग हैं और उनके सहायक वृन्दावन-विहारी भगवान् श्रीकृष्ण थे। दूसरे पक्ष में जो लोग थे वे अत्यन्त नीच स्वभाव के, स्वार्थी, लोभी, दुष्ट, घातक और बलवान् भी थे। कौरवों और पांडवों में बाल्यावस्था ही से द्वेष और मत्सर की वृद्धि हो रही थी। जेठे होने के कारण पांडव ही राज्य

के उत्तराधिकारी थे; परन्तु उनको राज्य-पद से च्युत करने के लिए दुर्योधनादि कौरवों ने अनेक यत्न किये। अन्त में उन दोनों पक्षों में घनघोर संग्राम हुआ और कौरव नष्ट हो गये। अंध धृतराष्ट्र के हाथ में कुछ समय तक राज-सत्ता थी, इसलिए उसने भी अपने दुष्ट पुत्रों के प्रोत्साहन से अनीति और अन्याय के मार्ग का स्वीकार किया था।

इस महाकाव्य में व्यासजी ने मानवी जीवन में नित्य प्रतीत होनेवाली व्यावहारिक बातों ही का मुख्यतः वर्णन किया है। इसमें राज्य-पद की आकांक्षा करनेवाले बन्धुओं का जो वृत्तान्त बाल्यावस्था से लेकर तरुणावस्था तक दिया गया है, उस पर से पाठकों के ध्यान में दुर्योधन की जो दुर्दशा हुई और राजसूय यज्ञ के समय पांडवों का अलौकिक वैभव देख कर उसके अन्तःकरण में द्वेष और मत्सर रूप जो अग्नि उत्पन्न हुई वही यथार्थ में भारतीय युद्ध का मूल-कारण है। पांडवों का लोकोत्तर ऐश्वर्य देख कर जब दुर्योधन आन्तरिक संताप की असह्य वेदना से दुखित हो रहा था, तब उसी समय शकुनी जैसे कपट-मूर्ति की उसको सहायता मिल गई। उसने पांडवों का नाश करने और उनकी सारी संपत्ति हर लेने की एक अजीब युक्ति निकाली। वह स्वयं अक्ष-विद्या में बहुत निपुण था। इसलिए धृतराष्ट्र ने धर्मराज को द्यूतक्रीड़ा के लिए बुलाया। यद्यपि धर्मराज को व्यासजी ने इस द्यूतक्रीड़ा के विषय में पहले ही सचेत कर दिया था, तथापि भवितव्यता के अधीन होकर वे अपनी स्त्री और सब भाइयों को साथ लेकर दुर्योधन के घर द्यूत खेलने को गये। देखिए, अदृष्ट की गति कैसी बलवान् होती है!

यह बात सब लोगों को विदित है कि द्यूत खेलने में कोई हारता है और कोई जीतता है। दुर्भाग्य-वश धर्मराज अपनी सब संपत्ति हार गये और अन्त में उन्होंने अपनी स्त्री और अपने सब भाइयों को तथा स्वयं अपने को भी दुर्योधन के अधीन कर दिया! दुष्ट दुःशासन ने भरी सभा में साध्वी द्रौपदी की बहुत विडम्बना की। इसके कारण कौरव-पांडव के द्वेष-रूप विष-वृक्ष की और भी वृद्धि हुई। पांडवों की सब संपत्ति कपट-विद्या से हर लेने पर भी दुष्टात्मा दुर्योधन के भयानक द्वेष

की तृप्ति नहीं हुई। उसने सत्यवादी धर्मराज को फिर एक बार द्यूत खेलने को बुलाया और कहा कि जो हारेगा, उसको बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञात-वास करना पड़ेगा। यह सुनकर सभा में हाहाकार मच गया। नाना प्रकार के लोकापवाद सुन लेने पर भी धर्मराज केवल इस भय से द्यूत खेलने को प्रवृत्त हुए कि यदि मैं इस समय द्यूत न खेलूँगा तो मेरा व्रत भ्रष्ट हो जायगा और लोग मुझे बुरा कहेंगे। इस द्यूत में भी धर्मराज की हार हुई! सच है, जब विनाश-काल प्राप्त होता है, तब मनुष्य की बुद्धि मारी जाती है। जैसे सुवर्ण-मृग के लोभ से श्रीरामचन्द्रजी को पत्नि-वियोग का दुःख भोगना पड़ा वैसे ही धर्मराज को वृथा लौकिक भय से बनवास और अज्ञात-वास का क्लेश भोगना पड़ा। भवितव्यता किसी के टाले टल नहीं सकती।

द्यूत में पराजित होने के बाद पाँचों पांडवों को और उनकी महासाध्वी धर्मपत्नी द्रौपदी को बनवास के लिए जाना पड़ा। उस समय प्रजा-जनों को बहुत दुःख और शोक हुआ। अनेक ब्राह्मण अपने शिष्यों को साथ लेकर पांडवों के संग वन में गये। वे सदा वैदिक-धर्म की चर्चा करके पांडवों का मनोरञ्जन किया करते और उनको उत्साहित किया करते थे। यहाँ से इस महाकाव्य का सब भाग केवल धर्म-निष्ठा से परिपूर्ण है। पांडवों के वनवास का विषय तपश्चर्या, दिव्य सामर्थ्य, धर्मानुष्ठान आदि आध्यात्मिक ज्ञान का मानो एक अथाह समुद्र ही बन गया है। पांडवों ने काम्यक, द्वैतवन, हिमालय, कैलास, बदरीकाश्रम, कुरुक्षेत्र, गंधमादन आदि अनेक पवित्र स्थानों में भ्रमण किया। वहाँ धौम्य, शौनक, व्यास, पुलस्त्य, मार्कंडेय आदि अनेक मुनिजन उनसे मिलने को आते और समय-समय पर उनको अनेक प्रकार के उपासना-मार्गों की शिक्षा देते तथा उनको उत्तेजित करने के लिए प्राचीन समय की अनेक कथाएँ बताते थे। अजगर और यक्ष के साथ धर्मराज का जो संवाद हुआ है, वह सचमुच धर्म और नीति का अपूर्व भांडार है।

अर्जुन ने दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिए जो धैर्य और साहस प्रकट किया है वह यथार्थ में आश्चर्यकारक है। प्रथम उसने हिमालय के

पृष्ठभाग में रहकर उग्र तप किया और महादेव को अपनी युद्धकला से प्रसन्न करके उनसे पाशुपत-शस्त्र की सिद्धि प्राप्त कर ली। इसके बाद इन्द्रलोक में कुछ समय रहकर उसने उपसंहार-सहित महाध्वनि-युक्त दिव्यास्त्रों की प्राप्ति की और चित्रसेन नामक गंधर्व से गायन, वादन और नृत्य कलाओं की शिक्षा पाई। इन कलाओं का अभ्यास करते समय यद्यपि उर्वशी नामक अप्सरा ने उसको मोहित करने का बहुत यत्न किया, तथापि वह अपने ब्रह्मचर्य व्रत से भ्रष्ट नहीं हुआ। उसने उस अप्सरा को कहा—"हे सुन्दरी, तू मुझे गुरु-पत्नी के समान पूज्य है, इसलिए तू मेरे विषय में किसी प्रकार की पाप-वासना न कर। मैं तेरे चरणों पर अपना मस्तक नवाता हूँ; क्योंकि तू मुझे माता के समान प्रतीत होती है।" यह सुनकर उर्वशी निराश हो गई। उसने अर्जुन को शाप दिया। यह शाप अज्ञातवास के समय अर्जुन को बहुत उपयोगी हुआ।

तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है कि वेदाध्ययन का अधिकारी वही हो सकता है, जो उपनयन-विधि से संस्कृत होता है। अर्थात् स्त्रियों, शूद्रों और पतित ब्राह्मणों को वेदाध्ययन करने का अधिकार नहीं है। इसलिए ऐसे अनधिकारी लोगों पर दया करने के हेतु भगवान् व्यासजी ने भारत नामक ग्रन्थ की रचना की है। यदि इसी दृष्टि से देखा जाय तो इस ग्रंथ में वैदिक-धर्म के तत्व सर्वत्र देख पड़ेंगे। सनत्सुजात-पर्व में वेद-विद्या का जो अप्रतिम निरूपण किया गया है, वह अत्यन्त उपयोगी है। अतएव संक्षेप में यहाँ उसका उल्लेख करना आवश्यक है।

परमात्मा केवल शब्दातीत है। वही सब शब्दों का प्रधान कारण है। वेद शब्द की भी व्युत्पत्ति वहाँ से हुई है। अतएव वेदों का भी वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होती है, वैसे ही वेद शब्द भी उस ज्ञान-समुद्र-रूप परमात्मा में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यदि मन, वाणी और अन्य किसी इन्द्रिय से परमात्मा स्वरूप का आकलन नहीं हो सकता तो उसको जानने का उपाय क्या है। परमात्म-

संयोग होता है तब दोनों की समरसता इतनी हो जाती है कि दोनों में से एक भी पदार्थ शेष नहीं रहता। इसी तरह जब आत्मा की सम्पूर्ण सृष्टि के साथ समरसता हो जाती है, तभी सच्चा आत्म-भजन होता है। इस अवस्था में वृत्ति सदा ब्रह्माकार रहती है, प्रपंच कदापि सत्य प्रतीत नहीं होता जब चैतन्य इस प्रकार प्रकट हो कि वृत्ति सदा ब्रह्म-रूप रहे और देहात्म-बुद्धि का स्पर्श तक न हो, तभी अभेद-बुद्धि द्वारा आत्मा की पहचान होती है।

सहज-स्थिति की एक ऐसी पहचान है कि जिसका अनुभव सब लोगों को होता है; परन्तु अज्ञान के कारण आत्मा का स्मरण नहीं रहता। उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

निद्रादौ जागरस्यस्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन्साक्षादक्षय्यानंदमश्नुते॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है कि जागृति अवस्था के अन्त में जब सुषुप्ति का प्रवेश होने लगता है तब दोनों की सन्धि से जो सुख प्राप्त होता है वही ब्रह्म-रूप है। इसका कारण यह है कि उस संधि के समय निर्विकार अवस्था होती है। देहेंद्रियादि सब प्रपंच का नाश हो जाने पर और लय, विक्षेप आदि दोनो का नाश हो जाने पर जो शेष रहता है वही ब्रह्म है। यह स्थिति केवल आनन्द-रूप है। इस स्थिति का पूर्ण अनुभव उन्हीं लोगों को होता है जो आत्मानुभवी योगी हैं। जागृति अवस्था के अन्त में और सुषुप्ति का प्रवेश होने के पहले पुरीतति नामक नाड़ी में मन का लोप होता है। पहले इन्द्रियों की वृत्तियाँ अपनी अपनी इन्द्रियों में प्रवेश करती हैं; इसके बाद इन्द्रियों का मन में लय होता है और मन संकल्प-रहित हो जाता है। जैसे अस्तमन के समय सूर्य की किरण सूर्य-मंडल में प्रवेश करती हैं और फिर वह मंडल सूर्य में लुप्त हो जाता है वैसी ही अवस्था उक्त संधि के समय होती है। मन और इन्द्रियों के द्वारा ही जीव के सब व्यवहार होते हैं। जब इन्द्रियों को मन की सहायता होती है तब उनके व्यापार के लिए त्रिभुवन भी छोटा मालूम

होता है; परन्तु जब इन्द्रियों को मन की सहायता नहीं होती, तब उनका सब व्यापार आप-ही-आप बन्द हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होने के पहले ज्यों ही मन पुरीतति नाड़ी में प्रविष्ट होता है त्यों ही इन्द्रियों की सब वृत्तियों का लय हो जाता है और इन्द्रियाँ भी मन में लीन हो जाती हैं। अर्थात् जब मन और इन्द्रियों का अभाव हो जाता है तब संकल्प और विकल्प सब आप-ही-आप छूट जाते हैं। इसी संकल्प-विकल्प-रहित अवस्था में बुद्धि को स्व-स्वरूप प्राप्ति होती है और आत्म-सुख का अनुभव होता है। इस स्थिति का यथार्थ बोध गुरु-मुख से श्रवण करना चाहिए।

स्व-स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर जो अपूर्व आनन्द होता है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

जडतां वर्जयित्वैकां शिलायां हृदयं च यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा॥
प्रशान्त सर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जागृन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् 'अमनस्क' अवस्था में सब संकल्पों का लय हो जाता है और अहंकार, मन तथा इन्द्रियों का कुछ भी भान नहीं रहता। घट-पटादि बाह्य पदार्थों का या विश्य-परंपरा का अन्तःकरण में स्फुरण तक नहीं होता। जैसे शिला निश्चेष्ट और संकल्प-शून्य पड़ी रहती है, वैसे ही बाह्याभ्यन्तर शुद्धता प्राप्त होने पर अमनस्क अवस्था का अनुभव होता है। इस अवस्था में ज्ञानी पुरुष का चित्त कभी पदार्थाकार नहीं होता। 'मुझे अमुक पदार्थ चाहिए, अमुक पदार्थ नहीं चाहिए' इत्यादि प्रकार के संकल्प उसके मन में उठते ही नहीं—वह निर्विकल्प हो जाता है। साधारण लोगों के मन में सदा किसी-न-किसी प्रकार के संकल्प उठते ही रहते हैं; परन्तु ज्ञानी पुरुष के सब संकल्पों का अन्त हो जाता है—उसके अन्तःकरण में ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी विषय का स्फुरण नहीं होता। इस अवस्था में जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति का भी अभाव हो जाता है।

जब इन्द्रियों की सब वृत्तियाँ बाह्य स्थूल पदार्थों के साथ संलग्न रहती हैं तब जागृतावस्था प्राप्त होती है और इसी को विक्षेप कहते हैं। इन्द्रियों की वृत्तियाँ लीन हो जाने पर भी जब केवल वासनाओं के वेग से मन पदार्थाकार हो जाता है तब स्वप्नावस्था उत्पन्न होती है। जब इन्द्रियों की वृत्तियों का और मन का भी लय हो जाता है और स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों का ग्रहण करना केवल असंभव हो जाता है तब सुषुप्तावस्था प्राप्त होती है। स्वरूप-स्थिति उक्त तीनों अवस्थाओं से भिन्न और श्रेष्ठ है। देखिए,

सर्वसंकल्पसंशांतौ प्रशांतघनवासनम्।
न किंचिद्भवनाकारं तद्ब्रह्म परमं विदुः॥

अर्थात् स्वरूप-स्थिति में निःशेष संकल्प भस्म हो जाता है, निविड़ वासनाओं का नाश हो जाता है और विपरीत-भावनाओं का अभाव हो जाता है। जब एक-बार विषयों का ग्रहण किया जाता है तब मन में संकल्प उत्पन्न होता है। इस संस्कार के कारण अन्तःकरण में पदार्थों के विषय में जो स्फुरण होता है उसी को वासना कहते हैं। हम लोग दिन भर अनेक प्रकार के व्यवहार करते रहते हैं; इन व्यवहारों से जो ज्ञान होता है वह यद्यपि सुषुप्तावस्था में लीन हो जाता है तथापि वह संस्कार-रूप से अन्तःकरण में बना रहता है। वही ज्ञान दूसरे दिन जागृतावस्था में फिर उत्पन्न होता है। इस प्रकार की वासनाएँ अनन्त और अमर्यादित हैं, इसलिए उनके विषय में 'घन' अर्थात् निविड़ विशेषण लगाया गया है। जब ये निविड़ वासनाएँ निःशेष लीन हो जाती हैं तब विपरीत-भावना कदापि उत्पन्न नहीं होती। यही ब्रह्म-स्थिति का लक्षण है। यदि दृढ़ता-पूर्वक इसी धारणा की जाय और यही एक-वृत्ति अखंडाकार बनी रहे तो आत्म-साक्षात्कार और स्व-स्वरूपानन्द का अनुभव निस्सन्देह प्राप्त होगा। सारांश यह है कि अपने शुद्ध स्वरूप में प्रथम 'जोवऽहं' यह स्फुरण उत्पन्न होता है और इसके बाद 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं बहिरा हूँ, मैं पंगु हूँ, इत्यादि अनेक प्रकार के संकल्प उठते हैं। एक ही ब्रह्म में स्त्री, पुरुष, अश्व, गज, रथ आदि अनेक प्रकार की

विपरीत-भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। जब ये भावनाएँ दृढ़ हो जाती हैं तब उनके विषय में वासनाओं की अनेक लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। इस प्रकार संसार में सर्वत्र प्रपंच ही का भास होने लगता है। अतएव जब संकल्प-भावना और वासना का पूर्ण क्षय हो जाता है तब ब्रह्म-स्थिति आप-ही-आप प्रकट होती है। इसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस परमानन्द दायक अवस्था से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करते समय साधकों को अनेक विघ्नों की बाधा हुआ करती है। उनमें से मुख्य चार विघ्नों का वर्णन वेदान्त-शास्त्र में किया गया है। साधकों को उचित है कि इन विघ्नों का स्वरूप भली भाँति समझ लें।

अस्य निर्विकल्पस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणश्चत्वारो विघ्नाः संभवन्ति।

—वेदान्तवाक्य।

अर्थात् लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये चार विघ्न निर्विकल्प समाधि के साधन में उत्पन्न होते हैं। इनमें से प्रथम लय का लक्षण यह है—तत्र लयस्तावदखंडवस्त्वनलंबनेन चित्त वृत्तेर्निद्रा ; अर्थात् इस अवस्था में यद्यपि साधक बाह्य प्रपंच का अनुसंधान नहीं करता तथापि उसको स्व-स्वरूप का आधार नहीं रहता, इसलिए उसकी चित्त-वृत्ति अज्ञान में डूबकर गाढ़ निद्रा के वश हो जाती है। चित्त का यह स्वभाव ही है उसको किसी-न-किसी प्रकार का आधार चाहिए—वह किसी का आधार लिये बिना स्थिर रह नहीं सकता। इसलिए चित्त को जब ध्येय वस्तु (स्व-स्वरूप) का आधार नहीं मिलता तब वह मूढ़ सुषुप्तावस्था में लीन हो जाता है। यह दोष इतना भयानक और हानिकारक है कि बहुतेरे साधकों को इसने अपने जाल में फँसा लिया है। ज्यों ही साधक स्वस्थ या ध्यानस्थ होने का यत्न करने लगता है त्यों ही निद्रा उसे आ घेरती है! शम-दमादि अत्यन्त कठिन मार्ग का आक्रमण करने पर और काम क्रोधादि प्रबल शत्रुओं को जीत लेने पर भी साधक नींद के गड्ढे में गोता खाने लगता है। यह विघ्न दो कारणों से उत्पन्न हुआ करता

है—पहला कारण अभ्यास की शिथिलता और दूसरा कारण तमोगुण की प्रबलता है। अतएव साधक को सदा अपने अभ्यास पर आरूढ़ रहना और चित्त का सम्बोधन करके तमोगुण का ह्रास करना चाहिए। इस उपाय से लय दोष का नाश होगा।

दूसरे विघ्न का नाम विक्षेप है। इसका लक्षण वेदान्त-वाक्य में इस प्रकार लिखा है—अखंडवस्त्वनवलंबनेन चित्तवृत्तेरन्यावलंबनं विक्षेपः। अर्थात् अखंड वस्तु (परमात्मा) का अनुसन्धान करते समय वृत्ति-रूप ज्ञान चित्त को आच्छादित कर लेता है। तब मन मुख्य वस्तु को छोड़ कर प्रपंचाकार होने लगता है। साधक जिन विषयों का त्याग करके ध्यानस्थ होने का यत्न करता है उन्हीं विषयों के चिन्तन में वह मग्न हो जाता है। 'विषयों का चिन्तन दुःख-जनक है' इस तत्त्व का पूरा अनुभव होने पर भी चित्त अपनी श्वान-स्थिति का त्याग नहीं करता। इस दोष को विक्षेप कहते हैं। पूर्ण वैराग्य के अभाव के कारण यह दोष उत्पन्न होता है। जब विरक्ति सुदृढ़ हो जाती है तब यह दोष नष्ट हो जाता है।

तीसरा विघ्न कषाय है। इसका सच्चा स्वरूप समझ में आने के कारण बहुतेरे लोग भ्रम-वश होकर इसी को समाधि कहने लगते हैं।

लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेः रागादिवासनायाः स्तब्धीभावात् अखंडवस्त्वनवलंबनं कषायः।

—वेदान्ताक्यानि।

भावार्थः—जब साधक अपनी चित्त-वृत्ति को स्व-स्वरूपाकार करने का यत्न करता है तब विषयों के सम्बन्ध में संस्कार-रूप से रही हुई प्रीति चित्त-वृत्ति को स्तब्ध कर देती है। यद्यपि यह विषयानुराग अत्यन्त सूक्ष्म होता है तथापि वह स्वरूपासंधान करने में बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित कर देता है। यद्यपि साधक अभ्यास के बल से लय-दोष का नाश कर डालता है और वैराग्य के बल से विक्षेप दोष को हटा देता है तथापि उसके मन में सूक्ष्म विषय-प्रीति बनी रहने के कारण आत्मानुभव प्राप्त नहीं होता। चित्त-वृत्ति प्रपंचाकार नहीं होती, निद्रा भी नहीं आती और स्वरूपानुसन्धान भी नहीं होता—इस प्रकार की विलक्षण तटस्थता उत्पन्न हो

जाती है। उसी को कषाय कहते हैं। इस दोष का मुख्य कारण प्रज्ञा की मन्दता ही है। इसी से सूक्ष्म विषय-राग मन में बना रहता है। स्वरूपानुसंधान करते समय साधक निश्चेष्ट हो जाता है, परन्तु स्व-स्वरूप का प्रकाश नहीं होता। इस विघ्न को टालने का यह उपाय है कि विषयों के सम्बन्ध में दोष-दर्शन की दृष्टि तीव्र करके दीर्घ काल तक अभ्यास किया जाय।

चौथे विघ्न का नाम रसास्वाद है। इसका लक्षण यह है:—

अखंडवस्त्वलवलंबनेन चित्तवृत्ते सविकल्पानन्दस्वादो रसास्वादः॥

—वेदान्तवाक्यानि।

अर्थात् जब साधक अपनी चित्त-वृत्ति को स्व-स्वरूपाकार करने का यत्न करता है और अखंड वस्तु का अवलम्ब होने के कारण जब वह केवल सविकल्प आनन्द ही का उपभोग करता है तब रसास्वाद दोष उत्पन्न होता है। यहाँ अखंड वस्तु और सखंड वस्तु का अर्थ समझ लेना चाहिए। जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, अथवा ध्याता, ध्यान और ध्येय इत्यादि त्रिपुटि का स्फुरण तक नहीं होता जब साधक स्वयं अपनी एकात्मता में मग्न हो जाता है, जब सारे भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं तब अखंड वस्तु सिद्ध होती है। जिस अवस्था में आनन्द के सिवाय और कुछ नहीं है, जिस अवस्था में आनन्द का उपभोग आनन्द ही के द्वारा किया जाता है, जिस अवस्था में भोक्ता, भोग्य और भोग का भान नहीं रहता, उस अवस्था में अखंड वस्तु सिद्ध होती है। इस अवस्था में चित्त निरालम्ब हो जाता है—सर्वत्र ब्रह्म ही का दर्शन होता है। परन्तु जब यह विभाग-कल्पना उत्पन्न होती है कि मैं ज्ञाता हूँ, अमुक वस्तु ज्ञेय है और इन दोनों का संयोग करनेवाली क्रिया ज्ञान है तब अखंड वस्तु सखंड हो जाती है। इस प्रकार अखंड वस्तु को त्रिखंड करने से अखंड का अनुसंधान छूट जाता है और तब उस अवस्था में साधक को ज्ञातापन के सुख का अनुभव होता है। इसी को रसास्वाद दोष कहते हैं। सच बात तो यही है कि अखंड वस्तु में संकल्प-मात्र का भी उद्भव हो नहीं सकता और इसी अवस्था को निर्विकल्प कहते हैं इसके अतिरिक्त अन्य स्थिति को सविकल्प

समझना चाहिए। त्रिपुटि अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की स्फूर्ति भी सूक्ष्म संकल्प ही है, जब तक इस त्रिपुटि का लय नहीं हो तब तक निर्विकल्प स्थिति की पूर्णता नहीं होता। त्रिपुटि का भान रहते हुए सविकल्प आनन्द का जो अनुभव होता है वही रसास्वाद का लक्षण है।

रसास्वाद नामक दोष का एक और लक्षण है। यह साधारण अनुभव की बात है कि दुःख-निवृत्ति को आनन्द कहते हैं। उदाहरणार्थ, जब तक किसी मनुष्य के सिर पर बोझा लदा रहता है तब तक उसको दुःख होता है, जब वह बोझा सिर पर से उतार कर नीचे रख दिया जाता है तब उसको सुख प्राप्त होता है। ठीक इसी तरह साधक को पहले पहल लय, विक्षेप आदि द्वारा बहुत दुःख होता है और जब उस दुःख से निवृत्ति हो जाती है तब उसको आनन्द होता है। दुःख-निवृत्ति से उत्पन्न होनेवाले इस आनंदानुभव को रसास्वाद कहते हैं। क्योंकि साधक उसी आनंदानुभव से संतुष्ट हो जाता है और निरुपाधिक ब्रह्मानन्द के अनुभव से वञ्चित रहता है। तात्पर्य यह है कि सिर्फ दुःख-निवृत्ति से उत्पन्न होनेवाला जो आनन्द है उसे ब्रह्मानन्द न समझना चाहिए—वह रसास्वाद नाम का एक दोष है।

जब यदि उपर्युक्त चारों दोषों की तुलना करके देखें तो यह निर्णय करना पड़ता है कि रसास्वाद कोमल प्रकार का दोष है, इसके कारण आत्म-सुख में बहुत-सा व्यभिचार नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सिर्फ त्रिपुटि का स्फुरण मात्र होता है। परन्तु लय, विक्षेप और कषाय बड़े ही अनर्थकारक दोष हैं। रसास्वाद दोष यद्यपि कुछ समय तक बना रहे तथापि उससे कुछ विशेष हानि नहीं होती। सावधानता का अभ्यास करने से यह दोष शीघ्र ही निकल जाता है और निर्विकल्प स्थिति की पूर्णता हो जाती है। परन्तु यदि साधक लय, विक्षेप या कषाय में क्षण भर भी फँस जाय तो उसका सब अभ्यास विफल हो जायगा—वह कदापि निर्विकल्प स्थिति का अनुभव न कर सकेगा। अतएव साधक को इन तीन दोषों से बचे रहने का सदा यत्न करना चाहिए।

जो साधक उक्त प्रकार के चारों दोषों से अलिप्त रहता है उसी को निर्विकल्प ब्रह्म-स्थिति सहज प्राप्त होती है। इसी स्थिति को शिला की उपमा दी गई है। इस उपमा से केवल प्रपंच-शून्यता का भाव ग्रहण करना चाहिए। यथार्थ में शिला कठिन, जड़ और अप्रकाश है और आत्मा अजड़ तथा स्वयं-प्रकाश है। इस निर्विकल्प स्थिति ही को वेदांत-शास्त्र में अमनस्क या उन्मनी कहा है, क्योंकि इसमें मन का पूर्ण लय हो जाता है। इस स्थिति में किसी प्रकार के प्रपंच का भान नहीं रहता केवल स्व-स्वरूप का अनुभव रहता है।

अब यह देखना चाहिए कि जो आत्मा इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त है उसके लक्षण क्या हैं।

सत्यानंदचिदाकाशस्वरूपः परमेश्वरः।
मृद्राजनेषु मृदिव सर्वत्रास्त्यपृथक् स्थितिः॥—

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है कि सत्ता, आनन्द और ज्ञान-रूप परमात्मा ही सबका नियंता है। ब्रह्माण्ड में आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है। जैसे मिट्टी से घड़े बनाये जाते हैं वैसे ही सब पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। केवल ब्रह्म ही सबका आदि कारण है। छांदोग्योपनिषद् में कहा है:—वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। अर्थात् नाम और विकार केवल वाचा का विस्तार है। मूल मृत्तिका ही सत्य है, उसके सिवाय घटादि सब पदार्थ असत्य हैं। इसी तरह ब्रह्माण्ड में भीतर बाहर सर्वत्र एक ब्रह्म ही व्याप्त है, अन्य सब पदार्थ मिथ्या है। नाम-रूपात्मक जो कुछ देख पड़ता है वह केवल वाचारंभण है।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥
निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् सत्ता, ज्ञान और सुख ये तीन अंश ब्रह्म के हैं और विश्व-

नामरूपात्मक है। नाम और रूप जन्म-मरण-युक्त अतएव मिथ्या हैं। जैसे समुद्र में बुद्बुद् होते हैं वैसे ही सत्य ब्रह्म में नाम और रूप को जानो।

भरिताशेषदिक्कुंभमनंताकाशनिर्भरम्।
एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारि चांबुधिः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् त्रैलोक्य में भीतर बाहर सर्वत्र आकाश ही भरा है। ऐसा एक भी स्थान खाली नहीं है कि जहाँ आकाश न हो। दिशा, विदिशा, गिरि, गुहा, कुंज, बन आदि सब स्थानों में आकाश व्याप्त है। इसी तरह सारा विश्व चिदंश से व्याप्त है। जैसे समुद्र की लहरें समुद्र से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही कोई पदार्थ ब्रह्म से अलग नहीं है।

निस्तरंगोऽतिगंभीरः सांद्रानंदसुधार्णवः।
माधुर्यैकरसाधार एक एवास्ति सर्वतः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ब्रह्मानन्द सब प्रकार के आनन्दों से श्रेष्ठ है। विषयरस में नानाकारता है; परन्तु ब्रह्म एक-रस और निर्विकार है। सब मधुर पदार्थों से ब्रह्म की मधुरता अधिक है। ब्रह्मानन्द निश्चल तथा गंभीर है, वह वाचा से व्यक्त किया जा नहीं सकता। उसका अनुभव केवल ब्रह्मवेत्ताओं ही को विदित है। इस विश्व में ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है।

यदेवं ब्रह्मणोरूपं ततं बुद्धमखण्डितम्।
तदा निस्तीर्णसंसारः परमेश्वरतां गतः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् इस प्रकार वर्णित अखंड, अनन्त और सर्वव्यापक परमात्मा के स्वरूप को जो जानता है वह संसार से मुक्त होकर परमेश्वरता प्राप्त करता है। स्व-स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान का लेश तक नहीं रहता; तब उस अज्ञान का कार्य अर्थात् प्रपंच वहाँ कैसे रह सकता है?

समस्तमेव ब्रह्मेति भाविते ब्रह्म वै पुमान्।
पीतेऽमृतेऽमृतमयः को नाम न भवेदिति॥

—योगवासिष्ठ।

इसका अर्थ यह है कि जो इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म-रूप देखता है वह स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। इसमें आश्चर्य कुछ नहीं; क्योंकि जो अमृत प्राशन करेगा वह अमृतमय अवश्य हो जायगा। यह सिद्धान्त है कि जो मनुष्य जिस वस्तु का ध्यान करता है वह तद्रूप हो जाता है। इसलिए जो मनुष्य यह भावना करता है कि मैं देह-रूप हूँ वह देह-रूप ही बना रहता है और जो यह भावना करता है कि मैं ब्रह्म-रूप हूँ वह ब्रह्म-रूप हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि परमात्मा-स्वरूप का अनुभव ही नहीं है तो उसके संबंध में भावना कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान पंचदशी में इस प्रकार किया है:—

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिंत्याताम्।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्यात्तं ब्रह्म किं पुनः॥—विद्यारण्य।

अर्थात् यद्यपि अनुभव नहीं है यथापि सदा यही चिंतन करना चाहिए कि "मै ब्रह्म हूँ"। इस प्रकार निरंतर चिंतन करने से ब्रह्मप्राप्ति आप-ही-आप हो जाती है। इस विषय में यह प्रमाण सिद्ध है कि भ्रमर के अभ्यास से कीटक को भ्रमर का रूप प्राप्त हो जाता है—अर्थात् अविद्यमान वस्तु का लाभ होता है। यदि यह बात सत्य है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है कि जो ब्रह्मस्व-रूप नित्य हमारे अंतःकरण में, भीरत बाहर, सर्वत्र व्याप्त है उसकी प्राप्ति केवल उसका ध्यान करने से हो जाती है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं सर्वत्र ब्रह्म-भावना का अभ्यास करने से मनुष्य स्वयं ब्रह्म-रूप हो जाता है।

अब यह देखना चाहिए कि सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन होने के लिए कौन कौन साधन आवश्यक हैं। श्रीवसिष्ठ ने श्रीरामचंद्र को यह उपदेश किया है कि ब्रह्माभ्यास किस प्रकार करना चाहिए। संक्षेप में उसी विषय का निरूपण यहाँ किया जायगा।

भयोसि चेत्तदेतस्मात्स्वर्गमोक्षौ निश्चयात्।
नो चेद्वृक्षपि संप्रोक्षं त्वया भस्मनि-हूयते॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् हे रामचन्द्र, यदि तुम ऐसी भावना करोगे कि यह सारा जगत् परमात्म-रूप ही है तो तुम परमात्म-रूप ही हो जाओगे। तुम भव्य' अर्थात् साधन-चतुष्टय-संपन्न हो, इसलिए सर्वत्र ब्रह्म-भावना करने ही से तुमको परमात्मप्राप्ति होगी। तुम तो स्वयं ब्रह्म ही हो; यह कहना केवल औपचारिक है कि तुमको 'परमात्मता प्राप्त होगी'। साधन-चतुष्टय से चित्त-शुद्धि होती है। इसके बाद सर्वत्र ब्रह्म-भावना करने से ब्रह्म-स्थिति का प्राप्त होती है। यदि यह बात ध्यान में न रक्खी जाय और सहस्रावधि अन्य उपाय किये जायँ तो सब परिश्रम भस्म में होम करने के समान व्यर्थ हो जाते हैं। यदि दर्पण स्वच्छ होगा तो उसमें प्रतिबिंब देख पड़ेगा; मलिन दर्पण में प्रतिबिंब कभी देख नहीं पड़ता। अतएव सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन होने के लिए चित्तशुद्धि ही मुख्य कारण है। यदि साधन-चतुष्टय द्वारा अंतःकरण की शुद्धि न की जायगी तो अन्य सब उपाय निष्फल हो जायँगे। चित्त-शुद्धि के बिना गुरु में गुरुत्व देख नहीं पड़ता और महा-वाक्य में अर्थ देख नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि जब तक अंतःकरण निर्मल न होगा तब तक ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा करना व्यर्थ है।

श्रीवसिष्ठ कहते हैं, हे रामचन्द्र, तुमको यह ज्ञान हो गया है कि सर्वत्र ब्रह्म-भावना करने से ब्रह्म-प्राप्ति होती है, इसलिए अब यह बताते हैं कि ब्रह्माभ्यास किस प्रकार करना चाहिए।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

—लीलोपाख्यान।

अर्थात् जब तुम अकेले होगे तब एकांत में ब्रह्म-स्वरूप चिंतन करते रहो; जब तुम्हारे पास कोई शिष्य आवे तब उसको आत्म-स्वरूप का उपदेश करो; जब तुम्हारे सामने कोई ज्ञानी पुरुष मिले तब परस्पर ब्रह्म-निरूपण करना चाहिए और इस बात का कभी विस्मरण होने न देना चाहिए कि सब पदार्थों में अधिष्ठान रूप एक ही वस्तु है, इसी एक विचार में सदा निमग्न रहकर ब्रह्माभ्यास करना चाहिए। इस

अभ्यास में प्रपंच के अनुसंधान का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यदि इस अभ्यास में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो तो मनोनाश, वासना-क्षय आदि पूर्व-निरूपित साधनों का अवलम्बन करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में इस बात का निरूपण किया गया है कि इस ब्रह्माभ्यास को दृढ़ और अखण्ड कैसे करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम्।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च॥

—भगवद्गीता।

अर्थात् जब साधक अकेला रहे तब उसको अपनी चित्त-वृत्ति मेरे स्वरूप में प्रविष्ट करनी चाहिए और ऐसी स्थिति में रहने का अभ्यास करना चाहिए कि फिर चित्त-वृत्ति विषयों में आसक्त होने न पावे। यदि प्राणावरोध से मन स्थिर न हो सके तो मुझे प्राण ही समर्पण कर देना चाहिए। प्राण शब्द से इन्द्रियों का अर्थ ग्रहण किया जाय तो तात्पर्य यह निकलता है कि मन-सहित सब इन्द्रियों का नियमन करके मेरे स्वरूप में अर्पण कर देना चाहिए। मेरे स्वरूप में मन-सहित इन्द्रियों को अर्थात् प्राण को अर्पण कर देने से सहज ही मद्रूपता प्राप्त हो जायगी। मद्रूपता प्राप्त होने पर जो आनन्दानुभव होगा वह केवल अवर्णनीय है। उस परमानन्द के सामने सारे विश्व के विषय-सुख क्षुद्र प्रतीत होते हैं। इस आनन्द का अनुभव करते समय विश्व की स्फूर्ति ही नहीं होती। जब साधक एकांत में नहीं रहता और किसी ज्ञानी या साधु-पुरुष का समागम होता है तब दोनों को आपस में मेरे ही स्वरूप का निरूपण करना चाहिए। इस उपाय से दोनों ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जायँगे। जब साधु-पुरुष आपस में मेरे स्वरूप का निरूपण करते हैं तब वे देहादि सब प्रापंचिक भान भूल जाते हैं, यहाँ तक कि अन्त में उनका बोलना बन्द हो जाता है और केवल आनन्द-रूप होकर वे स्तब्ध हो जाते हैं। यदि कोई सच्छिष्य मिले तो अत्यन्त प्रेम और उत्साह से उसको मेरे स्वरूप का उपदेश करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ शुद्ध भाव से मेरे

स्वरूप का वर्णन किया जाता है वहाँ मैं स्वयं प्रकट होता हूँ। उक्त चार प्रकार का अभ्यास नित्य निरन्तर करते रहने से साधक को मेरे सिवाय और कुछ देख नहीं पड़ता—उसको अन्य किसी विषय की स्फूर्ति नहीं होती—वह मेरे स्वरूप में निमग्न होकर मद्रूप ही हो जाता है। इस श्लोक में 'नित्य' अर्थात् निरन्तर शब्द बहुत महत्त्व का है। उसका यथार्थ भाव अन्तःकरण में सदा जागृत रहना चाहिए। जिस स्थिति में अन्तर या खण्डता रत्ती भर भी न हो उसको निरन्तर समझना चाहिए। उक्त प्रकार का ब्रह्माभ्यास करते समय चित्त में एक क्षण का भी अन्तर या खण्ड या अवकार न होने देना चाहिए—मन को विषयों की ओर क्षण भर के लिए भी जाने न देना चाहिए। जब इस प्रकार निरन्तर ब्रह्माभ्यास किया जायगा तब असंभावनादि सब दोष नष्ट हो जायँगे और शुद्ध ब्रह्म-ज्ञान प्रकट होगा। इस ज्ञान के प्रकाश से साधक ब्रह्मानन्द में निमग्न होकर केवल ब्रह्ममय हो जाता है। इस ब्रह्माभ्यास का फल भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है:—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते॥— भगवद्गीता।

इसका भावार्थ यह है कि जो अत्यन्त प्रेम से सतत अर्थात् निरन्तर मुझे भजते हैं उन्हें मैं ऐसा ज्ञान देता हूँ कि जिसके योग से वे मेरी प्राप्ति कर लेते हैं।

अब यह प्रश्न उठता है कि परब्रह्म का ज्ञान किस उपाय से होगा? प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला देह और तत्सम्बन्धी प्रपंच मिथ्या कैसे मानें? जब यह सारा संसार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है तब उसको मिथ्या मान कर परमात्मा का दर्शन कैसे करें? इसका उत्तर यह है कि आत्मानुभव को दृढ़ और अखंड करने के लिए निम्न तत्त्व सदा ध्यान में रखना चाहिए:—

नेति नेतीति नेतीति शेषितं तत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव॥
—योगवासिष्ठ।

अर्थात् 'नेति नेति' श्रुति-वचनों से दृश्य मात्र का निषेध किया जाता है। जो कुछ हम देखते या सुनते हैं वह ब्रह्म नहीं है। जिस पदार्थ को आकार प्राप्त हुआ है अथवा जिसकी उत्पत्ति होती और विनाश होता है वह नश्वर है—वह ब्रह्म नहीं है। श्रुति में कहा है कि स्थूल-देह, लिंग-देह आदि सब दृश्य पदार्थ नाशवान् हैं। पंच महाभूतों के समुदाय को स्थूल-देह कहते हैं। चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; कर, चरण, जिह्वा, गुद और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ; प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राण:; तथा मन, बुद्धि, अहंकार आदि सूक्ष्म-रूप मिलकर लिंग-देह बनता है। इस पर से यह बात प्रकट होती है कि स्थूल या लिंग-देह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म तो केवल साक्षि-स्वरूप है। जो किसी पदार्थ का द्रष्टा है वह स्वयं दृश्य नहीं हो सकता। द्रष्टा और दृश्य दोनों भिन्न हैं। इस प्रकार नेति नेति श्रुति-वचनों के आधार पर सब दृश्य पदार्थों का निरास करके जो साक्षी शेष रहता है वही स्वयं-प्रकाश आत्मा है। जिसके अज्ञान से विश्व का आभास होता है और जिसके ज्ञान से सब का निरास हो जाता है उसी को परमानन्ददायक ब्रह्म-स्वरूप जानना चाहिए। श्रुति से भी जिसका निराकार नहीं हो सकता, इन्द्रियों द्वारा जो जाना नहीं जा सकता और सब दृश्य का निषेध करने पर जो साक्षि-रूप शेष रहता है वही परमात्मा है।

इस विषय के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के वार्तिक में विस्तृत विवेचन किया है। उसका सारांश यह है :—

अध्यात्मादिपदार्थेभ्यो विरक्तं स्वात्मनि स्थितम्।
तत्र पश्यंत्यहो कष्टं दौर्भाग्यं दुष्टचेतसाम्॥

—वार्तिक।

अर्थात् आत्म-स्वरूप अध्यात्मादि पदार्थों से भिन्न, दृश्य-मात्र से भिन्न और निर्मल है। यदि इस आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करना हो तो किसी साधन का अवलम्ब न करते हुए केवल अपने हृदय में उसको देखना चाहिए। विरक्त होकर यदि हम अपने हृदय में आत्म-स्वरूप का

ध्यान करें तो वह तुरन्त ही प्रकट होता है। यद्यपि आत्मा इस प्रकार स्वयं-सिद्ध, प्रत्यक्ष और स्व-प्रकाश है तथापि भाग्यहीन लोग उसे जानते नहीं। यह बड़े दुख की बात है! अज्ञानी लोगों का नसीब ही टेढ़ा होता है! वे अपने प्रत्यक्ष आत्म-स्वरूप का त्याग करके केवल नश्वर पदार्थों में आसक्त रहते हैं।

प्रत्यक्षगोचरं देवं लोकं चातिप्रमादिनम्।
दृष्ट्वा श्रुतिः शिरस्ताडमनुक्रोशति दुःखितः॥

—वार्तिक।

प्रत्यक्ष-गोचर देव का त्याग करके लोग मोह में कैसे फँसे पड़े हैं आत्मा स्वयं-प्रकाश है। वही सब दृश्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। जब लोग यह कहते हैं कि हमें ब्रह्म का ज्ञान नहीं है तब उनके अज्ञान में भी आत्मा ही का प्रकाश रहता है। इस अज्ञान में और सुषुप्तावस्था के अज्ञान में किसी प्रकार का भान ही नहीं रहता; परन्तु उक्त अज्ञान में भान सदा बना रहता है। जिसके योग से यह भान जाग्रत रहता है वही परमात्मा का रूप है। इस प्रकार प्रत्यक्षगोचर आत्मा का निवास निरन्तर हमारे हृदय में बना है; परन्तु हम अपनी मूर्खता के कारण उसको नहीं जानते। इसलिए श्रुति-माता अत्यन्त विह्वल और दुखित होती है।

प्रत्यक्षतममप्येनं विनमस्कतया स्थितम्।
अहो कष्टं न पश्यंति क यामः शरणं वद॥

—वार्तिक।

पदार्थों के तीन भेद हैं—पहला प्रत्यक्ष, जैसे मन, बुद्धि आदि, और तीसरा प्रत्यक्षतम, जैसे आत्मा जो सब का साक्षी और स्वयं-प्रकाश है। घट-पटादि प्रत्यक्ष पदार्थ जड़ हैं; क्योंकि न तो वे स्वयं-प्रकाश हैं और न किसी अन्य पदार्थ को प्रकाशित कर सकते हैं। आत्मा इस प्रकार जड़ नहीं है—वह स्वयं-प्रकाश है और अन्य सब पदार्थों को वही प्रकाशित करता है। खेद की बात है कि हम लोग अज्ञानी होने के कारण उस परमात्मा के स्वरूप को जानते नहीं। जैसे हाथ में पहरे हुए

कंकण को दर्पण में देखने की इच्छा करना मूर्खता का लक्षण है या जैसे अपने मुख से लोगों को यह पूछना व्यर्थ है कि हमारी जिह्वा है या नहीं, उसी तरह अपने हृदय में परमात्मा का निवास रहते हुए उसके विषय में अज्ञानी बने रहना केवल दुर्भाग्य की बात है। इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि दृश्य का निरास करने पर जो शेष रह जाता है उसी को परमात्मा का स्वरूप जानना चाहिए।

अब इस बात का विवेचन किया जायगा कि संप्रज्ञात समाधि में त्रिपुटि का जो भान सदा बना रहता है उसका नाश कैसे किया जाय। ध्याता, ध्येय और ध्यान इस त्रिपुटि का त्याग करके जब यही एक भावना दृढ़ की जायगी कि 'मैं एक हूँ' तब ब्रह्म रूपता पूर्ण होगी। बृहदारण्यक में कहा है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' भावना का अभ्यास करने से साधक को परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है ब्रह्म एक और अखंडाकार है; उसमें त्रिपुटि की कल्पना करना बहुत बड़ा दोष है। जो लोग इस सृष्टि में नानाविध विभाग-कल्पना करते हैं वे किस दोष के भागी होते हैं सो कहा नहीं जा सकता। अखंडाकार एक ब्रह्म में ईश्वरत्व की कल्पना करके उसको ध्येय मानना और अपने तईं जीव मानकर ध्याता होना ही अखंडित को खंडित करना है। इस विभाग-कल्पना का त्याग कर देना चाहिए। यदि जीवात्मा का संशोधन किया जाय तो मालूम होगा कि वह परमात्मा ही है और उन दोनों में भिन्नता कुछ भी नहीं है। जीव और शिव की अथवा जीवात्मा और ईश्वर की अभिन्नता सिद्ध करने के लिए प्रथम दोनों के विशिष्ट गुणों का त्याग करना चाहिए। अर्थात् परिच्छिन्नता, किंचिद्ज्ञता, कर्तृता, भोक्तृता आदि जितने जीव के धर्म हैं उनको तथा सर्व-शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता आदि जितने ईश्वर के धर्म हैं उनको छोड़ देने से शुद्ध जीव और ईश्वर की एकता प्रतीत होती है। जब यही एकता की प्रतीति अभ्यास द्वारा दृढ़ और स्थायी हो जाती है तब त्रिपुटि का भेद आप-ही आप नष्ट हो जाता है और यह अनुभव सदा जाग्रत रहता है कि मैं ही स्वयं परमात्म-स्वरूप हूँ। तात्पर्य यह है कि ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटि का नाश जीवात्मा और

परमात्मा की अभिन्न भावना से करना चाहिये और यदि ध्यान करना ही है तो इस प्रकार होना चाहिएः—

सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिंतिनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते॥

—योगवासिष्ठ।

इसमें समाधि और ध्यान के लक्षण बताये गये हैं। स्वंपद का संशोधन करने पर जो निरुपाधिक और शुद्ध चिद्रूप शेष रहता है वही मैं हूँ, इस प्रकार के चिंतन को ध्यान कहते हैं। इस ध्यान का अभ्यास करते चित्त कुछ काल तक स्व-स्वरूपाकार हो जाता है, परन्तु जब वह वहाँ से निकल कर फिर प्रपंचाकार होने लगता है, तब उसका निग्रह करके स्व-स्वरूप में स्थिर करना चाहिए। जब इस ध्यानाभ्यास का पूर्ण विस्मरण हो जाता है और चित्त स्व-स्वरूप में लीन होकर वहीं दृढ़ता-पूर्वक स्थिर रहता है तब उस स्थिति को समाधि कहते हैं।

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं बिना।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद् ध्यानाभ्यासात्प्रकर्षतः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जब ध्यान का अभ्यास परिपूर्ण हो जाता है तब यह अनुसंधान आप-ही-आप छूट जाता है कि 'मैं जीव हूँ।' अहंकार का त्याग करने पर जब चित्त-वृत्ति का प्रवाह अखंड-रीति से ब्रह्माकार हो जाता है और जब उस अवस्था में स्थिरता उत्पन्न हो जाती है तब संप्रज्ञात समाधि का अनुभव प्राप्त होता है। चित्त के स्व-स्वरूपाकार हो जाने पर प्रपच या प्रकृति का भान सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसी स्थिति को उन्मना कहते हैं। जब सकल्प और विकल्प छूट जाते हैं तब सहज ही चित्त का चित्तपन नष्ट हो जाता है और संसारादि भय का लोप हो जाता है। इस पर से यह बात सिद्ध है कि यदि चित्त में चित्तपन होगा तो दृश्य का स्फुरण अवश्य होगा और शोक-मोहादि विकार भी उत्पन्न होंगे। बृहदारण्यक में कहा है—कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति-र्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव; अर्थात्

काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, धैर्य, लज्जा, भय आदि सब मन ही के विकार हैं। जब मन का अभाव हो जाता है—जब चित्त का चित्तपन नष्ट हो जाता है—तभी इन सब विकारों का नाश होता है, अन्यथा नहीं। वेदान्त-शास्त्र में उन्मनी नामक जिस अद्भुत अवस्था का वर्णन किया गया है वह यही है। योगीजन मुक्त होकर सदा इसी अवस्था में निमग्न रहते हैं। इस विषय में यह श्लोक स्मरण रखने योग्य है :—

कल्पान्तवायवो वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षितिः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् यदि कल्पान्त समय की वायु एकत्र होकर जोर से चलने लगे और त्रिभुवन को आकाश में उड़ा ले जाय तो भी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भयभीत नहीं होता। यदि सातों समुद्र एकत्र होकर सारे विश्व को डुबा दें तो भी अमनस्क योगी को उसकी कुछ परवाह नहीं होती। द्वादश सूर्य एकत्र होंकर अपने प्रचंड तेज से ब्रह्माण्ड को भस्म करने लगें तो भी आत्म-निष्ठ महात्मा का चित्त विकार-वश नहीं होता है। जिसका मन आत्म-स्वरूप में लीन हो गया है उसको प्रकृति-जन्य किसी प्रकार के विकार बाधक नहीं हो सकते। दृश्य पदार्थों की प्रतीति केवल मन ही के कारण उत्पन्न होती है, चराचर सृष्टि को सत्यता केवल मन ही से प्रतीत होती है; सारा प्रपंच मन ही का उत्पन्न किया हुआ है और उसमें उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ आदि भिन्न भिन्न कल्पाएँ भी मन ही ने निर्माण की हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य, मनःकल्पित संसार में फँस कर किसी एक पदार्थ से लज्जित होता है, किसी दूसरे पदार्थ से भयभीत होता है, किसी अन्य पदार्थ के विषय में शंकित होता है, किसी से दुखित होता है और किसी से सुखी होता है। परन्तु जब वही मन आत्म-रूप में स्थिर हो जाता है उस दशा में उसको महा-प्रलय का भी कुछ भय नहीं होता। जिस मन के कारण विविध भाँति का भेद-भाव उत्पन्न होता है वही जब आत्म-स्वरूप में लीन होकर नष्ट हो

गया तो उस अवस्था में प्रकृति की उत्पत्ति और प्रलय का स्मरण तथा चिंतन कैसे हो सकता है ? ज्यों ही मन आत्म-स्वरूप में निमग्न होता है त्यों ही सच्चिदानन्द परमात्मा का ज्ञानमय प्रकाश अन्तर्बाह्य सर्वत्र देख पड़ने लगता है। यही उन्मनी-स्थिति का लक्षण है।

आत्म-स्वरूप-ज्ञान-रवि का उदय होने पर देहात्म-बुद्धि-रूप अज्ञानांधकार कैसे नष्ट हो जाता है सो निम्न श्लोक में दृष्टांत-सहित बताया गया है :—

अहिर्निर्बलनीमहिरात्मतया जगृहे परिमोक्षणतस्तु पुरा।
परिमुंचति तामुरगः स्वबिले न निरीक्षति चात्मतया नु पुनः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जब तक साँप अपने शरीर पर की काँचली को अपना शरीर ही समझता है और उसकी रक्षा करता है तब तक उसके संग से वह सुख:दुख का भागी होता है; परन्तु जब वह उस काँचली का त्याग कर देता है तब उसके सम्बन्ध में उसका ममत्व सब नष्ट हो जाता है। इसके बाद यद्यपि अपने बिल में आने-जाने के समय यह उस काँचली को देखता है तथापि वह उसकी कुछ परवाह नहीं करता—उसके विषय में ममत्व या स्वत्व-वृत्ति का स्वीकार नहीं करता। यही हाल ज्ञानी पुरुष का होता है। उसने अपनी अज्ञान-दशा में जिस देह को स्वकीय मान लिया था उसके सम्बन्ध में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होते ही वह विरक्त हो जाता है। आत्म-स्वरूप-चिद्भानु का प्रकाश होते ही क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जन्म मृत्यु आदि देह-सम्बन्धी सब उर्मियाँ शान्त हो जाती हैं। क्षुधा और तृषा प्राण-सम्बन्धी धर्म हैं, शोक और मोह मन-संबंधी धर्म हैं, जन्म तथा मृत्यु देह-संबंधी धर्म हैं,—आत्मा का इनसे कोई संबंध नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय करके ब्रह्म-निष्ठ पुरुष इस षड्ऊर्मि-युक्त शरीर को अपना नहीं मानता, वह केवल साक्षि-रूप से आत्मानंद में निमग्न रहता है।

अब संक्षेप में इस बात का वर्णन किया जायगा कि सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन के लिए क्या करना चाहिए—सहज-स्थिति का अनुभव निरंतर

कैसे लेते रहना चाहिए। सबके पहले इस सिद्धान्त पर पूर्ण निष्ठा और और दृढ़ विश्वास चाहिए कि सारा विश्व ब्रह्म-रूप है, इस संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई पदार्थ सत्य नहीं है, जो कुछ है या नहीं वह सब ब्रह्म ही है। जैसे आकाश में वायु सर्वत्र व्याप्त होती है, जैसे कपास में वस्त्र होता है, जैसे सुवर्ण में अलंकार होते हैं, जैसे ऊख में शक्कर होती है, जैसे दूध में मक्खन होता है, जैसे तिल में तेल होता है, वैसे ही एक ब्रह्म ही है। इसलिए प्रथम सब प्रकार के भेद-भावों का निरसन करना चाहिए, अनन्तर एकात्म-भाव से स्व-स्वरूप की सिद्धि करना चाहिए, तब सर्वत्र ब्रह्म ही परिपूर्ण देख पड़ेगा।

सौम्यांभसि यथा वीचिर्न चास्ति न च नास्ति च।
तथा जगद्ब्रह्मणीदं शून्याशून्यपदं गतम्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् समुद्र का जल कभी तो शान्त और गम्भीर देख पड़ता है और कभी तरंगों के कारण वह विविध भाँति का देख पड़ता है। समुद्र में तरंग चाहे रहें या न रहें, परन्तु सब जल एक ही है। ठीक इसी तरह चाहे विश्व रहे या न रहे; परन्तु ब्रह्म सदा सर्वत्र है ही। भेद-दृष्टि से विश्व देख पड़ता है और ज्ञान-दृष्टि से केवल एक ब्रह्म ही देख पड़ता है। दर्पण में देखने से दूसरा मुख देख पड़ता है, यथार्थ में मुख तो एक ही है। दर्पण में कुछ नया मुख उत्पन्न नहीं होता; अथवा यदि दर्पण में न देखें तो मुख छिपता भी नहीं। इस पर से यह बोध होता है कि दर्पण-रूप उपाधि के कारण एक मुख के दो मुख देख पड़ते हैं। इसी तरह अज्ञान-रूप उपाधि के भेद से एक अखण्डाकार वस्तु (ब्रह्म) में द्वैत-बुद्धि उत्पन्न होती है और यह विश्व विविध प्रकार का देख पड़ता है। यदि इस उपाधि का त्याग कर दिया जाय तो भेद-बुद्धि न रहेगी और केवल एक निरुपाधिक ब्रह्म का दर्शन होगा। उपाधि के कारण यद्यपि अनेक अवयव, अनन्त रूप, विविध आकार और भिन्न भिन्न नाम व्यक्त होते हैं तथापि अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से ये सब भेद नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार विचार करने से मालूम होगा कि मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय,

देह, इन्द्रिय-व्यापार आदि सब ब्रह्म रूप ही हैं। पाताल, मृत्यु लोक, स्वर्ग, दिशा, विदिशा, नभोमंडल आदि सब जगदाभास परमात्मा-रूप ही हैं। छांदोग्योपनिषद् में कहा है—'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात् स पुरस्तास दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति'। तात्पर्य यह है कि स्त्री, पुत्र आदि सब नातेदार, देना, लेना, चलना, बोलना, निद्रा, भोजन करना आदि सब इन्द्रिय-व्यापार परमात्मा-स्वरूप ही हैं। श्रवण, श्रवणीय, श्रोता, भोग, भोग्य, भोक्ता, ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, ध्याता, ध्येय, ध्यान, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि सब प्रकार की त्रिपुटियाँ ब्रह्म-रूप ही हैं। जितने पदार्थ हम देखते और सुनते हैं, जिन-जिन पदार्थों की हम बास लेते हैं वे सब परमात्मा-रूप हैं। हाथों से देना लेना, पाँव से आना-जाना, मन से सकल्प विकल्प करना, बुद्धि से निश्चय करना आदि कोई व्यवहार ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यदि हम समुद्र में जल डालना चाहें तो वह पहले ही से जलपूर्ण है; यही दशा हमारे सब व्यवहारों की है।

किं करोयि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं सर्वं महाकल्पाम्बुना यथा॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जब शरीर, इन्द्रियों के व्यापार आदि सब पदार्थ ब्रह्म-रूप हो गये तब और क्या रह गया जो ब्रह्म से भिन्न हो? कुछ नहीं। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक कर्तव्य है या अमुक अकर्तव्य है। जिस तरह प्रलय-काल के जल से सारा विश्व भर जाता है उसी तरह यह संसार केवल एक आत्मा से व्याप्त देख पड़ता है। सर्वत्र ब्रह्म के सिवाय और किसी वस्तु का दर्शन नहीं होता। इसलिए हम वस्तुतः जैसे हैं वैसे ही रहना चाहिए, इससे सदा सहज-स्थिति का अनुभव होता रहेगा।

तीसरा भाग

पहला प्रकरण

ईश्वर-प्रणीत धर्म-ग्रन्थ

सर्वेऽत्र सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥

भरतखंड के निवासी आर्य लोगों के ईश्वर-प्रणीत धर्मग्रंथ को वेद कहते हैं। वेद अनादि, अनन्त और नित्य हैं। वैदिक-धर्म का मुख्य प्रमेय यह है कि वेद सृष्टि की उत्पत्ति के पहले निर्मित हुए। सब ज्ञान और विद्याओं का मूल वेद में है। वहीं से सब विद्याएँ, साक्षात् अथवा परम्परा से उत्पन्न हुईं और फिर उनकी वृद्धि हुई। इस दुनिया के सब ग्रन्थों में सत्य का जो अंश है उसका सम्बन्ध परम्परा-रूप से वेदों ही के साथ है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित भरद्वाज ऋषि की कथा से यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि वेद अनन्त है। उन वेदों में से जितने उपलब्ध हुए उनको एकत्र करके श्रीमद्व्यासमुनि ने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नाम के चार भागों में विभक्त किया और उनके काण्ड, शाखोपशाखा आदि अनेक वर्ग बनाये। इनमें कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीनों काण्ड वेद के अत्यन्त महत्त्व के अवयव हैं—यथार्थ में यही भारतीय आर्य-धर्म के प्राण हैं। इसी तरह सब उपनिषदों की सारभूत श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही तीन विभाग हैं, जो अनुक्रम-पूर्वक त्वम्पदार्थ, तत्पदार्थ और उनके ऐक्य के शापक हैं।

अब इस बात का विचार करना चाहिए कि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से कैसी हुई। देखिए—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे छंदांसि जज्ञिरे
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

—पुरुषसूक्त।

अर्थात् उस सर्वहुत (सर्व-पूर्ण) पुरुष से ऋग्वेद, सामवेद, छंदांसि (अथर्ववेद) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। उक्त मंत्र में यज्ञ शब्द विष्णु का वाचक है शतपथ ब्राह्मण में यह प्रमाण है कि "यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् विष्णु को यज्ञ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उस सर्व-व्यापक परमेश्वर से चराचर सृष्टि उत्पन्न हुई और मनुष्य की सहायता के लिए, जो इस सृष्टि के विषय में विचार करने को समर्थ है, वेद भी उसी परमेश्वर से उत्पन्न हुए। और देखिए—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्ऋग्वेदो
यर्जुवेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः॥

—शतपथ ब्राह्मण

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्ऋग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वांगिरसः॥

—बृहदारण्यक

शतपथ ब्राह्मण के मंत्र का अर्थ यह है—याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं "हे मैत्रेयि, उस महत् परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद श्वासोच्छ्वास के समान सहज ही प्रकट हुए।" जैसे मनुष्य का श्वास सहज ही भीतर से बाहर निकलता है और फिर भीतर चला जाता है, उसी तरह वेद, सृष्टि की उत्पत्ति के पहले, परमेश्वर से सहज उत्पन्न होते और सृष्टि के अंत में (प्रलय के समय) उसी परमेश्वर में लीन हो जाते हैं। 'वेद सृष्टि की उत्पत्ति के पहले उत्पन्न हुए' इस बात से यह भी प्रकट होता है कि मनुष्य जाति पर परमेश्वर का कितना प्रेम है। मनुष्य शब्द की व्युत्पत्ति यह है—"मननात् मनुष्यः" अर्थात् जो मनन कर सकता है उसको मनुष्य कहते हैं। यद्यपि मनुष्य विचार करने को समर्थ है—यद्यपि वह इस सृष्टि के घटना-चातुर्य का भोक्ता और तन्नियामक शक्तियों का ज्ञाता है—तथापि यदि उसको एक ऐसे निर्जन वन में रख दिया कि जहाँ मृत्यु-पर्यंत वह किसी का एक शब्द भी सुनने न पावे तो उसको कुछ भी ज्ञान प्राप्त न होगा। यदि सृष्टि के आरंभ में वेदों की उत्पत्ति हुई न होती तो अब तक सब मनुष्य पशु के समान बने

रहते। वर्तमान समय में साहित्य-रूप से या अन्य प्रकार से जो ज्ञान देख पड़ता है सब वैदिक-ज्ञान के उपदेश का साक्षात् अथवा परंपरागत फल है। इसमें संदेह नहीं कि परमेश्वर ने मनुष्य को मन और बुद्धि नामक दो सामर्थ्यवान् शक्तियाँ दी हैं, परन्तु उनमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वेद की सहायता के बिना वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चतुर्विध पुरुषार्थ का संपादन कर सकें। इस पर से वेदों के महत्व के साथ यह बात भी ध्यान में आ जाती है कि मनुष्य-जाति पर परमेश्वर का कितना प्रेम है।

मनुष्य का सब ज्ञान केवल परावलंबी है। जैसे बिना मन की सहायता के न तो आँखें कुछ देख सकती हैं और कान कुछ सुन सकते हैं, वैसे ही मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए वैदिक-ज्ञान की सहायता के बिना असमर्थ है। मनुष्य की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन की सहायता के बिना विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ कैसे हो जाती हैं सो देखिए—

अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम् अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्॥

—बृहदारण्यक।

अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय को जो विषय ग्राह्य हैं उनके उपस्थित रहने पर भी वे मुझे देख नहीं पड़े; कर्णेन्द्रिय को जो विषय ग्राह्य हैं उनके उपस्थित रहने पर भी वे मुझे सुन नहीं पड़े; क्योंकि मेरा मन अन्य कार्य में लगा हुआ था। यदि मन स्थिर न हो या किसी उपाधि के कारण यदि व्यापार-विमुख हो जाय तो सारी ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित रहने पर भी न रहने के समान ही हो जाती हैं—यह सिद्धान्त बड़े महत्व का है और यही कारण है कि आत्म-विद्या में मन को ज्ञान-साधनीभूत छठी इंद्रिय कहते हैं। सारांश यह है कि जैसे मन की सहायता के सिवाय ज्ञानेन्द्रियाँ निरुपयोगी हो जाती हैं वैसे ही परमेश्वरीय ज्ञान (वेद) के सिवाय मन और बुद्धि, चतुर्विध पुरुषार्थ के संपादन में असमर्थ हो जाती हैं।

ईश्वर सर्वज्ञ है। उसके पास अनंत विद्याएँ हैं, जो मनुष्य जाति के लिए हितदायक हैं और स्वयं परमेश्वर के लिये भी उपयुक्त हैं। परमेश्वर अत्यन्त दयाशील है। जैसे पिता सदय अंतःकरण से अपने बालकों को

उपयुक्त ज्ञान की शिक्षा देता है वैसे ही परमेश्वर ने मनुष्य-मात्र के हित के लिए वेदों का उपदेश किया है। यदि वेद न होते तो किसी मनुष्य को परमानद की प्राप्ति न होती। सारे विश्व के पदार्थों से जो आनंद या सुख प्राप्त होता है वह ब्रह्मविद्या से होनेवाले आनंद या सुख की रत्ती भर समता कर नहीं सकता। ऐसी परमानंददायक ब्रह्मविद्या परमेश्वर ने अत्यन्त दयालुता से वेद-द्वारा मनुष्य को दी है।

जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है तब इसमें संदेह नहीं कि वे नित्य हैं अर्थात् त्रिकालाबाधित हैं और उनके सिद्धान्त सर्वव्यापक हैं; क्योंकि ईश्वर का सामर्थ्य नित्य है—ज्ञानमय ईश्वरीय वेदों का कभी नाश नहीं होता। जिस पृष्ठ पर या जिन अक्षरों से वे लिखे गये होंगे उनका यद्यपि नाश हो जाय तथापि वेदान्तर्गत ज्ञान कदापि नष्ट नहीं होता। अथवा पठन-पाठन-परंपरा का लोप हो जाने से भी वह ईश्वरीय ज्ञान नष्ट नहीं होता। इसका कारण यह है कि ईश्वर के पास वेद-ज्ञान सदा विद्यमान रहता है—वह स्वयं वेद-रूप अर्थात् ज्ञान रूप है। ईश्वरीय ज्ञान नित्य और अव्यभिचारी है, इसलिए वेदों का शब्दार्थ-संबंध जैसा वर्तमान समय में देख पड़ता है वैसा ही वह पूर्व कल्पों में था और वैसा ही भविष्य में भी रहेगा। देखिए—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

—पुरुषसूक्त।

इसका अर्थ यह है—पूर्व कल्पों में परमेश्वर ने सूर्य, चंद्र आदि सब सृष्टि की जैसी रचना की थी, वैसी ही उसने इस सृष्टि की भी की है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता और उसकी कभी वृद्धि भी नहीं होती। अतएव सृष्टि-रूप उसके कार्य में निरंतर समानता बनी रहती है। वेदों की नित्यता के विषय में यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है, "शास्त्रयोनित्वात्।" इसका अर्थ यह है—ऋग्वेदादि जो चार वेद हैं, वे सब सत्य विद्या को प्रकाशित करते हैं, इसलिए सर्वज्ञ ईश्वर के सिवाय और कोई उनका कर्त्ता नहीं हो सकता। व्याकरणादि एकदेशीय शास्त्र पाणिनि जैसे मुनियों के द्वारा निर्माण हो सकते हैं;

क्योंकि कोई जीव विशिष्ट संस्कारों के योग से किसी शास्त्र में पारंगत हो सकता है; परन्तु वेद अनन्त विद्या-युक्त हैं, इसलिए उनका कर्ता एक परमेश्वर ही है। उक्त सूत्र पर शंकराचार्य ने जो भाष्य लिखा है उसका यही सारांश है। इस पर से यह बात सिद्ध होती है कि वेद सर्वज्ञ ईश्वर-प्रणीत हैं, इसलिए वे सर्वार्थ ज्ञान-युक्त और नित्य हैं। इसी विषय पर दूसरा ब्रह्मसूत्र यह है—"अतएव च नित्यत्वम्।" अर्थात् वेद ईश्वर प्रणीत होने के कारण स्वयं-प्रमाण, सर्वविद्या-युक्त और सदैव नित्य हैं। जब किसी युग के अन्त में या प्रलय के समय वेदों का लोप हो जाता है। तब उनका पुनरुज्जीवन कैसे होता है सो देखिए—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसापूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥

—वेदव्यास

अर्थात् जब युग के अन्त में नानार्थवाद-युक्त मंत्र, ब्राह्मण आदि का लोप हो जाता है तब ब्रह्मदेव की आज्ञा से मंत्र-द्रष्टा ऋषियों को तप के द्वारा फिर वेदों की प्राप्ति होती है। 'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति ही यह है कि ''ऋषति वेदं पश्यति।' अर्थात् जो वेदों का अर्थ जानते हैं, जिन्होंने वेदों के अर्थ का साक्षात्कार किया है, वही ऋषि हैं। जब ये ऋषिगण समाधि-द्वारा ईश्वर का ध्यान करते हैं तब उनको मन्त्रानुग्रह प्राप्त होता है।

उक्त विवेचन से यह बात सिद्ध हो चुकी कि वेद अनादि, अनन्त और नित्य हैं। वेदों में जो अनेक विद्याएँ मूल-रूप से उपस्थित हैं उनमें आत्मविद्या सब से श्रेष्ठ और मुख्य है। इसके विषय में यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए, आत्मा केवल वेदैकमेय है। अर्थात् आत्मा केवल वेद-प्रमाण ही से जाना जा सकता है—वह किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध किया नहीं जा सकता। आत्मा अतीन्द्रिय वस्तु है, इसलिए उसकी प्रमिति के लिए प्रत्यक्ष-प्रमाण असम्भव है। इसी तरह तर्कशास्त्र में जिसको लिंग (हेतु) कहते हैं उसका भी आत्मा में अभाव है, इसलिए उसको जानने के लिए अनुमान-प्रमाण भी निरुपयोगी है। लिंग उस

हेतु को कहते हैं जो किसी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए उपयुक्त होता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्'—पर्वत पर अग्नि है—यह प्रतिज्ञा है; इसकी सिद्धि के लिए 'धूमवत्त्वात्'—क्योंकि वहाँ धुँआ देख पड़ता है—यह हेतु या लिंग है। आत्मा की सिद्धि के लिए इस प्रकार का कोई हेतु या लिंग नहीं मिलता, इसलिए अनुमान-प्रमाण अनावश्यक है। आत्मा के सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं है, इसलिए उपमान प्रमाण भी असम्भव है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष-प्रमाण से होती है, न अनुमान प्रमाण से होती है, न उपमान प्रमाण से होती है; अतएव आत्मा की सिद्धि केवल शब्द-प्रमाण से की जाती है। न्याय-संग्रह में लिखा है कि—

रूपलिंगादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता।
तत्त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता॥

—वैयासिक न्यायमाला।

अर्थात् आत्मा में रूप रसादि नहीं हैं, इसलिए प्रत्यक्ष-प्रमाण असम्भव है, लिंग या हेतु नहीं है, इसलिए अनुमिति की आवश्यकता नहीं है और सादृश्य नहीं है, इसलिए उपमा का उपयोग नहीं है। अतएव आत्मा केवल वेदैकमेय है अर्थात् वह सिर्फ वेदों से (शब्द-प्रमाण-द्वारा) जाना जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं" और बृहदारण्यक में यही बात इस प्रकार लिखी है "तत्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।" अर्थात्, जो वेद नहीं जानता उसको उस बृहत् (आत्मा) का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, परब्रह्म का ज्ञान केवल उपनिषदों से प्राप्त होता है।

अब यह सोचना चाहिए कि वेद किसको कहते हैं, वेद का कोई लक्षण है या नहीं और वेदों में किन किन बातों का समावेश किया जाता है। इस विषय में भट्ट यशेश्वर-विरचित आर्यविद्या सुधाकर नामक ग्रन्थ में यह लिखा है कि—

"वेदो नाम विद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षा अनेनेति व्युत्पत्त्या चतुर्वर्गज्ञानसाधनभूतो ग्रन्थविशेषः। स च किं लक्षण इति चेत् 'मन्त्र-

ब्राह्मणयोर्वेदनामधेय'—मिति आगमोक्तं तल्लक्षणं वेदितव्यम्। यो हि अव्यभिचरितस्वरवर्णादिपठनपाठनक्रमागतः सन् सर्वकालं सर्वदेशेषु प्रतिशाखमविभागेन वर्तमानः स एको मंत्रराशिः। अपस्तु विधिनिंदा-प्रशंसासंप्रश्नाख्यानभूतः वाक्यनिचयो ब्राह्मणराशिः। अनयोरेकसंग्रहो वेद इत्यभिधीयते। वेदनिबन्धेषु मन्त्रब्राह्मणभागौ परस्परमसंमिश्रावेव प्रायः पठ्येते। क्वचित्तु ब्राह्मणसंमिश्रितोऽपि मंत्रभागः पठितोऽस्ति। एवमुभयात्मको वेदराशिरेकमूल एककर्मफलो महावृक्षो वरीवर्ति।" इसका अर्थ यह है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का सम्यग्ज्ञान होने के लिए साधनी भूत ग्रन्थ विशेष को वेद कहते हैं। आगमोक्त वेद का लक्षण यह है कि मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहना चाहिए। इनमें से 'मन्त्र' उस शब्द-समूह का नाम है जिसमें स्वर और वर्ण हैं और जो अखिल भरतखण्ड में सदा से पठन-पाठन क्रम-द्वारा सब शाखाओं में अव्याहत प्रचलित है; और 'ब्राह्मण' उस शब्द-राशि का नाम है जिसमें विधि, निन्दा, प्रशंसा, प्रश्न, कथा इत्यादि रूप से यह बताया गया है कि उक्त मन्त्रों का विनियोग कैसे करना चाहिए अर्थात् जो प्रायः उपव्याख्यानात्मक है। इन दोनों के अर्थात् मन्त्र-राशि और ब्राह्मण-राशि के संग्रह को वेद कहते हैं। वेद-निबन्ध में मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग पृथक् पृथक् कहने की बहुधा परिपाटी है, कहीं-कहीं दोनों भाग मिश्रित करके भी पढ़े जाते हैं। इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मण-संयुक्त यह वेद-राशि मानो एक महान् वृक्ष है, जिसकी जड़ एक ही है और जिससे एक ही कर्मफल प्राप्त होता है।

निरुक्तकारने वेद शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

विदन्ति जानन्ति। विद्यन्ते भवन्ति। विदन्ति लभन्ते। विदन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

इसका अर्थ यह है—जिनकी सहायता से सब मनुष्य सब सत्य-विद्या प्राप्त करते हैं, जिनमें लोग विद्वान् हो सकते हैं और जिनके कारण सब मनुष्य सत्य-विद्या के विषय में विचार करने के लिए समर्थ हो सकते

हैं, उन्हें वेद कहते हैं।

श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी ने अपने वेद-भाष्यों तथा अन्य ग्रन्थों में उक्त विषय की चर्चा अनेक स्थानों में और अनेक प्रकार से की है। सकल विद्या-युक्त अति गंभीर वेदों का यथार्थ भाव जानने के लिए छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, व्याकरण, शिक्षा आदि छ वेदांगों तथा अठारह पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि चार उपांगों की अत्यन्त आवश्यकता है। छः वेदांग और चार उपांग वेदार्थोपकारी अर्थात् वेदार्थ-सहायक ग्रन्थ हैं। वेदांगों के उपकारत्व का वर्णन रूपकालङ्कार-द्वारा इस प्रकार किया गया है—

छंदः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पस्तु पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

—शिक्षा।

याज्ञवल्क्य स्मृति में चौदह प्रकार के विद्या-स्थान बताये गये हैं, जैसे—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

यदि उक्त वेदांगा और उपांगों का अध्ययन किये बिना कोई अल्पज्ञ मनुष्य वेदों का अर्थ जानने या कहने का यत्न करेगा तो वह सफल न होगा। इतना ही नहीं, किन्तु जब कोई अल्पज्ञ मनुष्य इस प्रकार यत्न करने लगता है तब वेद भयभीत हो जाते हैं कि वह हमें मार डालेगा। कहा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति॥

—स्मृति।

तात्पर्य यह है कि वेदों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षादि षडाङ्गों का बहुत उपयोग होता है। इसीलिए उन्हें मुंडकोपनिषद् में

'अपरा विद्या' कहा है, जैसे—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

अर्थात् विद्या दो प्रकार की हैं—एक को 'परा विद्या' और दूसरी को 'अपरा विद्या' कहते हैं। ऋग्वेदादि चार वेद और शिक्षादि छः अंगों को अपरा विद्या कहते हैं; क्योंकि सर्व-साधन-भूत धर्म का ज्ञान उन्हीं के द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञानकांडांतर्गत विद्या को 'परा विद्या' कहते हैं, क्योंकि परम पुरुषार्थ-रूप परब्रह्म का ज्ञान उपनिषदों के द्वारा प्राप्त होता है।

भारतनिवासी आर्यों का यह महद्भाग्य है कि श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी ने उक्त वेदांगों और उपांगों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके वेदार्थ-निर्णायक भाष्यों की रचना की है। यदि श्रीमत् शंकराचार्य और विद्यारण्य स्वामी जैसे प्रतिभाशाली महात्माओं ने श्रुतियों के अर्थ और तदन्तर्गत सिद्धान्तों का समन्वय न किया होता तो जन-समुदाय को श्रुतियों का रहस्य कदापि विदित न होता। श्रीमत् शंकराचार्य ने केवल प्रस्थानत्रयी पर भाष्यों की रचना की है और विद्यारण्य स्वामी ने उनके रहस्यों का यथार्थ ज्ञान सम्पादन करके सभी वेदों पर भाष्य रचे और प्रसंगानुसार अनेक गहन विषयों पर स्वतन्त्र तथा सुबोध प्रबन्ध भी लिखे हैं। स्वामी जी ने अपने भाष्यों में केवल टीका ही नहीं लिखी, किन्तु अनेक वैदिक सिद्धान्तों की इस प्रकार चर्चा की है कि साधारण लोगों की बुद्धि में भी सत्य ज्ञान प्रकाशित हो सकता है। ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय आरण्यक आदि के भाष्यों के आरम्भ में अपने विस्तृत तथा प्रगल्भ निबन्ध लिखे हैं। उत्तरकांड के भाष्य में आपने इस बात का भली भाँति निर्णय कर दिया है कि जैमिनीय और वैयासिक अधिकरणमाला में प्रतिपादित सिद्धान्तों का ब्रह्मसूत्र, धर्मसूत्र और उपनिषद्वाक्यों से पूरा पूरा मेल है। इस प्रकार स्वामी जी की अधिकार-सम्पन्न प्रतिभा से वेदार्थ का निर्णय करनेवाले जो ग्रन्थ निर्माण हुए हैं, उनके

आधार पर संक्षेप में इस बात का विवेचन किया जायगा कि वेद किसे कहते हैं, वेद के कोई लक्षण हैं या नहीं और वेदों में किन किन विषयों का समावेश किया जाता है।

लक्षण के दो भेद हैं। एक को यौगिक (Connotative) और दूसरे को स्वरूप (Denotative) कहते हैं। वेद का यौगिक लक्षण स्वामीजी ने इस प्रकार कहा है:—

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकं उपायं यो ग्रंथो वेदयति स वेदः।

—वेदार्थप्रकाश।

अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट वस्तु का त्याग करने का अलौकिक उपाय सिखाता है उसको वेद कहते हैं। यहाँ 'अलौकिक' पद से प्रत्यक्ष और अनुमिति प्रमाणों की व्यावृत्ति की गई है। जैसे—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

—वेदार्थप्रकाश।

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भी मालूम नहीं होता, वह वेदों से जाना जाता है, इसलिए वेद का वेदत्व सिद्ध होता है। अब वेद का स्वरूप—लक्षण—देखिए—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

—कात्यायन।

अर्थात् 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' को वेद कहते हैं। मन्त्र और ब्राह्मण वेद के दो भाग हैं। उनके लक्षणों के विषय में भगवान् जैमिनी कहते हैं—

तच्चोदकेषु मंत्राख्या। शेषे ब्राह्मणशब्दः।

—पूर्वमीमांसादर्शन।

अर्थात् वेदों के जिन अभिधायक वाक्यों का समाख्यान सांप्रदायिकों ने मन्त्र-शब्द से किया है उन्हें 'मंत्र' कहते हैं। इनके अतिरिक्त वेद का जो शेष भाग है उसको 'ब्राह्मण' कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप में वेद

के 'यौगिक' और 'स्वरूप' लक्षणों का वर्णन किया गया। अब इस शंका का निराकरण किया जायगा—

ऋक्सामयजुषां लक्षम सांकर्यादिति शंकिते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसंकरः॥

—जैमिनीय न्यायमाला।

अर्थात् ऋक्, यजुः और सामवेदों के वाक्यों या मंत्रों का मिश्रण या संकर देख पड़ता है—ऋग्वेद के मंत्र यजुर्वेद और सामवेद में पाये जाते हैं और सामदेव के मंत्र यजुर्वेद में पाये जाते हैं, इसलिए इन तीनों वेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण हो ही नहीं सकते। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।
गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः॥

—पूर्वमीमांसादर्शन।

अर्थात् पाद, गीति और प्रश्लिष्ट पाठ के भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा तीनों वेदों के भिन्न-भिन्न लक्षण स्वयं-सिद्ध हैं। जो मन्त्र, पाद और अर्धर्च वृत्तों में रचे गये हैं उनका समावेश ऋग्वेद में किया जाता है, जो मंत्र गायनोचित हैं वे सामवेदांतर्गत समझे जाते हैं; और जो केवल गद्य रूप मन्त्र वृत्तबद्ध नहीं हैं और न गायनोचित हैं उन्हें यजुर्वेद के जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि तीनों वेदों के लक्षण पृथक-पृथक् हैं।

वेदों का स्वाभाविक क्रम यह है—सबसे पहले ऋग्वेद, उसके बाद यजुर्वेद और सामवेद, और अन्त में अथर्ववेद। परन्तु विद्यारण्य स्वामी ने पहले यजुर्वेद ही पर भाष्य निर्माण किया और अन्त में ऋग्वेद पर भाष्य की रचना की। इसका कारण क्या है? इस विषय की जो चर्चा स्वामीजी ने ऋग्वेद-भाष्य के आरम्भ में की है वह बहुत शिक्षादायक और मनोरंजक है, इसलिए संक्षेप में उसका वर्णन यहाँ किया जाता है।

शंका:—सब वेदों में प्रथम ऋग्वेद ही का उल्लेख किया जाता है और यह सर्वमान्य रूढ़ि भी है कि जो बात सबसे अधिक महत्त्व की हो

उसी का प्रथम उल्लेख करना चाहिए। देखिए,

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—पुरुषसूक्त।

इस मन्त्र में ऋग्वेद ही को अग्रस्थान दिया गया है। इसके सिवाय यज्ञांग दृढ़ करने के लिए ऋग्वेद ही का उपयोग किया जाता है। तैत्तरीय ग्रन्थ में लिखा है—

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलम्।
तद्यदृचा तद्दृढम्।

—यजुर्वेद।

इसका अर्थ यह है कि सामवेद आथवा यजुर्वेद के आधार पर किये हुए कर्मों में जो कुछ शिथिलता या न्यूनता रह जाती है उसकी पूर्ति ऋग्वेद से हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि किसी निरूपित विषय पर विश्वास की दृढ़ता कराने के लिए सब वेदान्तर्गत 'ब्राह्मणों' में ऋग्वेद ही के वचन उद्धृत किये गये हैं। सामवेद में तो प्रायः सब वचन ऋग्वेद ही से लिए गये हैं और अथर्व संहिता में भी बहुतेरे वचन ऋग्वेद ही के पाये जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भगवान् नारद सनत्कुमार ऋषि से कहते हैं—"ऋग्वेदं भगवोऽध्योमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं च।" अर्थात् हे भगवान्, मैं प्रथम ऋग्वेद का अध्ययन करता हूँ, इसके बाद यजुः, साम और अथर्ववेदों का अध्ययन करता हूँ। मुंडकोपनिषद् में यह प्रणाम मिलता है—"ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः।" अस्तु। यदि ऋग्वेद के प्रथम स्थान में होने के संबंध में इस प्रकार अनेक प्रमाण पाये जाते हैं तो उसी पर पहले भाष्य की रचना होनी चाहिए। इस तरह पूर्व पक्ष का निरूपण करके स्वामी जी ने उसका समाधान किया है।

समाधानः—यद्यपि सब वेदों के अध्ययन और परायण करने में तथा ब्रह्मयज्ञ, जप आदि बातों में ऋग्वेद ही को प्रथम स्थान दिया जाता है, तथापि सबसे पहले यजुर्वेद ही पर भाष्य लिखा जाना चाहिए। इसका

कारण यह है कि जिस यज्ञानुष्ठान के लिए वेदार्थ-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है वह यज्ञानुष्ठान बिना यजुर्वेद के हो नहीं सकता। यजुर्वेद की इस प्रधानता के विषय में ऋग्वेद ही का वचन प्रमाण है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ॥
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां।
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

इस ऋचा का अर्थ निरुक्तकार यास्क मुनि ने इस प्रकार किया है:—"इस ऋचा में ऋत्विजों के कर्मों का विनियोग बताया है। होता ऋग्वेद की ऋचाएँ कहकर सब विधियों का नियमन करता है। उद्गाता शक्वरी नामक ऋचाओं का गायन करता है। तीनों वेदों के कर्मों को जाननेवाला ब्रह्मा प्रणयनादि सब कर्मों के अनुष्ठान की अनुज्ञा देता है। यज्ञ का मुख्य नायक, जिसको अध्वर्यु कहते हैं, सब यज्ञांगों की सिद्धि करता है।" इस पर से यह प्रगट होता है कि यज्ञ की सिद्धि के लिए यजुर्वेद की अत्यन्त आवश्यकता है और इसी लिए यजुर्वेद को अध्वर्युवेद कहते हैं। यज्ञ के नेता को अध्वर्यु कहते हैं। यजुः (यज्ञ) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में यास्क मुनि ने कहा है—

मंत्रा मननात् छंदांसि छादनात्। स्तोमः स्तवनात्। यजुर्यजतेः।
—निरुक्त।

अर्थात् यज धातु (यज्ञ करना) से यजुः शब्द बना है। यजुर्वेद से यज्ञ-शरीर की उत्पत्ति होती है और स्रोत तथा शास्त्र-रूप उसके अवयव सामवेद तथा ऋग्वेद से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जो यजुर्वेद उपजीव्य है उसी पर प्रथम व्याख्यान किया गया। सामवेद के वचन ऋग्वेद में पाये जाते हैं, इसलिए ऋग्वेद के बाद सामवेद पर भाष्य रचा गया।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि यज्ञ करने के लिए वेदार्थ-ज्ञान की आवश्यकता है। अब यह सोचना चाहिए कि उपयुक्तता (utility) की दृष्टि से यज्ञ की क्या आवश्यकता है। वेद का कर्मकांड क्रिया-प्रधान है। बिना कर्म के विद्याभ्यास और ज्ञान-प्राप्ति हो नहीं

सकती। मन और बुद्धि बाह्याभ्यन्तर व्यवहारों में सदा निमग्न रहती है। अतएव कर्मकांड विशेष महत्व का है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) निष्काम-कर्म, (२) सकाम-कर्म। निष्काम-कर्म का फल ईश्वर-प्राप्ति है। इस प्रकार के कर्मानुष्ठान में स्वभावतः अपूर्व आनन्द है, इसलिए यही कर्म सब से अधिक श्रेष्ठ है। जो काम लौकिक व्यवहार के हेतु अर्थ या कामना की सिद्धि के लिए धर्मानुसार किया जाता है उसको सकाम-कर्म कहते हैं। इस प्रकार के कर्म का फल भोगने के लिए मनुष्य को जन्म और मृत्यु के चक्कर में बार-बार जाना पड़ता है, इसलिए वह निष्काम-कर्म से निकृष्ट है। सकाम-कर्म में अग्निहोत्रादि सब यज्ञों का सुगंधित, मिष्ट पुष्टिकारक और रोग-नाशक तथा भिन्न-भिन्न संस्कारों से शुद्ध और सुसंस्कृत किये हुए पदार्थों का हवन किया जाता है, जिससे वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि होती है और सब संसार को सुख प्राप्त होता है।

इस सृष्टि में ईश्वर-कृत यज्ञ सदा से हो ही रहा है। उसी के साथ मनुष्यकृत यज्ञ भी होते रहना चाहिए। जब इस रीति से दोनों प्रकार के यज्ञ सदा से होते रहेंगे तभी सब लोगों को उत्तम परिस्थिति प्राप्त होगी। ईश्वर ने तेजोमय सूर्य को उत्पन्न किया है, जिसके द्वारा पुष्प, वनस्पति आदि में से सुगन्ध, रोग-नाशक रस और वायु का आकर्षण किया जाता है। इस महायज्ञ से सुगन्धित रस और वायु की शुद्धि होती है। जिस स्थान में मनुष्यों की बस्ती नहीं है या बहुत थोड़ी है वहाँ के जल-वायु की शुद्धि ईश्वर-कृत यज्ञ से आप-ही-आप हो जाती है; परन्तु जहाँ मनुष्यों की बस्ती अधिक है वहाँ उस प्राकृतिक यज्ञ से विशेष लाभ नहीं होता है। अतएव उन स्थानों में मनुष्य-कृत यज्ञों की बहुत आवश्यकता है। यज्ञ में पशु-हिंसा कदापि करनी न चाहिए।

अग्नि में जो द्रव्य (पदार्थ) हवन किये जाते हैं उनका पृथक्करण होकर सब परमाणु-रूप से वायु में मिल जाते हैं। इसलिए जब यज्ञ में दुर्गंधादि दोष-निवारक द्रव्यों का होम किया जाता है तब वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि होती है। जिस समय किसी एक स्थान में हवन होता

है उस समय उस स्थान की वह अशुद्ध वायु अग्नि के योग से हलकी होकर ऊपर की ओर आकाश में चली जाती है और चहुँ ओर की स्वच्छ वायु वहाँ आ जाती है। इससे वह स्थान आरोग्यदायक वायु से भर जाता है। हवन किये हुए सुगंधादि द्रव्यों के संयोग से जो वायु शुद्ध हो जाती है वह आकाश में जाकर मेघादि द्रव्यों को शुद्ध करती है, जिससे जल-वृष्टि की कभी न्यूनता नहीं होती है। इस प्रकार शुद्ध और यथेच्छ जल-वृष्टि से वनस्पतियों की वृद्धि होती है, जिसके कारण सब प्राणियों को सुख प्राप्त होता है। सारांश यह है कि यज्ञ के द्वारा मनुष्यों और अन्य सब प्राणियों को शुद्ध वायु, स्वच्छ जल और पुष्टिकारक अन्न की प्राप्ति होती है। प्राणियों के जीवन के लिए वायु, जल और अन्न ही मुख्य पदार्थ हैं। अतएव यज्ञ की उपयोगिता के विषय में इससे अधिक और क्या कहा जाय कि वह सब प्राणियों के जीवन का आधार है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है—'अन्नद्रेतः। रेतसः पुरुष। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।' अर्थात् अन्न से रेत (वीर्य) और रेत से पुरुष उत्पन्न होता है। इसलिए यह पुरुष अन्न-रसमय है। तात्पर्य यह है कि अन्न, जल और वायु की शुद्धि के लिए यज्ञ की बहुत आवश्यकता है और इसी बात से यजुर्वेद की प्रधानता सिद्ध होती है।

ब्रह्मयज्ञ प्रकरण में लिखा है कि वेद का नित्य पठन करना चाहिए। वहाँ पर यह शंका उठती है कि क्या वेद का सिर्फ पठन ही करना चाहिए या उसके ज्ञान प्राप्ति की भी आवश्यकता है। इस विषय में निम्न वचन ध्यान में रखने योग्य है:—

तावेतौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद।
नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया॥
करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

—छांदोग्य।

इसका अर्थ यह है:—कर्म करने के दो प्रकार हैं। कोई मनुष्य कर्म-प्रतिपादक वचनों का अर्थ जान कर कर्म करता है; कोई मनुष्य उन वचनों का अर्थ न जान कर कर्माचरण करता है। ऐसी अवस्था में

कभी कभी उन दोनों मनुष्यों को (अर्थ जाननेवाले और अर्थ न जाननेवाले को) एक ही समान फल प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, 'हर्र खाने से रेचन होता है, यह बात जान कर या न जान कर भी यदि कोई हर्र खावे तो परिणाम समान ही होगा। यद्यपि उक्त कथन सत्य है तथापि उससे कर्म का सामर्थ्य निश्चित-रूप से सिद्ध नहीं होता; क्योंकि 'जानने' और 'न जानने' के अनेक प्रकार होते हैं। यह बात व्यवहार में देखी जाती है कि यदि जवाहर किसी अज्ञानी मनुष्य के हाथ लग जाय तो उसका कुछ उपयोग नहीं होता; और यदि वही जवाहर किसी अच्छे जौहरी को मिल जाय तो उसकी कीमत और कदर होती है। इस पर से यह बात सिद्ध होती है कि अर्थज्ञ, श्रद्धावान् और योग-युक्त पुरुष का किया हुआ कर्म अधिक फलदायक होता है।

शब्दार्थ-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक और महत्त्व का है। इसीलिए वेदार्थ-ज्ञान से सब संसार का लाभ हुआ है। परन्तु प्रथम यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उपनयन संस्कार हो जाने पर एक वेद का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।' अर्थात् एक से अधिक वेद का अथवा एक ही वेद का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। वेदाध्ययन को नित्य-कर्म के समान आवश्यक कर्तव्य समझना चाहिए—उससे किसी प्रकार के फल की अकांक्षा न करना चाहिए। पुरुषार्थानुशासन में लिखा है—"वेदास्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्।" अर्थात् वेद का अध्ययन नित्य करना चाहिए; यदि नित्य अध्ययन न किया जाय तो ब्राह्मणत्व की हानि होती है। देखिए—

यस्ति त्याज सचिविदं सखायं।
न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति॥
यदीं शृणोति अलकं शृणोति।
न हि प्रवेद सुकृतस्य पंथाम्।

—ऋग्वेद।

इसका अर्थ यह है :—जो अपने उपकारकर्ता मित्र का त्याग करता

है उसको वाणी से कुछ भी लाभ नहीं होता। यदि वह कुछ भी सुने तो भी उसको यथार्थ बात सुन नहीं पड़ती। उसको पुण्य का मार्ग ही देख नहीं पड़ता। अतएव जिन वेदों के अध्ययन से सब देवताओं का, सब धर्मों का और साक्षात् परब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है उनका त्याग करके यदि आयु परनिन्दा, असत्य भाषण और कलह करने में व्यतीत की जाय तो वाणी कदापि प्रसन्न नहीं होती। इस विषय में श्रुति कहती है 'नानुध्यायान् बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्।' अर्थात् जो मनुष्य अनेक शब्द-युक्त ग्रन्थों को पढ़ता या सुनता है उसका यह परिश्रम निष्फल होता है; क्योंकि उससे पुण्य-प्राप्ति का मार्ग तो मिलता ही नहीं, किन्तु वाणी को व्यर्थ परिश्रम होता है।

जो लोग वेदों का अर्थ जाने बिना सिर्फ शब्दों ही को रट लेते हैं उनकी बहुत निन्दा की गई है। लोगों की प्रवृत्ति वेदार्थ-ज्ञान ही की ओर झुकाने के विषय में यास्क मुनि के प्रमाण-वचन देखिए।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थम्॥
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

—निरुक्त।

अर्थात् जो मनुष्य वेदों को रट कर कंठाग्र कर लेता है; परन्तु उनके अर्थ की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता—जो मनुष्य वेदों का अर्थ जाने बिना सिर्फ शब्दों ही को घोखा करता है—उसको काठ के खम्भे के समान जानो। वह केवल भार-वाहक है। उसको वेद-विद्या के रसास्वाद की कुछ भी रुचि नहीं होती। परन्तु जो वेदों का अर्थ जानता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे अनुपम सुख प्राप्त होता है। वह आनन्दमय मोक्ष-स्थान का लाभ करता है। अतएव वेदों का अर्थ अवश्य जान लेना चाहिए। और देखिए—

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

—निरुक्त।

अर्थात् यदि वेदों का केवल पठन किया जाय और उनके अर्थ की

ओर कुछ ध्यान न दिया जाय तो वेदों का प्रकाश कभी प्रकट न होगा। जैसे सूखी लकड़ी राख में पड़े रहने से कदापि जल नहीं सकती, वैसे ही अर्थ जाने बिना वेदों के पढ़ने से कोई लाभ नहीं होता। वेदों का वेदत्व केवल अर्थज्ञान ही पर अवलंबित है। देखिए—

अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्यनेन इति वेदशब्दनिर्वचनम्।

—वेदार्थप्रकाश।

अर्थात् धर्म, अर्थ काम और मोक्ष ये चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं। इनकी प्राप्ति के लिए जो अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। अतएव जब तक वेदों का अर्थ जाना न जायगा तब तक उनका वेदत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अब यह देखिए कि वेदार्थ-ज्ञान की प्राप्ति के विषय में स्वयं वेदों का मत क्या है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

—ऋग्वेद।

इसका अर्थ यह है:—कोई मनुष्य वेदों का सिर्फ पठन करता है; परन्तु उनका अर्थ नहीं जानता। वह मनुष्य यद्यपि वेदवाणी को देखता है तथापि वह उसको देख नहीं पड़ती; वह मनुष्य यद्यपि वेदवाणी को सुनता है तथापि वह उसको सुन नहीं पड़ती। जैसे पति के संबन्ध में उत्सुक होनेवाली स्त्री ऋतुकाल में उत्तम वस्त्र पहन कर पति की इच्छा पूर्ण करती है, वैसे ही जो मनुष्य व्याकरणादि अंगों और पूर्व मीमांसादि उपांगों का अध्ययन करके वेदों का तात्पर्यार्थ जानने का यत्न करता है उसको वेदों का रहस्य-ज्ञान पूर्ण-रीति से प्राप्त हो जाता है। और देखिए—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति मायया एष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।

—ऋग्वेद।

इसका अर्थ यह है:—जो मनुष्य चौदह विद्या-स्थानों में निपुण होता है वह वेद-रूप वाणी के साथ मित्रता करता है, इसलिए उसको

स्थिरपति—वेदार्थ-ज्ञान-रूप अमृत-पान करने में स्थिरता से निमग्न रहनेवाला—कहते हैं। ऐसे मनुष्य को बड़े-बड़े विद्वान् लोग भी सभा में पराजित नहीं कर सकते। परन्तु जो मनुष्य अर्थ जाने बिना ही वेदों का पठन करता है वह फल-पुष्प-रहित वाणी का श्रवण करता है और इस संसार में कपट-रूप तथा दूध न देनेवाली गाय के साथ भ्रमण करता है।

उक्त विवेचन से केवल यही बात सिद्ध नहीं होती कि वेदार्थ-ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है; किन्तु यह बात भी सिद्ध की गई है कि वेदों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेद-विद्या का सांगोपांग अध्ययन करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार का अधिकार प्राप्त किये बिना केवल हठ या आग्रह से वेदार्थ प्रकट करने का यत्न करता है वह समाज में अनर्थ उत्पन्न करने का दोषी समझा जाता है। सनातन वैदिक-धर्म के सम्बन्ध में इस समय जो अनेक अनर्थकारक परिणाम देख पड़ते हैं उनका कारण यही है कि कुछ अनधिकारी देशी और विदेशी पंडितों ने वेदों का मनमाना अर्थ प्रकाशित किया है। वेदों का अर्थ करते समय समन्वय की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस नियम का यथोचित पालन न करके वेद-वाक्यों का मनमाना अर्थ ग्रहण करने के कारण बहुतेरे लोगों की धर्म-श्रद्धा नष्ट हो गई है और अनेक नये पंथ निर्माण हो गये हैं। जो कर्म-मार्ग नीति और धर्म का मुख्य आधार है उसके विषय में अश्रद्धा उत्पन्न हो जाने के कारण इस देश के युवक धर्महीन और धर्मभ्रष्ट हो रहे हैं। यदि उचित समय पर उक्त दुष्परिणामों को रोकने का कोई प्रबन्ध न किया जायगा तो भविष्य में इस देश की धार्मिक अवनति अत्यन्त भयानक हो जायगी।

अब इस बात का विचार किया जायगा कि वेद-विद्या ग्रहण करने का अधिकार या योग्यता किसको है। यास्काचार्य ने इस विषय का निरूपण जिन मंत्रों में किया है वे इस प्रकार हैं—

पहला मंत्र

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थात् विद्यादेवी उपदेशक आचार्य के समीप जाकर कहती है— यदि तुम अनधिकारी और अयोग्य पुरुषों को मेरा उपदेश न करोगे तो मेरी रक्षा होगी और फिर मैं चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति करा दूँगी। जो विद्यार्थी अपने गुरु पर और मुझ पर व्यर्थ दोषारोपण करता है और जिसके हृदय में सरलता नहीं है उसको मेरी शिक्षा मत दो। जो विद्यार्थी स्नान-संध्यादि आचार-धर्म का पालन नहीं करता उसको मेरा उपदेश मत करो। हे आचार्य, यदि तुम इस प्रकार बर्ताव करोगे तो मैं तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके इच्छित फल दूँगी।

दूसरा मंत्र

न आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्च नाह॥

जो गुरु सत्य-रूप वेद-वाणी से शिष्य के कान भर देता है, जो गुरु शिष्य की बुद्धि की ग्रहण-शक्ति के अनुसार और उसको कष्ट न देते हुए वेद की शिक्षा देता है और जो गुरु शिष्य को वेदार्थ भी समझा देता है तथा अमृतत्व की दीक्षा देता है उसको माता-पिता ही जानना चाहिए। ऐसे गुरु का कभी द्रोह करना न चाहिए।

तीसरा मंत्र

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्योजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

जो अधम शिष्य अध्ययन पूरा हो जाने पर अपनी वाचा, मन और आचरण से गुरु का आदर नहीं करते उन पर गुरु की कृपा नहीं होती और गुरूपदिष्ट वेद-वाक्य भी उनको फलदायक नहीं होते।

चौथा मंत्र

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नं।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

हे आचार्य, ऐसे शिष्य को विद्या-दान करना चाहिए जो सदा पवित्र, सावधान, बुद्धिमान् और ब्रह्मचारी हो तथा जो कभी गुरु की निन्दा न करता हो; क्योंकि वही शिष्य अपनी विद्या की रक्षा निधि के

समान करता है।

उक्त मन्त्रों से यही तात्पर्यार्थ प्रकट होता है कि वेद-विद्या की शिक्षा केवल अधिकारी या योग्य पुरुषों ही को दी जानी चाहिए।

अब संक्षेप में यह जानना आवश्यक है कि शिक्षादि वेदांगों और मीमांसादि उपांगों के अध्ययन से वेदार्थ-ज्ञान की प्राप्ति के लिए किस प्रकार सहायता होती है। शिक्षा नामक वेदांग से वर्ण, स्वर, मात्रा आदि का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यदि यह ज्ञान प्राप्त न किया जाय तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। जैसे—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

जिस मन्त्र में वर्ण की भूल हो या उदात्तादि स्वरों को योजना में भूल हो वह अनर्थकारक हो जाता है। ऐसे मन्त्र को वाणी-रूप वज्र ही समझना चाहिए, क्योंकि यह यजमान का नाश करता है। उदाहरणार्थ 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र में इन्द्र-शत्रु सामासिक पद है; यदि उसका इष्ट अर्थ 'इन्द्र का शत्रु अर्थात् इन्द्र को मारनेवाला' हो तो वह पद तत्पुरुषसमास होगा और उसके अन्त्य पद में उदात्त स्वर होना चाहिए। परन्तु यदि पूर्व-पद में उदात्त स्वर होगा तो वह बहुव्रीह-समास हो जायगा जिसका अर्थ 'इन्द्र जिसका शत्रु है वह अर्थात् इन्द्र जिसको मारेगा वह' होगा। इस प्रकार केवल स्वर-भेद के कारण इष्ट अर्थ की प्राप्ति के बदले अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। अतएव मन्त्रों के अर्थ के अनुकूल स्वरों का यथोचित उच्चारण करने के लिए शिक्षा पनामक वेदांग की बहुत आवश्यकता है। व्याकरण नामक वेदांग वेद-ठन की शुद्धता और शंका-रहित अर्थ-ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। यदि मनुष्य को शब्द-भेद, लिंग, वचन, विभक्ति, काल, प्रत्यय आदि का ज्ञान न होगा तो वह वेदों का यथार्थ भाव कभी ग्रहण न कर सकेगा। वररुचि ऋषि ने व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन इस प्रकार कहा है—'रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम्।' अर्थात् व्याकरण के पाँच प्रयोजन हैं—(१) रक्षा, (२) ऊह, (३) आगम, (४) लघु और (५)

असंदेह। इन पाँच प्रयोजनों का प्रतिपादन भगवान् पतंजलि के महाभाष्य में इस प्रकार किया गया है:—

(१) रक्षा:—वेदों की रक्षा करने के हेतु व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। वही मनुष्य वेदों की रक्षा कर सकता है और वेदों का अर्थ जान सकता है जो यह जानता है कि वर्णों का लोप कब होता है, आगम का उपयोग कब किया जाता है, वर्णों का विकार क्यों उत्पन्न होता है इत्यादि।

(२) ऊह:—वेद-मन्त्रों में सब लिंग और विभक्तियाँ सदा लगी नहीं रहतीं। यज्ञ के समय प्रसंगानुसार लिंग और विभक्तियों का उपयोग मन्त्रों में करना पड़ता है। इसलिए व्याकरण की अत्यन्त आवश्यकता है।

(३) आगम:—शास्त्र में कहा है 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' अर्थात् ब्राह्मण को फलाशा का त्याग कर धर्माचरण करना चाहिए और षडंग-युक्त वेदों का अध्ययन करके वेदार्थ-ज्ञान संपादन करना चाहिए। इस आज्ञा के अनुसार व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

(४) लघु:—भाषा में जितने शब्द हैं उन सब का ज्ञान, व्याकरण की सहायता से, अल्प समय में और थोड़े प्रयास से हो जाता है। इसलिए व्याकरण का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

(५) असंदेह:—शंका या संदेह का निवारण करने के लिए व्याकरण की आवश्यकता है।

कल्प, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष नामक अन्य वेदांगों की उपयोगिता का वर्णन पहले किया जा चुका है। उनके पृथक् वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अब मीमांसादि उपांगों का विचार किया जायगा। वेदों के चार उपांग हैं—अठारह पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। पुराणों के द्वारा यह बात विदित होती है कि सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। उनमें सृष्टि-रचना के पहले का भी वर्णन है। इसलिए उनके अध्ययन से वेदार्थ-ज्ञान की सहायता होती है। धर्मशास्त्र तो वेदों का प्राण है। यदि धर्मशास्त्र की सहायता न ली जाय तो मनुष्य-समाज को

वेदों से क्या लाभ होगा ? इस विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है। न्याय और मीमांसा के विषय में लिखा है—

न्यायो नाम गौतमेन कणादेन च मुनिना कृतं
प्रमाणैरर्थपरीक्षणोपदेशकं शास्त्रम्।

—आर्यविद्यासुधाकर।

गौतम और कणाद नामक ऋषियों ने प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाणों के द्वारा अर्थ का निर्णय करने के लिए जिस शास्त्र की रचना की उसको न्याय कहते हैं। इस पर से यह बात सिद्ध है कि वेदों के अर्थ का निर्णय करने में न्याय-शास्त्र की सहायता होती है। मीमांसा-शास्त्र के दो भाग हैं; एक को पूर्व-मीमांसा कहते हैं और और दूसरे को उत्तर-मीमांसा। कर्म-साधक श्रुतियों का विचार-रूप जो भाग वेदों में है उसका पर्वापर विरोध नष्ट करने और वास्तवार्थ की चिकित्सा करने के लिए भगवान् जैमिनी ने बारह अध्यायों में धर्म-मीमांसा की है उसी को पूर्व मीमांसा कहते हैं। वेद में उपासना-ज्ञान-साधक श्रुतियों का विचार रूप जो भाग है उसका पूर्वापर विरोध नष्ट करने और सत्यार्थ की चिकित्सा करने के लिए भगवान् व्यासजी ने चार अध्यायों में ब्रह्म-मीमांसा की है उसी को उत्तर-मीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं। इस पर से यह बात पाई जाती है कि वेदार्थ-ज्ञान के लिए मीमांसा नामक उपांग अत्यन्त उपयोगी हैं।

उक्त संपूर्ण विवेचन का सारांश यह है—भारतनिवासी आर्यों का ईश्वर-प्रणीत ग्रन्थ वेद है। मनुष्य प्राणी को, जो विचार करने के लिए समर्थ है, ज्ञान की प्राप्ति हो और उत्तम प्रकार का सुख मिले, इसलिए सृष्टि के पहले वेद निर्माण किये गये। अतएव हमारा आर्यधर्म अर्थात् सनातन वैदिक-धर्म जो वेदों के दृढ़ आधार पर स्थित है, सब पुरुषार्थों की सिद्ध का एकमात्र साधन है। देखिए—

धारणार्थकाद्धृधातोः धर्मशब्दः पंकजादिवद् योगारूढ। तत्र पततो जनानाश्रयो भूत्वा धरतीति धर्मशब्दस्य योगार्थः। रूढ्यर्थस्तु अनिष्टानुबंधि इष्टफलसाधनमित्याकारकः। येन अनुष्ठीयमानेन अनिष्टपरिहार इष्टफललाभश्च भवति स धर्मः। —आर्यविद्यासुधाकर।

जैसे पंकज-शब्द का योगार्थ 'पंक से उत्पन्न होनेवाला' है और उससे 'कमल' रूढ़ार्थ होता है, वैसे ही धारणार्थक धृ धातु से उत्पन्न होकर धर्म-शब्द का यौगिक अर्थ यह होता है 'जो पतित जनों का आश्रय-स्थान होकर उनकी रक्षा करता है वह धर्म है।' उसका रूढ़ार्थ 'अनिष्ट का परिहार करके इष्ट फल की प्राप्ति करा देनेवाला' होता है। सारांश, धर्म उसको कहते हैं कि जिसके अनुसार आचरण करने से सब अर्थों की सिद्धि होती है। हमारा प्राचीन आर्यधर्म उक्त परिभाषा के अनुसार है और वह सर्वज्ञ परमेश्वर की प्रत्यक्ष आज्ञा है, अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह हम लोगों को अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा मालूम होता है। इस दुनिया में जितने धर्म प्रचलित हैं वे सब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से वैदिक-धर्म ही से उत्पन्न हुए हैं। यह बात निर्विवाद प्रसिद्ध है कि बौद्धधर्म वैदिक-धर्म के कुछ श्रेष्ठ मतों पर स्थापित किया गया है। यह बात भी सब लोगों को विदित है कि ईसाई और महम्मदी धर्म बौद्ध-धर्म के आधार पर प्रचलित हुए हैं। यदि प्राचीन समय में सुप्रसिद्ध अलेक्जेन्ड्रिया शहर में स्थापित बृहत् पुस्तकालय अग्नि से भस्म हो न जाता तो वर्तमान समय में उक्त सिद्धान्तों की सत्यता और भी स्पष्ट प्रकट हो जाती।

इस स्थान में यह प्रश्न उठता है कि यदि परमेश्वर ही ने सब मनुष्यों को उत्पन्न किया है तो उसकी आज्ञा सब लोगों के लिए एक ही समान होनी चाहिए; भिन्न-भिन्न धर्मों में अनेक मत-मतान्तर देख पड़ते हैं—इनको एक ही परमेश्वर की आज्ञा कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर यह है:—यद्यपि सब मनुष्य मनुष्यत्व की दृष्टि से एक ही समान हैं, तथापि भिन्न-भिन्न देशों के लोगों की परिस्थिति और विशेषतः उनकी बुद्धि का सामर्थ्य भिन्न प्रकार का होता है। अतएव जो तत्त्व भिन्न भिन्न परिस्थिति के अनुकूल होते हैं और जो लोगों की भिन्न भिन्न बुद्धि-शक्ति द्वारा आकलन किये जा सकते हैं, उन्हीं का संग्राहक धर्म उन देशों में निर्माण होता है। इस बात से ईश्वर का मनुष्य-जाति पर प्रेम और उसका अगाध चातुर्य भी प्रकट होता है। सनातन वैदिक-धर्म में अद्वैत-

मत के गहन सिद्धान्तों की उपासना अथवा भागवत-धर्म के साथ जो अपूर्व मेल देख पड़ता है, वह केवल भारतीय आर्यों की बुद्धि द्वारा आकलन किया जा सकता है—वह अन्य लोगों की बुद्धि-सामर्थ्य के परे है। इसलिए एशिया-खंड के कुछ देशवासियों के लिए भगवान् शाक्यमुनि को एक ऐसा धर्म निर्माण करना पड़ा, जिसमें केवल साधारण नीति-तत्वों ही का संग्रह अधिक है। इसी तरह यूरप-खंड के जिन देशों के निवासियों में ये वासनाएँ जागृत हैं कि ऐहिक विषयोपभोगों के साधनों की वृद्धि करके देह-पुष्टि संपादन करनी चाहिए, जो लोग अपने से दुर्बल हैं उन पर अपना अधिकार जमाना चाहिए, दुनिया में जो उत्तमोत्तम पदार्थ होंगे, उनका अपहरण करना चाहिए, उन लोगों के लिए ईसाई-धर्म की उत्पत्ति हुई। सारांश, यह अत्यन्त स्वाभाविक बात है कि भिन्न-भिन्न मानसिक वृत्तियों के पोषक और भिन्न-भिन्न परिस्थिति के अनुकूल भिन्न भिन्न धर्म निर्माण हुए हैं। जैसे सब प्रकार के रोगों के लिए यद्यपि एक ही औषधि का उपयोग कितना भी इष्ट मालूम हो, तथापि वह दुर्घट और असंभव है, वैसे ही सब प्रकार के मनुष्यों के लिए एक ही धर्म का होना औघड़ और असंभव है। देश की परिस्थिति की भिन्नता के कारण और मनुष्य की बुद्धि की आकलन-शक्ति की भिन्नता के कारण भिन्न धर्मों की उत्पत्ति होना प्रकृति के नियमों के अत्यन्त अनुकूल है। खेद की बात है कि इस देश के तथा विदेशों के बहुतेरे लोग उक्त बातों का कुछ विचार नहीं करते और जब हमारे प्राचीन आर्य-धर्म के गहन तत्व उनकी समझ में नहीं आते, तब वे हमारे ईश्वर-प्रणीत वेदों ही की निन्दा करने लगते हैं।

इस निबन्ध का प्रधान हेतु यही है कि हमारे अत्यंत श्रेष्ठ वेदों के संबंध में लोगों की श्रद्धा अधिक बढ़े और तदन्तर्गत सिद्धान्त सब लोगों की समझ में आ जायँ। इस बात को कभी भूलना न चाहिए कि वेद केवल ज्ञानमय हैं और वे सूर्य के समान स्वयं प्रकाशमान हैं, अतएव वे स्वयं प्रमाण हैं। संस्कृत भाषा में, जो संसार की सब भाषाओं से अधिक नियमबद्ध और प्रगल्भ है, जितना साहित्य उपलब्ध है, उसमें

वेद के समान उदात्त (Sublime) और सुन्दर (Beautiful) और कुछ पाया नहीं जाता। ईश्वरीय ज्ञान ही वेद का मुख्य विषय है। इस विषय में तृण से लेकर परमेश्वर तक सब पदार्थों के बोध का समावेश हो जाता है, इसलिए यही अन्य सब विषयों से अधिक श्रेष्ठ माना गया है। सब पदार्थों में परमेश्वर ही प्रधान है, इसलिए सब वेदों का तात्पर्यार्थ 'ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति' ही है। देखिए—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

—काठक

अर्थात् जिस आनन्दमय और दुःख-रहित पद का वर्णन सब वेद करते हैं, जिस पद की प्राप्ति के लिए लोग अनेक प्रकार की तपश्चर्या करते हैं और जिस पद की इच्छा करके लोग सत्य-धर्मानुष्ठान-रूप आचरण करते हैं, वह पद संक्षेप में प्रणव (ॐ) ही है। ॐकार ईश्वर-वाचक है; क्योंकि प्रणव और ईश्वर में वाच्य-वाचक-संबंध सदा रहता है। यह संबंध अनादि सिद्ध है। अतएव ओंकार का विधि-पूर्वक जप करना और उसके अर्थ का चिंतन करना परमेश्वर की परम आराधना है।

दूसरा प्रकरण

भारतीय आर्ष महाकाव्य

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

किसी देश के निवासियों को आनन्द, ज्ञान और उत्साह एक ही साथ और एक ही समय देनेवाला साधन महाकाव्य के समान और कोई नहीं है। ऐसे काव्य को अँगरेजी भाषा में Epic Poetry कहते हैं। कुछ लोग उस अँगरेजी शब्द का अनुवाद 'वीर-रस-प्रधान काव्य' करते हैं; परन्तु वह अनुवाद ठीक मालूम नहीं होता। यदि प्राचीन

परम्परा देखी जाय तो यही मालूम होता है कि लोग उक्त काव्य को महाकाव्य ही कहते चले आये हैं। कालिदासादि कवियों से उसको भिन्न करने के हेतु उसके साथ, 'आर्ष' विशेषण लगा दिया जाता है। महाभारत के पहले ही अध्याय के 'यश्चैनं शृणुयान्नित्यं आर्ष श्रद्धासमन्वितः।' श्लोक में उस ग्रन्थ के विषय में आर्ष शब्द का उपयोग किया गया है। अँगरेजी भाषा में जिसको Epic Poetry कहते हैं उसका अर्थ "आर्ष महाकाव्य" शब्द ही से अच्छी तरह व्यक्त होता है, इसलिए यही प्राचीन नाम रामायण और महाभारत नामक आर्य-लोगों के Epic काव्यों को दिया गया है।

इतिहास (History), वक्तृत्व (Oratory), तत्त्वज्ञान (Philosophy), और काव्य (Poetry), साहित्य के सर्वमान्य विभाग समझे जाते हैं। प्रथम तीनों का सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि के साथ होता है; परन्तु कविता का हेतु आनन्द-जनकत्व और अन्तःकरण-जागृति होता है, इसलिए उसका सम्बन्ध प्रतिभा Imagination और मनोविकारों Passions के साथ होता है। यद्यपि काव्य में विविध ज्ञान और नीति का उपदेश रहता है, तथापि उनको सिद्धि अप्रत्यक्ष रीति से करनी पड़ती है। अर्थात् कवि अपने पाठकों के अन्तःकरण में आनन्द, चमत्कृति आदि मनोविकारों को जागृत करके नीति की शिक्षा देता है और विविध ज्ञान का वर्णन करता है। जिस कवि में हृदय-वेधक शक्ति अधिक होती है वही सब लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

काव्य के अनेक भेद किये गये हैं। उनमें से एक प्रधान भेद को महाकाव्य कहते हैं। काव्य या महाकाव्य की रचना और गुण-विवेचन के लिए प्रतिभा Imagination और अभिरुचि Iaste नामक दो शक्तियों की अत्यंत आवश्यकता है। इसलिए प्रथम इन्हीं शक्तियों के संबंध में कुछ विचार करना चाहिए और फिर यह देखना चाहिए कि उनका काव्य-ग्रंथों के साथ क्या संबंध है।

प्राकृतिक या कृत्रिम पदार्थों में व्यक्त होनेवाले उदात्त स्वरूप

स्वरूप का ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा ज्ञानमय होने के कारण केवल प्रकाशमयत्व ही से प्रतीत हो सकता है। सिद्ध पुरुषों का अनुभव भी ऐसा ही है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि निषिद्धाचरण या पापाचरण करनेवालों का उद्धार वेद-पठन से नहीं हो सकता, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदाभ्यास केवल निष्फल है अथवा वेदों की योग्यता केवल साधारण है। सच बात तो यही है कि वेदों की योग्यता अनन्य, असाधारण और अलौकिक है। इसका कारण यही है कि परमात्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देने के लिए वेदों से बढ़कर उत्तम साधन और कोई नहीं है। स्वर्गादि से भिन्न जो मोक्ष नामक पुरुषार्थ है वही वेदों का मुख्य प्रमेय है। इसमें संदेह नहीं कि वेदों में कर्म और उपासना का भी निरूपण किया गया है; परन्तु उस निरूपण का उद्देश्य काम्य-कर्मों को प्रोत्साहित करने या कर्म और उपासना ही को प्रधानता देने का नहीं है। मोक्ष-सिद्धि के हेतु-भूत ज्ञान की प्राप्ति होने के पहले चित्त शुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है। यह चित्त-शुद्धि निष्काम-कर्म और उपासना की सहायता के बिना नहीं हो सकती। अतएव वेदों को कर्म और उपासना मार्गों का भी निरूपण करना पड़ा। इस पर से यह न समझना चाहिए कि वेद कर्म-प्रधान या उपासना-प्रधान हैं। वस्तुतः वे मोक्ष-प्रधान ही हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म और उपासना, मोक्ष-हेतुभूत ज्ञान के केवल साधन हैं और इसी दृष्टि से वेदों में उनको स्थान दिया गया है। यद्यपि वेदों में स्वर्गादि भोगों का वर्णन किया गया है, तथापि उनको पुरुषार्थ नहीं माना है; क्योंकि वे सब आनंद-रहित हैं। वेदों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, कि जो आत्मवेत्ता है उसी को मोक्ष की प्राप्ति होती है और जो आत्मज्ञान रहित होता है उसको अनर्थ की प्राप्ति होती है तथा उसका विनाश होता है। सारांश, वेदों का कटाक्ष आत्मज्ञान की प्राप्ति करा देने ही की ओर है। अर्थात् वेद मोक्ष-रूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति और संसार-रूप अनर्थ की निवृत्ति करा देते हैं।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। वेदों में अध्यारोप और

अपवाद नामक दोनों प्रकार की युक्तियों से परमात्म-स्वरूप ही का वर्णन किया गया है। यह विश्व परमेश्वर ही के माया कल्पित नाम-रूपादि विशेषों से भासमान होता है। यह मूर्तामूर्त सारा जगत् परमात्मा ही का स्वरूप है। आकाश से लेकर पृथ्वी तक यह पंचतत्त्वात्मक संपूर्ण विश्व उसी परमात्मा का कार्य रूप है। इस प्रकार अध्यारोप करने के समय श्रुतियों ने इस विश्व में ब्रह्मत्व प्रतिपादित किया है और अपवाद के समय 'नेति नेति' वाक्यों के द्वारा विश्व से परमात्मा की विलक्षणता का वर्णन करके उसके यथार्थ स्वरूप का परिचय करा दिया है। महानुभाव मुनिजनों का भी यही कथन है, कि वेदों ने जिस आत्म-स्वरूप की विलक्षणता का प्रतिपादन किया है, वह यथार्थ में अनुभव-सिद्ध है। अतएव यदि वेदों का अध्ययन करनेवाले लोग वेदों का यथार्थ उपयोग न करें, तो यह वेदों का दोष नहीं कहा जा सकता ; किन्तु यह उपयोग करनेवालों ही का दोष है।

वेदों में कृच्छ्र चांद्रायणादि तपों का और ज्योतिष्टोमादि यागों का वर्णन किया गया है। इसका मुख्य उद्देश यही है कि मनुष्य इन सब कर्मों का ईश्वरार्पण करके पुण्य की वृद्धि करे और इस पुण्य-बल से अपने सब पापों का नाश करके प्रकाशमय ब्रह्म-रूप की प्राप्ति करे। वेदों का यह उद्देश नहीं है कि मनुष्य सदा के लिए इस संसार के चक्कर में डाल दिया जावे ; किन्तु उनका उद्देश मनुष्य को मोक्ष-प्राप्ति करा देने ही का है। खेद की बात है कि बहुतेरे लोग स्वार्थ-वश होकर वेदोक्त साधनों का दुरुपयोग करते हैं। वे विहित कर्मों का अवलंबन केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से नहीं करते ; किन्तु वे इन्द्रिय-भोग फलाकांक्षा से उनका अनुष्ठान किया करते हैं। यह न्याय सुप्रसिद्ध है कि वासना के अनुसार फल की प्राप्ति होती है। इसी नियम के अनुसार वे लोग यज्ञादि काम्य-कर्मों के द्वारा स्वर्गादि स्थानों में इन्द्रियोपभोग भोगने के बाद अपने शेष कर्म-बल से फिर इस संसार के चक्कर में आ जाते हैं। यह दोष न तो उन साधनों का है और न उन वेदों का है, जिन्होंने उनका प्रतिपादन किया है ; किन्तु यह दोष सर्वथा उन्हीं लोगों का है जो उक्त

साधनों का दुरुपयोग करते हैं।

इस प्रकार महाभारत में वेद-विद्या के रहस्य सर्वत्र वर्णन किया है। इसीलिए उसको पाँचवाँ वेद भी कहते हैं। वन-पर्व, उद्योग-पर्व, और शांति-पर्व में अध्यात्म-ज्ञान ओत-प्रोत भरा है। इसके सिवाय भगवद्गीता, सावित्री-आख्यान, सुलभा-संवाद आदि और भी अनेक मोक्षोपयोगी प्रकरण हैं। लोगों की इस कहावत में बहुत सत्यता है कि जो बात महाभारत में नहीं है, वह इस जगत् में भी नहीं है।

भरतखंड के किसी शहर या गाँव में आप जाइए और वहाँ इस बात का पता लगाइए कि ऐसा कौन मनुष्य है, जो महाभारत के किसी भी अंश से परिचित नहीं है। हम समझते हैं कि ऐसा मनुष्य एक भी न होगा। इस महाकाव्य के आधार पर इतने नाटक, आख्यान और इतनी कथाएँ प्रचलित हैं कि उक्त बात हमें किसी प्रकार असंभव मालूम नहीं होती। अनेक मन्दिरों में यह महाकाव्य नित्य पढ़ा जाता है, जिसको सुनने के लिए हज़ारों लोग एकत्र होते हैं। ज्ञानेश्वर महाराज का कथन है कि सूर्य के तेज से जैसे यह जगत् प्रकाशित होता है, वैसे ही व्यासजी की प्रतिभाशक्ति से महाभारत प्रकाशित हुआ है। जैसे सब प्रकार के आभूषण शोभायमान होने के लिए सुवर्ण का आश्रय करते हैं, वैसे ही सब प्रकार की कथाओं ने संसार में प्रकाशित होने की इच्छा से व्यास-वाणी का आश्रय स्वीकृत किया है। इसीलिए यह सारा जगत् व्यासोच्छिष्ट समझा जाता है।

रामायण और महाभारत का इस देश में इतना सार्वत्रिक प्रचार है कि गुहाओं और मन्दिरों में, राजमहलों और झोंपड़ियों की दीवालों पर, सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल आदि धातुओं के बर्तनों या आभूषणों पर, जिधर देखिए उधर, इन महाकाव्यों में वर्णित किसी-किसी बात के चित्र देख पड़ते हैं। प्रत्येक गृह में स्त्रियाँ अपने छोटे-छोटे बालकों को रामायण या भारत के किस्से सुनाती हैं। स्त्रियों में सीता, सावित्री, द्रौपदी आदि की कथाएँ प्रचलित हैं। वृद्ध पुरुष अपने तरुण बालकों के साथ बातचीत करने के समय वसिष्ठ, भीम, विदुर, मैत्रेय आदि अनेक

महात्माओं के बोध-वचनों का उपयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि ये दोनों महाकाव्य ही इस देश के सच्चे राष्ट्रीय ग्रन्थ हैं।

कौरव और पांडव के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध के सम्बन्ध की कथाओं और आख्यानों का व्यास-कृत मूलभारत आगे चलकर महाभारत हो गया है। रामायण में सिर्फ अयोध्या-पति दशरथ के पुत्रों का चरित वर्णन किया गया है। महाभारत के पात्र अत्यन्त तेजस्वी हैं, उनमें पराक्रमी पुरुषों के गुण और दोष भी देख पड़ते हैं। रामायण के पात्र सत्य-प्रियता, एक-पत्नीत्व, बन्धु-प्रेम, पातिव्रत्य आदि सात्विक गुणों से मंडित हैं। महाभारत में युद्ध का सरस वर्णन किया गया है। रामायण के कवि ने कौटुम्बिक प्रेम का वर्णन किया है। महाभारत में आर्य-वीरों की सच्ची शूरता देख पड़ती है और रामायण में उन सात्विक वृत्तियों का विकास देख पड़ता है, जिनका मनुष्य के व्यवहार में प्रतिदिन उपयोग होता है। इन दोनों महाकाव्यों के उक्त भेदों को स्पष्ट रीति से व्यक्त करने के लिए कुछ उदाहरणों की ओर देखना चाहिए। द्रौपदी के स्वयंवर में उस समय के सब धनुर्धारियों की शूरता और निपुणता की परीक्षा हो जाने के बाद जो विवाहोत्सव हुआ उसकी तुलना करने से श्रीसीता-रामचन्द्र के विवाह का वर्णन बहुत सादा मालूम होता है। भीम और दुर्योधन तथा कर्ण और अर्जुन के पारस्परिक द्वेष और मत्सर के सामने राम और रावण या लक्ष्मण और इन्द्रजित् का बैर-भाव बिलकुल कम दर्जे का प्रतीत होता है। जिस समय दुर्योधन की सभा में द्रौपदी की विडम्बना की गई, उस समय उसने अपने पतियों की निर्भर्त्सना की है। उसको पढ़ने से यह मालूम होता है कि सीताहरण के समय सीताजी का भाषण सौम्य (नरम) है। युद्ध के आरम्भ में राजा युधिष्ठिर के मन्त्रि-मण्डल में जैसी जोरदार और प्रभावशाली वक्तृता सुन पड़ती है, वैसी रावण की सभा में नहीं है। धृतराष्ट्र की सभा में जब श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता की तब दुर्योधन ने कहा—'मैं एक सूची की नोक के बराबर भी जमीन न दूँगा।' इस प्रसंग में जो तेजस्विता प्रकट हुई है, उसके सामने रावण की सभा में युद्ध न करने के विषय की विभीषण की प्रार्थना और रावण का

तिरस्कार-युक्त उत्तर दोनों मन्द प्रतीत होते हैं। अनेक वीरों ने मिल कर किया हुआ अभिमन्यु का वध, अर्जुन की प्रतीज्ञा, कर्ण और अर्जुन का युद्ध, भीम और दुर्योधन का युद्ध इत्यादि प्रसंग इतने हृदय-द्रावक और अन्तःकरण-भेदी हैं कि उनके समान एक भी प्रसंग रामायण में दृष्टि-गोचर नहीं होता। रामायण की दृष्टि धर्म-निष्ठा और शान्तता की ओर है तथा महाभारत की दृष्टि शूरता और तेजस्विता की ओर है। महाभारत में वीरता और तेज ही का भाव सर्वत्र पाया जाता है। रामायण में सात्विक वृत्तियों का विकास देख पड़ता है—यही वृत्तियाँ सदा मनुष्यों के व्यवहार में उपयोगी होती हैं और इन्हीं से सारा जगत् व्याप्त है।

अब यह बात पाठकों के ध्यान में भली भाँति आ गई होगी कि ये दोनों आर्ष महाकाव्य हम लोगों को इतने प्रिय क्यों मालूम होते हैं और इस देश के निवासियों पर उनका इतना प्रभाव क्यों देख पड़ता है। कोई प्रतिभा-विशिष्ट ग्रन्थ चिरकाल तक लोगों की निष्ठा, आदर और प्रेम का पात्र तभी हो सकता है जब कि उसमें अविनाशी सत्य का प्रकाश होगा और मानवी मनोवृत्तियों के, जीवन के, कर्तव्य के तथा धार्मिक निष्ठा के यथार्थ स्वरूप का ऐसा वर्णन किया जायगा, जिससे आनन्द और चमत्कार की तत्काल उत्पत्ति होगी। इस देश के प्राचीन समय के राजनीतिक विषयों का स्वरूप महाभारत में दिखाया गया है, इसलिए उसमें शूरता, महत्वाकांक्षा, पराक्रम, तेज, अभिमान, उदात्त आचरण इत्यादि गुण पाये जाते हैं। रामायण में इस देश के प्राचीन समय के धार्मिक और कौटुंबिक चरित्र का चित्र दिखाया गया है, इसलिए उसमें तितिक्षा, बंधुप्रेम, पातिव्रत्य आदि सात्विक गुण पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन दोनों महाकाव्यों की आंतरिक रचना से भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं, तथापि दोनों मिल कर प्राचीन आर्यजनों की राजनीतिक, कौटुम्बिक और धार्मिक स्थिति का पूर्ण चित्र प्रकाशित करते हैं।

तीसरा प्रकरण

अमरत्व

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्ववित् ॥

मृत्यु के अभाव या नाश को अमरत्व अथवा अमृतत्व कहते हैं। अतएव अमरत्व का यथार्थ बोध होने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मृत्यु किसे कहते हैं। सर्व-साधारण लोगों की समझ के अनुसार प्राणियों के नाश ही को मृत्यु कहते हैं; परंतु यह भूल है। यथार्थ में जिस अवस्था को लोग मृत्यु कहते हैं, वह स्थूल-देह से लिंग-देह का केवल वियोग है। मृत्यु जीवात्मा की स्थिति का केवल एक भेद है। यदि यह बात सत्य है तो लोग मृत्यु का इतना भय क्यों मानते हैं—किसी आप्त-जनकी मृत्यु हो जाने से लोग दुखित क्यों होते हैं? इसका उत्तर यही है कि लोग अज्ञानी और स्वार्थी होने के कारण मृत्यु के यथार्थ रूप को भूल जाते हैं और केवल अपने स्वार्थ के लिए दुखित होते हैं। बृहदारण्यक में बहुत ठीक कहा है कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' अर्थात् अपनी इच्छा तृप्त करने के लिए हमको सब पदार्थों की चाह होती है। यदि उक्त न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो यही बात सिद्ध होती है कि सर्व-साधारण लोग किसी मनुष्य की मृत्यु के बाद केवल अपने स्वार्थ ही के लिए दुःख और शोक प्रकट करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अब उस मृत मनुष्य से हमारा कोई लाभ न होगा। अब यह सोचना चाहिए कि जो मनुष्य मृत्यु के अधीन हो रहा है वह क्यों दुखित होता है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य के कर्मानुसार मृत्यु-रूप वियोग हुआ करता है, तथापि वह उस वियोग के समय यह जान कर अत्यन्त दुखित होता है कि अब इस स्थूल-देह में मेरी किसी वासना की तृप्ति न हो सकेगी। सारांश यह है कि स्थूल देह से जीवात्मा (लिंग-देह) का जो स्वाभाविक वियोग हुआ करता है, उससे मृत-मनुष्य को और उसके आप्तजनों को केवल स्वार्थ-बुद्धि और अज्ञान के कारण

दुःख हुआ करता है। यही कारण है कि सब लोग मृत्यु से बहुत डरते रहते हैं और यह भय सदा उनके मन में बना ही रहता है। अतएव इस बात की बहुत आवश्यकता है कि जो मृत्यु सब प्राणियों को इतनी भयानक और दुखदायी लालूम होती है उसके वास्तविक स्वरूप-लक्षण का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि यदि मृत्यु-भय के नाश का अर्थात् अमरत्व-प्राप्ति का कोई उपाय वेदशास्त्रों में मिल जाय तो वह सब लोगों को अत्यत हितदायक होगा।

मृत्यु के बाद प्राणियों को जो अवस्था प्राप्त होती है वह श्रुतियों में "सांपराय"—Here-after—शब्द से लक्षित की गई है। वेद भाष्य में सांपराय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है:—

सम्यक् परे काले देहपतनादूर्ध्वं ईयते गम्यते इति सांपरायः परलोकः; तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः सांपरायः।

अर्थात् देह-पतन के अनंतर जिस मार्ग से परलोक-प्राप्त होती है, उसको सांपराय कहते हैं। कठोपनिषद् में नचिकेतस् और यमराज का जो अद्भुत संवाद है, उसमें इस सांपराय का वर्णन किया गया है। उस संवाद में सांपराय और अमरत्व की सिद्धि उत्तम रीति से की गई है। इसी तरह महाभारत के सनत्सुजात-पर्व में मृत्यु के यथार्थ स्वरूप और अमरत्व की प्राप्ति के विषय में अत्यन्त उपयोगी और बोध-प्रद निरूपण पाया जाता है। अतएव श्रीमत् शंकराचार्य-कृत कठवल्ली और सनत्सुजात-पर्व के आधार पर ही प्रस्तुत विषय का यहाँ विवेचन किया जायगा।

नचिकेतस ने यमराज से यह प्रश्न किया—"जब मनुष्य मर जाता है, तब उसकी क्या दशा होती है? कोई कहते हैं कि उसका बिलकुल नाश हो जाता है और कोई कहते हैं कि उसका नाश नहीं होता। अब मुझे यह बताइए कि इन दोनों में से कौन मत सत्य है।" इसी प्रश्न के उत्तर में यमराज ने सांपराय का विस्तृत वर्णन किया है। कठवल्ली सांपराय और अमरत्व की सत्यता सिद्ध करने के लिए नैतिक, अध्यात्म और तात्त्विक विचारों का अवलम्बन किया गया है। अब इनका

पृथक् पृथक् विवेचन किया जायगा।

कुछ लोग यह कहते हैं कि वेदान्त-दर्शन में नीति का बिलकुल विचार नहीं किया जाता। इसलिए इस दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य पर अपने कृत-कर्मों के विषय में कोई नैतिक जवाबदेही मानी नहीं जाती। परन्तु यह आरोप सत्य नहीं है। वेदान्त-दर्शन में नीति-रूप मन्दिर अमरत्व ही की नींव पर स्थापित किया गया है। देखिए, नचिकेतस के उक्त प्रश्न के उत्तर में यमराज क्या कहते हैं:—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

—काठक।

इसका अर्थ यह है—"अविवेकी मनुष्य के मन में परलोक की कोई कल्पना ही नहीं होती; क्योंकि वह स्वरूप को नहीं जानता और संपत्ति के मद से सदा मूढ बना रहता है। ऐसा मनुष्य यह कहता है कि इसी जगत् में सब कुछ है—अन्य लोक कोई चीज नहीं। ऐसी अवस्था में वह मनुष्य मेरे अधीन होकर बार-बार जन्म और मृत्यु के चक्कर में गोते खाता है।" माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में देहात्मवादी चार्वाक का मत इस प्रकार दिया गया है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—सर्वदर्शनसंग्रह।

अर्थात् 'जब तक इस देह में प्राण हैं तब तक सुख-चैन से रहना चाहिए। यदि स्निग्ध, मिष्ट आदि पुष्टिकारक पदार्थों के खाने में ऋण हो जाय तो भी कुछ चिन्ता न करनी चाहिए—ऋण करके भी सुख और चैन भोग लेना चाहिए। इसका कारण यह है कि जब शरीर एक बार नष्ट हो जायगा तब वह फिर न मिलेगा। यदि मृत्यु के बाद कुछ है ही नहीं—न परलोक है और न वहाँ कोई गति है—तो जीते जी सुख और चैन क्यों न भोग लें? कौन जानता है कि मृत्यु इस शरीर को कब नष्ट कर देगी? मृत्यु के अनन्तर सुख भोगने को न मिलेगा।' इस

पर से यह बात सिद्ध होती है कि जो लोग परलोक को नहीं मानते और इस बात पर विश्वास नहीं रखते कि आत्मा अमर है वे लोग नीति-युक्त आचरण की कुछ परवा नहीं करते। सच है, Eat, drink and be merry 'अर्थात् खाना पीना और सुख से रहना' यही जिनके जीवन का प्रधान उद्देश है वे नीति की परवा क्यों करेंगे! यथार्थ में वही मनुष्य नीति-संपन्न हो सकता है जो इस लोक के सिवाय अन्य लोक (परलोक) को मानता है और आत्मा के अमरत्व में विश्वास रखता है।

जो लोग उपयोगितावाद को मानते हैं (Utilitarians) उनका कथन है कि मनुष्य को नीतिवान होना चाहिए क्योंकि नीति-युक्त आचरण से उसका हित होता है; और पदार्थ-विज्ञानवादी (Scintiests) कहते हैं कि जिससे अधिकांश जन-समूह का कल्याण हो वही नीति है। परन्तु नीति की यथार्थ और संतोष-दायक सिद्धि न उपयोगितावाद से और न बहुजन-कल्याण-वाद से हो सकती है। इसका कारण यह है कि जब तक भले-बुरे का, हित-अनहित का, कल्याण-अकल्याण का और सत्य-असत्य का निर्णय, इस संसार के साधारण व्यवहारों ही की ओर ध्यान देकर, केवल बुद्धि या विचार-शक्ति के आधार पर किया जायगा तब तक नीति-मन्दिर की नींव मजबूत नहीं कही जा सकेगी। यह प्रश्न अत्यंत महत्व का है कि मनुष्य का हित या कल्याण किस बात से होगा। इस महत्व के प्रश्न का विचार यथार्थ में उदात्त दृष्टि ही से किया जाना चाहिए। यदि कोई सूक्ष्म-रीति से निरीक्षण करेगा तो यह बात सहज ही उसके ध्यान में आ जायगी कि इस संसार के साधारण व्यवहारों में भले-बुरे का निर्णय करने में बुद्धि या विचार-शक्ति की भूल कैसी हुआ करती है। जिस वस्तु या स्थिति को कुछ लोग अच्छी कहते हैं उसी को अन्य जन बुरी समझते हैं; क्योंकि यह बात अनुभव-सिद्ध है कि जब कभी कोई मनुष्य भले-बुरे का निर्णय करता है तब वह निर्णय सदा स्वार्थ (Interest) और पूर्व ग्रह या पूर्व संस्कार (Prejudices) पर अवलंबित रहता है। अतएव इस प्रकार का निर्णय कदापि हितदायक या

कल्याणकारक नहीं हो सकता।

सदाचार ही नीति का मुख्य आधार है। इसके विषय में भारतीय आर्यों ने बहुत सूक्ष्म विचार किया है। पहले यह जानना चाहिए कि अच्छा किसे कहते हैं और बुरा किसे कहते हैं :—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिश्रेयसो वृणीते प्रेयो मंदो योगक्षेमाद् वृणीते॥

—काठक।

भावार्थ—परिणाम की ओर दृष्टि देने से सब वस्तुओं के दो भेद किये जाते हैं—एक को श्रेयस और दूसरे को प्रेयस कहते हैं। जिससे आत्मा का कल्याण होता है उसको श्रेयस कहते हैं और जिससे केवल देह ही को सुख होता है उसको प्रेयस कहते हैं। जो मनुष्य श्रेयस वस्तु का संग्रह करता है उसका आत्मिक कल्याण होता है और जो मनुष्य प्रेयस वस्तुओं ही का संग्रह करता है उसका परमार्थ नष्ट हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य के सन्मुख ये दोनों पदार्थ उपस्थित हैं। विवेकी मनुष्य उन दोनों के परिणामों की ओर ध्यान देता है और उसी वस्तु को स्वीकार करता है जिससे आत्मा का हित होगा। परन्तु जो लोग मूर्ख या अज्ञानी होते हैं वे अपनी विषय-वासनाओं को तृप्त करने के लिए श्रेयस वस्तु का त्याग करके केवल प्रेयस वस्तुओं का संग्रह किया करते हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जिसके द्वारा आत्म-लाभ हो उसी को सदाचार कहना चाहिए। जो पदार्थ केवल देह ही को सुख देते हैं उनसे आत्म-नाश होता है।

अब यदि आत्मा और देह के यथार्थ स्वरूप-लक्षणों की तुलना की जाय तो यही मालूम होगा कि आत्मा नित्य, सत्य और शाश्वत है तथा देह अनित्य, असत्य और अशाश्वत है। अतएव जो आत्म-लाभ की इच्छा करता है वह अशाश्वत वस्तुओं का कभी संग्रह न करेगा। कहा है—"न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं तत्"—अर्थात् वह परलोक जो ध्रुव या

नित्य है, अध्रुव या अनित्य साधनों से कभी नहीं मिलता। अनात्म विषयों का आश्रय करने से अविनाशी सुख की प्राप्ति कभी न होगी। यह बात किसी को पसन्द न होगी कि सब जगत् की प्राप्ति करके आत्मा का नाश कर दिया जाय। सारे जगत् की प्राप्ति की जाय और उसी के साथ आत्म-लाभ भी हो जाय—यह बात प्रायः असम्भव है। अतएव परलोक के अस्तित्व और आत्मा के अमरत्व के चिरकालिक आधार पर जो नीति स्थापित होगी वही मनुष्य का वास्तविक हित या कल्याण कर सकेगी।

अब अध्यात्म दृष्टि से आत्मा के अमरत्व का विवेचन किया जायगा। अविनाशी आत्म-लाभ करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को सदा उन श्रुतिवचनों का मनन और निदिध्यास करना चाहिए जो आत्मा के अमरत्व और साक्षि-स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। इसके सम्बन्ध में कठवल्ली में लिखा :—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

—काठक।

भावार्थ—ज्ञान-संपन्न आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न और कभी मरता है। न आत्मा किसी से उत्पन्न होता है और न उससे कुछ वस्तु उत्पन्न होती है। आत्मा अज (जन्मरहित), नित्य, शाश्वत और पुराण है। शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। यदि कोई वध करनेवाला मनुष्य यह कहे कि मैंने वध किया और यदि जिसका वध किया गया है वह मनुष्य यह कहे कि मेरा वध किया गया तो कहना चाहिए कि वे दोनों भी कुछ नहीं जानते। क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है।

कठोपनिषद् में अध्यात्म-पृथक्करण की रीति से आत्मा की सिद्धि इस प्रकार की गई है :—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

—काठक ।

भावार्थ—अर्थ (संवेदनात्मक विषय-ज्ञान) इन्द्रियों के परे है और मन संवेदना के परे है; क्योंकि इन्द्रिय-निष्ठ शक्ति से विषय संवेदना होती है और बिना मन की सहायता के संवेदना (Sensation) नहीं हो सकती। बुद्धि मन के भी परे है; क्योंकि पदार्थों का प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाने के बाद मन में संकल्पविकल्पादि जो वृत्तियाँ उठती हैं उनका वर्गीकरण बुद्धि के द्वारा किया जाता है। जीवात्मा बुद्धि के भी परे हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष-ज्ञान, संवेदना, मनोविकार और निश्चयात्मक बुद्धि की अन्तर्व्यवस्था जीवात्मा के कारण हुआ करती है। इस जीवात्मा का स्वरूप-लक्षण यह है:—

येन रूपं रसं गंधं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥
स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरोऽनुशोचति ॥

—काठक ।

अर्थात् आत्मा उसे कहते हैं जिसके कारण रूप, रस गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि विषयों का तथा इनके अतिरिक्त और जो शेष रहे उस सब का ज्ञान होता है। जो यह जानता है कि जाग्रत और निद्रा नामक दोनों अवस्थाओं में जिसके कारण सूक्ष्म-ज्ञान प्राप्त होता है वह सर्वव्यापक महान् आत्मा मैं ही हूँ। वह बुद्धिमान् मनुष्य शोक से अलिप्त रहता है। जाग्रत अवस्था में जीवात्मा सब प्रकार के व्यवहारों का अनुभव साक्षि-भाव से करता है और गाढ़ निद्रा से जगने पर जीवात्मा को यह प्रतीत होता है कि "मैं सुख से सोया था।" सर्वज्ञप्ति-संपन्न जीवात्मा महत्त्व से व्याप्त रहता है, इसलिए जिसके योग से सब जीवात्माओं की

एकता होती है उसको महत्व कहते हैं। प्रकृति इस महत्तत्व के भी परे है; परन्तु प्रकृति की अव्यक्तता के कारण उससे जगत् की उत्पत्ति चैतन्य की सहायता के बिना नहीं हो सकती। प्रकृति कार्य-करण-रूप शक्ति है। उसी को माया भी कहते हैं। 'पुरुष' इस प्रकृति या माया के भी परे है—वही परमात्मा है—वही अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसके परे या इससे बड़ा और कुछ नहीं है। अतएव "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः"—पुरुष ही अंतिम मर्यादा है—वही सब ज्ञान का और सब जगत् का आदि कारण है।

उक्त अध्यात्म-पृथक्करण के उलटे क्रम से अर्थात् उक्त परात्पर पुरुष-रूप आदि कारण से क्रमशः सृष्टि की उत्पत्ति होते-होते स्थावर-जंगमात्मक यह सारा जगत् निर्माण हुआ है। सृष्टि की उत्पत्ति के पहले परमात्मा एकाकी रहता है—वही सब जीवों का यथार्थ स्वरूप और स्वामी है। उस अवस्था में माया का निरोध हो जाने के कारण वह परमात्मा स्वयं प्रकाशमान रहता है—उसकी शक्ति अदृश्य रहती है; परंतु चैतन्य जागृत रहता है। इस सत्ति-रूप परमात्मा की जो कार्य-कारण-रूप शक्ति है उसी को माया अथवा प्रकृति कहते हैं। उसी की सहायता से सर्वव्यापक परमात्मा विश्व की रचना करता है। परमात्मा के अंश से प्रथम 'पुरुष' उत्पन्न होता है। उसके द्वारा अव्यक्त प्रकृति प्रेरित होकर महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। यह महत्तत्व शक्ति-संपन्न होता है, जो अपने में समाविष्ट जीवत्व को प्रकट करता है। महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार के तीन भेद हैं—सात्विक, राजस और तामस। सात्विक अहंकार से मन, बुद्धि और इन्द्रियों की देवता रूप शक्तियाँ निर्माण होती हैं। राजस अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ निर्माण होती हैं। तामस अहंकार से शब्द की उत्पत्ति होती है। जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इत्यादि पंचमहाभूत क्रमशः निर्माण होते हैं।

अब कठोपनिषद् में तात्विक रीति से अमरत्व की जो सिद्धि की गई है उसका विचार किया जायगा। यह विषय अत्यन्त मनोरंजक और केवल अनुभवात्मक है। इसका रहस्य यही है कि अन्तर्दृष्टि तथा अध्यात्मयोग-

द्वारा आत्म-रूप वस्तु का साक्षात्कार किया जा सकता है। पहले यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि यद्यपि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है अर्थात् यद्यपि इन्द्रियाँ ज्ञान-साधन हैं तथापि उनको आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता। देखिए—

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

—काठक।

अर्थात् ईश्वर ने इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए उत्पन्न की हैं, इसलिए वे सदा बहिर्मुख ही रहती हैं। और उनको अन्तरात्मा का विज्ञान कभी प्राप्त नहीं होता। हजारों में ऐसा एकाध मनुष्य उत्पन्न होता है जो अमरत्व की इच्छा करके अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने का यत्न करता है और आत्मा का साक्षात्कार का अनुभव प्राप्त करता है। इन्द्रियों का अन्तर्मुख करने का जो यत्न किया जाता है—अर्थात् इन्द्रियों की स्वाभाविक बहिर्गति को उलटाने का जो अभ्यास है—उसी को योग कहते हैं जैसे—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिंद्रियधारणाम्॥

—काठक।

अर्थात् जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से पराङ्मुख हो जाती हैं, जब मन संकल्प-विकल्प-रूप अपना व्यापार छोड़ देता है और जब बुद्धि भी कोई कार्य नहीं करती तब उसको 'परम गति'—अत्यन्त श्रेष्ठ स्थिति—जानना चाहिए। सब इन्द्रियों की इस अचल या स्थिर स्थिति को योग कहते हैं। और देखिए—

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥

—काठक।

अर्थात् जब इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं तब यह जानने से कि

'जाग्रत-अवस्था में वे उत्पन्न कैसे होती हैं और निद्रावस्था में उनका लय कैसे हो जाता है' आत्म-स्वरूप से उनकी भिन्नता—विलक्षणता—प्रतीत हो जाती है। जब इन्द्रियाँ विषयों से पराङ्मुख होती हैं तब यह प्रतीत होती है कि वे उत्पत्ति की दृष्टि से आत्मा से भिन्न हैं और उनका स्वरूप भी आत्म-स्वरूप से विलक्षण है। जब इन्द्रियाँ अपना स्वाभाविक व्यापार करने लगती हैं और जब निद्रा के समय उनका लय हो जाता है तब उनकी स्थिति के विषय में प्रतीति होती है। जब इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होनेवाले प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा अध्यात्म-योग द्वारा होनेवाले साक्षात्कार का अनुभव किया जाता है तब आत्मा का शुद्ध विज्ञान सहज ही प्राप्त होता है।

अध्यात्म-योग के द्वारा जो साक्षात्कार होता है उसकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। यह अनुभव-जन्य आत्म-ज्ञान तर्कशास्त्र के अनुमान-ज्ञान और साधारण व्यावहारिक ज्ञान से बिलकुल भिन्न है। जो मनुष्य साधन-चतुष्टय-संपन्न होता है। वही इस ज्ञान का सच्चा अधिकारी है। देखिए—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

—काठक।

अर्थात् जो मनुष्य निषिद्ध अथवा पाप-कर्मों से अलिप्त नहीं है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीता नहीं है, जिसने मन की एकाग्रता प्राप्त नहीं की है, जिसका चित्त शान्त नहीं हुआ है, उसको आत्म-साक्षात्कार कभी नहीं होता—वह केवल आत्मा की स्वतन्त्र उपासना ही से प्राप्त होता है।

जिस मनुष्य को अमरत्व प्राप्ति के उपाय की आवश्यकता है उसको केवल अध्यात्म-योग करना चाहिए। इस योग की सिद्धि से संसार-दुःख और विषय-सुख की निवृत्ति हो जाती है। आत्मा के बन्ध अथवा मोक्ष का कारण केवल अन्तःकरण है। जब वह विषयों में आसक्त हो जाता है तब सांसारिक सुख-दुखादि द्वन्द्वों में बँध जाता है; परन्तु जब वह परमात्मा के स्वरूप में रममाण होता है तब उसको मोक्ष अर्थात्

अमरत्व की प्राप्ति होती है। अहंता और ममता (मैं और मेरा) रूप अभिमान से उत्पन्न होनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार जब नष्ट हो जाते हैं तब अन्तःकरण की शुद्धता होती है और तभी वह सुख-दुःख-रहित होकर निर्विकार और शान्त रहता है। सदाचरणी मनुष्य इसी देह में वैराग्य-बल तथा अध्यात्म-योग से इन्द्रियों का निग्रह करके और अन्तःकरण को अपने अधीन रखकर अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है। इस उत्तम स्थिति की प्राप्ति का निरूपण कठोपनिषद् में रथ के दृष्टान्त द्वारा किया गया है:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान्स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यनि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

—काठक।

भावार्थ—प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में से किसी एक की ओर जीवात्मा आकर्षित होता है। प्रवृत्ति कहते हैं संसार को और निवृत्ति कहते हैं परमार्थ या अमरत्व को। इस संसार में जितने मनुष्य हैं उनका प्रवृत्ति या निवृत्ति में से कोई-न-कोई हेतु अवश्य होता है—कोई प्रवृत्ति की ओर झुकते हैं और कोई निवृत्ति की ओर। इन हेतुओं की सिद्धि के

लिए उक्त वचनों में रथ की कल्पना की गई है। यह शरीर ही एक प्रकार का रथ है। जीवात्मा उसका स्वामी है, बुद्धि सारथी (रथ चलाने-वाली) है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। रूप, रस, गंधादि जो पाँच विषय हैं वही इस रथ के चलने के मार्ग हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन इत्यादि सहित जो आत्मा है इसी को भोक्ता अथवा संसारी समझना चाहिए। जो मनुष्य विज्ञान-रहित है वह अपने मन को अपने अधीन रख नहीं सकता, इसलिए उसकी इन्द्रियाँ बुरे घोड़ों के समान उन्मत्त हो जाती है। परन्तु जो मनुष्य विज्ञानवान् है वह अपने मन को अपने अधीन रख सकता है, इसलिए उसकी इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ों के समान सदा उसकी आज्ञा में रहती हैं। जो मनुष्य विज्ञान-रहित है, जिसका चित्त सदा योग-युक्त नहीं रहता और जो सदा अपवित्र रहता है, उसको परम-पद की प्राप्ति नहीं होती—वह निरन्तर जन्म और मृत्यु के चक्कर में फँसा रहता है। जो मनुष्य विज्ञान-संपन्न है, जिसका चित्त सदा योग-युक्त रहता है और जो सदा पवित्र रहता है, वह जन्म और मृत्यु के फंदे से छूट कर अमर-पद को पहुँच जाता है। यदि बुद्धि-रूप सारथी अपने कर्तव्य में चतुर और निपुण हो, तो मन-रूप लगाम खींच कर पकड़ी जा सकती है और इन्द्रिय-रूप घोड़े भी अपने अधीन रक्खे जा सकते हैं। ऐसी ही अवस्था में जीवात्मा-रूप रथ का स्वामी सुख से अपने मार्ग पर चला जाता है और अन्त में अमर-रूप विष्णु के परम पद को जा पहुँचता है।

इस प्रकार जो मनुष्य सदाचार-संपन्न होकर, इन्द्रियों को जीतकर मन की एकाग्रता संपादन करके और चित्त को शान्त रख कर अध्यात्म-योग के द्वारा आत्मा की स्वतंत्र उपासना करता है, उसका यह विश्वास स्वानुभव से दृढ़ हो जाता है कि जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर-सम्बन्ध छाया और धूप के समान है। जैसे असत्य-रूप छाया से सत्य-रूप धूप का ज्ञान होता है, वैसे ही जीवात्मा से परमात्मा का अनुभव किया जाता है और इस बात की प्रतीति होती है कि परमात्मा ही सत्य, अतएव अमर है। देखिए—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

—काठक

अर्थात् जो परमात्मा भूत-भव्यादि कालत्रय का स्वामी है और जो कर्मों के बुरे-भले फलों को भोगनेवाले जीवात्मा से अभेद रूप है, उसको जानने से साधक पुरुष अभय-पद को पहुँच जाता है। और देखिए—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥

—काठक ।

अर्थात् जब मनुष्य को नींद लग जाती है, तब जो उसके अन्तः-करण में जागृत रहकर अनेक प्रकार के मनोहर दृश्य निर्माण करता है वही प्रकाशमय और अमर परमात्मा है। सब लोग उसी के आश्रय से रहते हैं—उसके आधार के सिवाय कोई रह नहीं सकता। और देखिए—

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

—काठक ।

भावार्थः—परमात्मा एक ऐसा सत्ताधारी 'पुरुष' है जो सब भूतों के अन्तःकरण में निवास करता है और जो स्वयं एक रूप होकर अनेक रूप धारण करता है। जिनके हृदय-कमल में उस परमात्मा का साक्षात्कार होता है, वही चिरकालिक सुख का अनुभव करते हैं। जो परमात्मा नाशवान् वस्तुओं में अविनाशी रूप से रहता है, जो परमात्मा सचेतन पदार्थों में चेतना उत्पन्न करता है और जो स्वयं एक होकर अनेकों की कामना सफल करता है उस परमात्मा का साक्षात्कार जिस बुद्धिमान मनुष्य को होता है वह धन्य है। विषयासक्त और अविवेकी मनुष्य

को यह लाभ नहीं होता। इसी तरह और कहा है—

यदेवेह यदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

—काठक।

अर्थात् जो जड़ सृष्टि में प्रतीत होता है वही परमात्मा में रहता है और जो परमात्मा में होता है वही जड़ सृष्टि में प्रतीत होता है। इसलिए जो मनुष्य परमात्मा और सृष्टि भेद-भाव करता है वह जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ा रहता है। अब एक और प्रमाण उद्धृत करके यह विषय समाप्त किया जायगा—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति॥

भावार्थः—यह परमात्मा न वाचा से, न नेत्रों से और न मन से प्राप्त हो सकता है। जो इस बात पर विश्वास रखता है कि परमात्मा ही सारे जगत् का आदि-कारण है उसी को अमरत्व का साक्षात्कार होता है। परमात्मा और सृष्टि में अभेद-भाव करने ही से परमात्मा का दर्शन होता है। अतएव अमरत्व का अनुभव वही कर सकता है, जो परमात्मा को जगत् का आदि-कारण मानता है।

यहाँ तक कठोपनिषद् के आधार पर परलोक और अमरत्व के विषय में विवेचन किया गया। अब इसी विषय का निरूपण सनत्सुजात-पर्व के शांकर भाष्य के आधार पर किया जायगा।

यथार्थ में मृत्यु कोई चीज नहीं है, इसलिए उसके संबंध में अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों भाव केवल काल्पनिक हैं। ये दोनों भाव भिन्न-भिन्न दृष्टि से सत्य माने जाते हैं। जो लोग मृत्यु का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वे यह नहीं कहते कि मृत्यु कोई मूर्त पदार्थ है। उनके कथन का भावार्थ यही है कि जो मोह देहादि अनात्म वस्तुओं में आत्मत्व दिखाता है उसी को मृत्यु कहना चाहिए। अर्थात् जो लोग इस मोह से

अलग रहते हैं उनके लिए मृत्यु भी नहीं है। परन्तु उन लोगों की मृत्यु-संबन्धी यह व्याख्या ठीक नहीं है कि 'अनात्म वस्तुओं में आत्मत्व बुद्धि-रूप मोह को मृत्यु कहते हैं।' इस व्याख्या के बदले यह व्याख्या होनी चाहिए कि 'प्रमाद को मृत्यु कहते हैं।' जीवन के सच्चिदानंद-रूप अपने सहज स्वभाव से च्युत होने ही को प्रमाद या मृत्यु कहते हैं। उपर्युक्त लोगों के मतानुसार अनात्म वस्तुओं में आत्म-भावरूप जो मोह उत्पन्न होता है उसका भी मूल कारण वही प्रमाद है, जिसका उल्लेख इसके पूर्व के वाक्य में किया गया है। जीवों को अनात्म वस्तुओं में आत्म-भाव-रूप मोह होने का कारण यही है कि वे अपने सच्चिदानन्द-रूप मूल स्वभाव से च्युत हो गये हैं। यदि वे अपने मूल स्वभाव से च्युत न हों अर्थात् यदि वे अपने सच्चिदानन्द-रूप में स्थिर रहें, तो मोह की उत्पत्ति ही हो नहीं सकती। सारांश यह है कि मोह प्रमाद का कार्य है। प्रमाद होते ही मृत्यु हो जाती है—प्रमाद ही मृत्यु है। जैसे घट का प्रतियोगी घटाभाव होता है, वैसे ही प्रमाद का प्रतियोगी अप्रमाद—अर्थात् स्वस्वरूप में अखंडित स्थिति, अमृत्यु अथवा अमरत्व—है। इसी को श्रुतियों में 'स्व-रूपावस्थान' कहते हैं।

असु कहते हैं प्राण या इन्द्रियों को, और जो उन्हीं में रमते हैं वे असुर कहलाते हैं। अर्थात् आत्मज्ञान-विहीन और विषयासक्त जीवों को असुर कहते हैं। जो स्व-स्वरूप में रमते हैं—वही आत्मवेत्ता हैं। प्रमाद के कारण असुरों का नाश होता है और अप्रमाद अर्थात् स्व-स्वरूप में स्थिर रहने के कारण सुरों को परम-पद (अमरत्व) की प्राप्ति होती है। यही मृत्यु और अमरत्व का सत्यार्थ है। यह बात सब लोगों को विदित है कि व्याघ्रादि के समान मृत्यु कोई देहाधारी व्यक्ति नहीं है। वह केवल कार्यानुमेय है, इसलिए उसके पदार्थ-रूप का बोध हो नहीं सकता। उसके संबंध में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि आत्मा सम्बन्धी अज्ञान को मृत्यु और आत्म-स्वरूपावस्थान को अमरत्व जानना चाहिए। इससे अधिक और कुछ बताया नहीं जा सकता। इस विवेचन से यह बात पाई जाती है कि मृत्यु का निरास अथवा मोक्ष-प्राप्ति कर्म-

साध्य नहीं है। निष्काम अथवा फल-त्याग-युक्त कर्म अथवा उपासना का उपयोग केवल यही है कि उससे चित्त की शुद्धता होकर ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता होती है। तात्पर्य यह है कि उपासना और कर्म प्रत्यक्ष-रीति से मोक्ष-प्राप्ति के लिए समर्थ नहीं है—वे अप्रत्यक्ष-रीति से अर्थात् परंपरा से मोक्ष-प्राप्ति के लिए उपकारक, सहायक या उपयोगी हैं। मोक्ष-प्राप्ति का प्रत्यक्ष सामर्थ्य केवल ज्ञान में है, अतएव आत्मज्ञान ही स्वयं मोक्ष अथवा अमरत्व है।

मृत्यु के विषय में लोगों में अनेक प्रकार के विलक्षण मत प्रचलित हैं। कोई यम को मृत्यु कहते हैं; वह मरण रहित है, स्व-स्वरूप में संचार करता है और जीवों की बुद्धि में लीन रहता है। कोई वैवस्वत यम को मृत्यु कहते हैं; वह पितृलोक का राज करता है, सदाचारी लोगों को अच्छी गति देता है और दुराचारी लोगों को दंड देता है। इस प्रकार मृत्यु के सम्बन्ध में अनेक मत हैं; परन्तु ये सब मिथ्या, भ्रामक और काल्पनिक हैं। सच बात तो सिर्फ यही है कि स्व-स्वरूप के विषय में अनवधानता, दुर्लक्ष या प्रमाद ही वास्तविक मृत्यु है। यह प्रमाद प्रथम अहंकार-रूप में परिणत होता है; अर्थात् जब स्व-स्वरूप का विस्मरण होता है और देहादि अनात्म वस्तुओं की ओर ध्यान आकृष्ट होता है तब उन देहादि अनात्म-वस्तुओं के सम्बन्ध में अहंभाव उत्पन्न होता है। यह अहंभाव स्व-स्वरूप-सम्बन्धी दृढ़ अज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है। जब यह अहंभाव दृढ़ हो जाता है तब वह काम-रूप से प्रकट होता है और जब इस काम (इच्छा) का किसी विषय के साथ सम्बन्ध या योग होता है तब प्रसंगानुसार उसमें से क्रोध, लोभ, मोह, शोक इत्यादि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, जब मनुष्य के मन में किसी विषय के सम्बन्ध में इच्छा उत्पन्न होती है तब वह उसकी प्राप्ति, पूर्ति या सफलता के लिए यत्न करता है; परन्तु ज्यों ही उसकी काम-पूर्ति, इच्छा की सफलता या विषय की प्राप्ति में कोई व्यत्यय, विघ्न या उपाय होता है त्यों ही उसके मन में क्रोध उत्पन्न हो जाता है; क्रोध से मोह उत्पन्न होता है और इस प्रकार विकारों की वृद्धि होते-होते अंत में

मनुष्य का नाश हो जाता है। सोचने की बात है कि स्व-स्वरूप-विषयक अज्ञान अर्थात् अहंकार रूढ़ प्रमाद मनुष्य को नष्ट और भ्रष्ट करके अत्यंत नीच दशा को कैसे घसीट ले जाता है! मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं राजा हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरा धन है, यह मेरी जमीन है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, इत्यादि अनेक प्रकार की अहंता और ममता (मैं और मेरी) के मायाजाल में फँसकर और राग-द्वेषादि विकारों के वश होकर मनुष्य स्वधर्म-प्रतिपादित मार्ग का त्याग करता है, दुराचरण का स्वीकार करता है और अंत में आत्म-स्वरूप से पराङ्-मुख रहकर नष्ट हो जाता है! दुर्गति या दुर्दशा का कारण क्या है?—वही आत्म स्वरूप-सम्बन्धी अज्ञान!

इस प्रकार जब मनुष्य प्रमाद-रूप मृत्यु के जो अहंभाव तथा तज्जन्य विकारों के रूप से प्रकट होता है—अधीन होकर मूढ़ बन जाता है—तब वह सदा चौरासी के चक्कर ही में भ्रमण करता रहता है। देह त्यागने के बाद वह इस मृत्यु-लोक को छोड़ कर, धूमादि सूक्ष्म मार्ग से परलोक में जाकर, अपने भले-बुरे कर्मों के अनुसार वहाँ कुछ समय तक रहता है और ज्यों ही कर्म-फल की समाप्ति होती है त्यों ही आकाशादि क्रम से नीचे उतर कर नूतन देह धारण करने के लिए फिर इसी मृत्यु-लोक में आ जाता है। आकाशादि जिस क्रम से वह नीचे उतरता है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।
पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नं। अन्नाद्रेता। रेतसः पुरुषः।
—तैत्तिरीयोपनिषद्।

इस मृत्युलोक में आते ही देव-रूप इन्द्रियाँ उसके चहुँ ओर एकत्र हो जाती हैं। इन्हीं इन्द्रियों की संगति से वह फिर विषयासक्त होकर मृत्यु के मुख में जा गिरता है। "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं" इस प्रकार वह जन्म और मृत्यु के चक्कर में घूमता रहता है। सारांश यह है कि आत्म-स्वरूप के अज्ञान के कारण इस

संसार की उत्पत्ति होती है और जैसे समुद्र में डूबते हुए मनुष्य को नक्रादि जन्तु दुःख देते हैं वैसे ही इस संसार-रूप समुद्र में फँसे हुए मनुष्य को रागद्वेषादि विकार अपने अधीन करके अधोगति को ले जाते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि कर्माचरण से मृत्यु का निरास होता है या नहीं। प्रवृत्ति-मार्ग में पड़े हुए जीवों के सब कर्म प्रायः फल की आकांक्षा से किये जाते हैं। इसलिए यद्यपि इस लोक में उनके शरीर का अन्त हो जाता है, तथापि वे अपने कर्मबन्धन तथा मृत्यु से मुक्त नहीं होते। इस लोक में किए हुए कर्मों के भले-बुरे फलों को भोगने के लिए उन्हें स्वर्ग-नरकादि अन्य लोकों में जाना पड़ता है। जब वहाँ उन भोगों की समाप्ति हो जाती है, तब क्षीण-पुण्य होकर वे फिर इस मृत्यु लोक में आकर देह धारण करते हैं। इस जन्म और मृत्यु का यह चक्कर सदा घूमता रहता है। अतएव वे अपने कर्मों के बन्धनों से कभी मुक्त नहीं होते—न वे मृत्यु को पार कर सकते हैं न वे अमरत्व की प्राप्ति कर सकते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि अमरत्व की प्राप्ति के लिए जिस अध्यात्म-योग की अथवा सच्चिदानन्द-रूप परमात्मा के ज्ञान की आवश्यकता है, उसका उन लोगों के हृदय में अभाव होता है। इसी से वे देहधारी मूढ़ होकर विषयोपभोगों की कामना में आसक्त होकर सदा इधर उधर घूमते रहते हैं। जैसे अन्धा मनुष्य ऊँचे, नीचे और कंटकमय स्थानों में भ्रमण करता है वैसे ही ये विवेक-रहित जीव ऊँची, नीची और दुःखमय चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं। इस अनर्थ—और दुर्दशा का कारण यही है कि उनके अन्तःकरण में विषयों के सम्बन्ध में सत्य-बुद्धि और लालसा बनी रहती है। परन्तु जो मनुष्य विषयों को असत्य मानता है उसकी इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त नहीं होती और जब इन्द्रियाँ विषयों से पराङ्मुख हो जाती हैं तब वे आप-ही-आप आत्माभिमुख होने लगती हैं। इन्द्रियों के आत्माभिमुख होते ही मोह की निवृत्ति और आत्मा का साक्षात्कार होता है। परन्तु जो लोग विषयों को सत्य मानते हैं उनकी इन्द्रियाँ सदा विषयाभिमुख रहती हैं, वे महामोह में

फँसे रहते हैं, उन्हें प्रत्यग्भूत आत्म-स्वरूप का स्मरण भी नहीं होता। शब्दादि मिथ्याभूत विषयों के संयोग से उनका मन आसक्त हो जाने के कारण वे सदा विषयों ही के चिंतन में निमग्न रहते और विषयों ही का सेवन करते रहते हैं। विषयों के उपभोग के विषयेच्छा की तृप्ति होने के बदले, घृतयुक्त अग्नि के समान, उसकी अधिकाधिक वृद्धि होती जाती है। इसके कारण मनुष्य अविद्या-कल्पित शब्दादि पाँचों विषयों से अधिकाधिक बद्ध हो जाता है—अर्थात् इस संसार के आवागमन से उसका छुटकारा कभी नहीं होता।

मनुष्य विषयों में आसक्त क्यों हो जाता है? विषय संसर्ग और विषयचिंतन ही इस आसक्ति के कारण जान पड़ते हैं। देखिए, पहले किसी विषय का इन्द्रियों के साथ संयोग होता है, तब मनुष्य उस विषय का ध्यान या चिंतन करने लगता है, निरन्तर चिंतन करते-करते उस विषय के सम्बन्ध में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्ति की दृढ़ता से काम अर्थात् इच्छा की प्रबलता होता है और उसका मन केवल विषय-रूप हो जाता है। जब मनुष्य काम के अधीन हो जाता है तब क्रोधादि अन्य विकार सहज ही उसको अपने जाल में फँसा लेते हैं। इस प्रकार विषय संयोग और विषयचिंतन के कारण मनुष्य काम, क्रोध इत्यादि विकारों के वश होकर मृत्यु-रूप खाई में जा गिरता है। परन्तु जो लोग विवेकवान् हैं वे जानते हैं कि विषय असत्य है, इसलिए वे उन विषयों से अलिप्त रहते हैं। इस बात को कदापि नहीं भूलते कि विषय अनित्य, अशुचि और दुःखमय हैं; और इसी बात के सदा उनके ध्यान में रहने के कारण वे मूढ़-जनों की नाईं विषयों के केवल दास नहीं बन जाते; किन्तु स्वतंत्र होकर वे मृत्यु को भी अपने अधीन कर लेते हैं। यथार्थ में वे स्वयं मृत्यु ही का नाश कर डालते हैं। ऐसे ही सत्पुरुषों को ज्ञानी, विद्वान्, आत्मवेत्ता या कवि कहते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि विषयानुसक्त और कामानुसारी मनुष्य की कैसी दुर्गति होती है। निरंतर विषयों का चिंतन करते-करते उस मनुष्य का विषयों के साथ अग्नि-काष्ठ के समान तादात्म्य हो जाता है।

काष्ठ का नाश होते ही जैसे तद्गत अग्नि का भी नाश हो जाता है वैसे ही विषयानुसक्त का भी जीव नश्वर विषयों की संगति से स्वयं अपना नाश कर लेता है। परन्तु जो मनुष्य अपने विवेक से विषयासक्ति का नाश कर डालता है वह अपने सब कर्मों के फलों से मुक्त हो जाता है। वह इस जन्म में या पूर्व-जन्म में किये हुए अपने पुण्य-पापादि सब कर्मों का उच्छेद करके स्वतंत्र और दुःखातीत हो जाता है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो सब लोगों को स्वीकार करना पड़ेगा कि यह देह अविद्या-कल्पित तथा केवल नरक-पात्र ही है। जिस पर भी मूढ़-जन इसी देह को अत्यन्त सुन्दर और मनोहर मान कर उसकी आसक्ति में फँस जाते हैं! और अन्त में दुर्गति-रूप फल भोगना पड़ता है! इसमें संदेह नहीं कि जो लोग स्त्रियादिकों को देह के विषय में सुख मान कर सदा उन्हीं का ध्यान किया करते हैं और विषयोपभोग के अतिरिक्त स्वात्मभूत परमात्मा को नहीं जानते अथवा जिस अध्यात्म-विद्या से उसका ज्ञान प्राप्त होता है उसकी ओर कुछ ध्यान नहीं देते वे अपने अमूल्य जीवन का वृथा नाश करते हैं। ऐसे विषयासक्त मनुष्यों का अन्तरात्मा क्रोध, मोह, लोभ, भय इत्यादि विकारों से ग्रसित होने के कारण वही अन्तरात्मा उनके लिए मृत्यु रूप हो जाता है। यही कारण है कि काम-क्रोधादि विकारों से ग्रसित मनुष्य के हृदय में मृत्यु की मूर्ति सदा जागृत रहती है। अतएव मुमुक्षु जनों को उचित है कि वे इस बात को सदैव ध्यान में रक्खें कि काम-क्रोधादि विकारों के रूप से प्रकट होनेवाला और जीवों को जन्म-मरण-रूप अनर्थकारी परंपरा में ढकेलनेवाला प्रमाद ही अपनी मृत्यु है। जब वे उक्त बात को सदैव ध्यान में रक्खेंगे तब वे निस्सन्देह काम-क्रोधादि विकारों का त्याग करके सच्चिदानंद-रूप आत्म-स्थिति में रहने का यत्न करेंगे। ऐसा करने से उन्हें मृत्यु का भय न रहेगा। इतना ही नहीं; किन्तु वे मृत्यु ही का नाश कर सकेंगे।

इस बात का उल्लेख पहले किया गया है कि कर्म-मार्ग केवल परंपरा से अर्थात् अप्रत्यक्ष-रीति से मोक्ष-प्राप्ति के लिए सहायक है। इसी दृष्टि से वेदों ने यह प्रतिपादन किया है कि कर्म-द्वारा सुख और मोक्ष की प्राप्ति

होती है। परन्तु अज्ञानी-जन वेदों के यथार्थ तात्पर्य की ओर ध्यान नहीं देते। वे लोग कर्म अथवा उपासना ही को अपने जीवन की इति-कर्तव्यता मान कर उन्हीं की प्रधानता स्थापित करने लगते हैं। स्मरण रहे कि कर्म अथवा उपासना में साक्षात् मुक्तिहेतुत्व नहीं है—उनमें केवल क्रम-मुक्तित्व है—इसलिए ज्ञानी लोग उन मार्गों का अवलंबन नहीं करते; किन्तु अध्यात्मयोग के आधार पर 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके वे स्वयं परमात्म-रूप हो जाते हैं और फिर इस संसार के जन्म-मरण-रूप चक्कर में नहीं आते। वेदों ने कर्म और उपासना की बड़ाई इसलिए गाई है कि लोग उन मार्गों का अवलम्बन करके अपनी इन्द्रियों को विषयों से पराङ्मुख करें, ताकि चित्त की शुद्धि होकर अध्यात्म-योग द्वारा आत्म-साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त हो जाय। वेदों का मुख्य लक्ष्य मोक्ष अथवा अमरत्व की प्राप्ति ही की ओर है। वेदों ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्म-व्यतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है वह सब अनित्य, अशुद्ध और दुःखमय है, इसलिए इसमें से कुछ भी 'पुरुषार्थ' संज्ञा का पात्र नहीं हो सकता। अतएव वेद परम पुरुषार्थ-रूप, परम पुरुषार्थ-साधक और परम पुरुषार्थ-प्रतिपादक होने के कारण मोक्ष अथवा अमरत्व की प्राप्ति के लिए वह आधारभूत और प्रमाण-भूत हैं।

आत्म-प्राप्ति के लिए जिस चित्त-शुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है उसका अभ्यास मुमुक्षु जनों और साधक पुरुषों को दृढ़ निश्चय और धीरता से समय तक करना चाहिए। सबसे पहला और कठिन काम यह है कि जिस मन रूप अन्तरिन्द्रिय में अनुकूल और प्रतिकूल संकल्प-विकल्पात्मक अनेक प्रकार की लहरें प्रतिक्षण उठती रहती हैं उसको निश्चय-रूप बुद्धि के स्थान में लीन करना चाहिए। अर्थात् विषयों की संगति से मन में जो चंचलता सदैव उत्पन्न हुआ करती है, उसका नाश करके मन को अन्तर्मुख करना चाहिए और उसमें निश्चय-रूप स्थिरता तथा दृढ़ता लानी चाहिए। इस प्रकार जब मन की चंचलता नष्ट हो जायगी और निश्चयात्मक बुद्धि का उदय होगा तब समझना चाहिए कि आत्म-प्राप्ति का प्रथम साधन हस्त-

गत हुआ। जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक सब साधन निष्फल होते हैं। आत्मा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बिना अखंडित चिंतन के प्राप्त हो जाय; इसलिए जब तक मन विषयों में निमग्न रहकर विषयों ही के आघात से इधर उधर भटकता रहता है तब तक अन्तःकरण में चित्त का ऐसा प्रवाह कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता जो आत्मा के अखंडित चिंतन के लिए उपयोगी हो और निरन्तर इसी एक कार्य में लगा रहे। अतएव सब से पहले निश्चयात्मक बुद्धि-रूप देवी के सम्मुख इस मन-रूपी अन्तरिन्द्रिय का बलिदान अर्पण करके उसको प्रसन्न करना चाहिए। जब यह बुद्धि-रूप देवी प्रसादोन्मुख होगी तभी उसमें आत्मा के विषय में अखंडित चिंतन करने की शक्ति उत्पन्न होगी और जब यह शक्ति प्राप्त हो जायगी तभी समझना चाहिए कि हमारे अन्तःकरण या चित्त की शुद्धि हुई।

ऊपर यह कहा गया है कि साधक पुरुष को 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके स्वयं परमात्म-रूप हो जाना चाहिए। इस पर यह शंका की जा सकती है कि परमात्मा स्वतन्त्र और जन्म मरणादि विकार-रहित है और यह जीव आकाशादि-क्रम से जन्म-मरण-रूप संसार में घूमने वाला तथा कर्माधीन है, इसके अतिरिक्त परमात्मा क्लेश-रहित है और सदा दुःख से पीड़ित रहता है। ऐसी अवस्था में अर्थात् परमात्मा और जीव में इतनी बड़ी भिन्नता होने पर भी यह कैसे कहा जाय कि यह जीव परमात्मा ही है! इस शंका का समाधान इस तरह किया जाता है—वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा में कुछ भेद नहीं है। श्रुतियों में स्पष्ट कहा है कि जो जीवात्मा और परमात्मा में भेद मानता है उसको महापातकी समझना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि जीव और परमात्मा वास्तविक एक-रूप हैं; परन्तु अनादि माया-रूप उपाधि के कारण जीव भिन्न-रूप से प्रतीत होता है और इसी उपाधि के कारण वह अनेक प्रकार के सुख-दुख भोगता हुआ संसार के चक्कर में पड़ा रहता है। उदाहरणार्थ, जब भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तन जल से भरकर रक्खे जाते हैं तब उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के चन्द्रबिंब देख पड़ते हैं और जब वायु के कारण

उन पात्रों का जल प्रचलित होता है तब वे बिंब भी हिलने लगते हैं। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है कि यद्यपि जल-पात्रों की भिन्नता के कारण उनमें प्रतिबिंबित चन्द्र के भिन्न-भिन्न आकार देख पड़ते हैं तथापि आकाशस्थ मूल चन्द्रमा में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती—वह ज्यों का त्यों एक-रूप बना रहता है; और यद्यपि जल के हिलने से चन्द्रबिंब भी हिलते हुए देख पड़ते हैं तथापि उन बिंबों के आधार-भूत मूल चंद्रमा में किसी प्रकार की गति उत्पन्न नहीं होती—वह ज्यों का त्यों निर्विकार बना रहता है। इसी तरह यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है कि माया रूप उपाधि के कारण यद्यपि परमात्मा के एक और सच्चिदानन्द-स्वरूप में जीव-रूप से अनेकता और दुःखात्मकता प्रतीत होती है, तथापि उनके अर्थात् जीव-भाव से प्रतीत होनेवाली अनेकता दुःखात्मकता के कारण परमात्मा के मूल-स्वरूप में अर्थात् उसकी अद्वितीयता और दुःख-राहित्य में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, माया परमात्मा की अनादि-सिद्ध शक्ति है। इसी के योग से परमात्मा विश्व की रचना करता है; अथवा यह कहिए कि स्वयं परमात्मा कुछ नहीं करता, किंतु उसकी माया-शक्ति ही से सारा जगत् उत्पन्न होता है। यह माया केवल परमेश्वर ही के आश्रय में रहती है—वह उससे भिन्न नहीं हो सकती। मायोपाधि-कृत अनेकता का स्वीकार करने से परमेश्वर का सामर्थ्य कुछ घट नहीं जाता और न जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता में कोई बाधा हो सकती है।

आत्मा का यथार्थ ज्ञान संपादन करना प्रत्येक मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है। आत्मा अत्यंत सूक्ष्म, अचल, शुद्ध और सच्चिदानन्दरूप है। जो मनुष्य यथार्थ ज्ञान-दृष्टि से आत्मा को नहीं जानता किंतु भ्रम या अज्ञान-वश होकर उसको कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी, स्थूल, कृश, अमुक का पिता, अमुक का पुत्र, अमुक की स्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार का समझता है वह बड़ा अपराधी है। अतएव विचारवान् मनुष्य यह जान कर कि देहेन्द्रियादि सब अनात्मवस्तु हैं, केवल परमात्मा में लीन होकर रहता है। जो मनुष्य देहेन्द्रियादि

आत्म-भाव से ग्रहण नहीं करता वह पहले इस संसार के दुःख से मुक्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि उसके अंतःकरण में काम क्रोधादि विकार उत्पन्न नहीं होते। तीसरी बात यह है कि वह अमरत्व को पहुँच जाता है। अन्तिम और सब से श्रेष्ठ लाभ यह है कि आत्म-प्राप्ति के लिए उसको इधर उधर कहीं भटकना नहीं पड़ता। यदि कोई ज्ञान-प्राप्ति के हेतु से एक ही स्थान में बैठा रहे और गुरूपदिष्ट मार्ग से केवल वेदों का परिशीलन करे तथा वेद प्रतिपादित अध्यारोप और अपवाद नामक पद्धतियों से क्रमशः चिंतन करता रहे, तो कुछ समय में उसका ज्ञान परिपक्व हो जायगा और अपने स्थान में बैठे-ही-बैठे उसको अमरत्व की प्राप्ति हो जायगी।

आत्मज्ञानी पुरुष अध्यात्म-योग-द्वारा जिस परमात्मा का अनुभव अपने हृदय कमल में करते हैं वह केवल शुद्ध-स्वरूप अर्थात् अविद्यादि दोषों से रहित है और वही सब वस्तुओं का प्रकाशक होने के कारण स्वयं ज्योतिः स्वरूप है। इस अध्यात्म-योग की सिद्धि के लिए योगशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। अन्य सब शास्त्र वाणी के केवल विकार हैं, परन्तु योगशास्त्र यशस्य है अर्थात् यशो-रूप ब्रह्म की प्राप्ति करा देनेवाला है। ज्ञानीजनों का यही कथन है कि सब कुछ योगाधीन है और जो इस रहस्य को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। यद्यपि जरा और मृत्यु देह के धर्म हैं तथापि योगशास्त्र का कटाक्ष ऐसे ही मार्गों के अवलम्बन की ओर देख पड़ता है जिनके द्वारा यह देह उक्त धर्मों से निर्मुक्त किया जा सके। हमारा मानवी जीवन सर्वथा हमारे वीर्य (शुक्र अथवा रेतस) पर अवलंबित है और यह वीर्य हमारे चित्त पर अवलंबित रहता है। अतएव जिन-जिन उपायों से शुक्र और मन की रक्षा होगी उन्हीं की ओर योगी जनों को सदा ध्यान देना चाहिए। वायु की स्थिरता, मन की स्थिरता और बिंदु की स्थिरता के संपादन करने की ओर योगशास्त्र का बहुत रुख देख पड़ता है। प्राण ही शरीर-रक्षा का मुख्य आधार है। उसको अपने अधीन कर लेने के लिए नियमित आहार-विहार और एकान्त-वास की बहुत आवश्यकता है। इसी तरह मन की अन्तर्मुखता सिद्ध

करके शुक्र की तेजस्विता प्राप्त करनी चाहिए इस विषय में निम्न प्रमाण-वचन अत्यंत महत्त्व के हैं:—

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्मात् शुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥
मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ।
बिंदुस्थैर्ये सदा सत्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥
सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ।
यावद् बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालं भयं कुतः ॥
एवं संरक्षयेद् बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥

—हठयोगप्रदीपिका ।

इसका भावार्थः—मनुष्यों का शुक्र (वीर्य) केवल मन के अधीन रहता है और मनुष्यों का जीवन केवल शुक्र पर अवलंबित रहता है । इसलिए हर प्रयत्न से शुक्र और मन की रक्षा करनी चाहिए । मन की स्थिरता से प्राण-वायु स्थिर हो जाता है । और प्राण-वायु की स्थिरता से बिंदु की स्थिरता हो जाती है । जब बिंदु स्थिर हो जाता है तब अपने शरीर में बल उत्पन्न होता है और बहुत स्थिरता आ जाती है । उस समय मनुष्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भय नहीं होता । अतएव योगीजन अपने बिंदु की रक्षा करके मृत्यु को जीत लेते हैं । सारांश यह है कि बिंदुपात ही को मृत्यु और बिंदु की स्थिरता ही को अमरत्व जानना चाहिए । अस्तु ।

अब सनत्सुजात के शांकरभाष्य के आरम्भ में जो उपोद्घातरूप निरूपण है उसका संक्षेप में उल्लेख करके यह प्रकरण पूरा किया जायगा । वस्तुतः यह जीव सच्चिदानन्द-रूप अद्वितीय और केवल परब्रह्म ही है; परन्तु उसके साथ रहनेवाली अविद्या के कारण यह जीव अपने स्वाभाविक ब्रह्म-स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है और देहेन्द्रियादि अनेक नश्वर पदार्थों में आत्मत्व मानने लगता है । इसका परिणाम यह होता ही नहीं; किन्तु अनेक प्रकार के अनर्थों का बोझा भर उसके मस्तक पर लद जाता है !

ऐसी दशा में वह लौकिक या वैदिक उपायों की योजना करने लगता है; परन्तु इन सब उपायों में अविद्या, वासना और सकाम-कर्म ही की कल्पना प्रधान होती है, इसलिए उसको परम-पुरुषार्थ-रूप मोक्ष अथवा अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु राग-द्वेषादि शत्रु उसको जन्म-मरण-रूप भव-सागर में ढकेल देते हैं। तब वह भँवर में गिरी हुई वस्तु के समान घबड़ाता हुआ देव, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि अनेक योनियों में बार-बार भ्रमण करता रहता है। यदि उसके पास कुछ पुण्य का संग्रह हो तो उक्त प्रकार की भ्रमणावस्था ही में वह कुछ विचार-पूर्वक आचरण करने लगता है और तब वह काम्य-कर्मों की वाञ्छा का त्याग करके वेदाज्ञा के अनुसार केवल ईश्वरार्पण-बुद्धि से विहितानुष्ठान करने में प्रवृत्त हो जाता है। इस अनुष्ठान के बल से उसकी रागद्वेषादि मलिनता नष्ट हो जाती है और आन्तरिक दृष्टि शुद्ध होती है। भोग्य-विषयों की क्षणभंगुरता उसके ध्यान में आ जाती है और वह ऐहिक तथा पारलौकिक उपभोगों के विषय में उदासीन हो जाता है। अनन्तर उसके अन्तः-करण में उपनिषत्प्रतिपादित जीवात्मा के ब्रह्मभाव का अनुभव करने की विविदिषा उत्पन्न होती है और वह निवृत्ति-मार्ग का स्वीकार करके, शम-दमादि साधन-सम्पन्न होकर, ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरणागत होता है। गुरु के उपदेशानुसार श्रवण-मननादि मार्गों से उसको अपने ब्रह्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। तब अविद्या का तथा उसके सब कर्मों का नाश हो जाता है और वह केवल ब्रह्म-रूप हो जाता है। सारांश यह है कि वह अपने कर्तव्य की परम सीमा को पहुँच कर अमर हो जाता है।

समाप्त